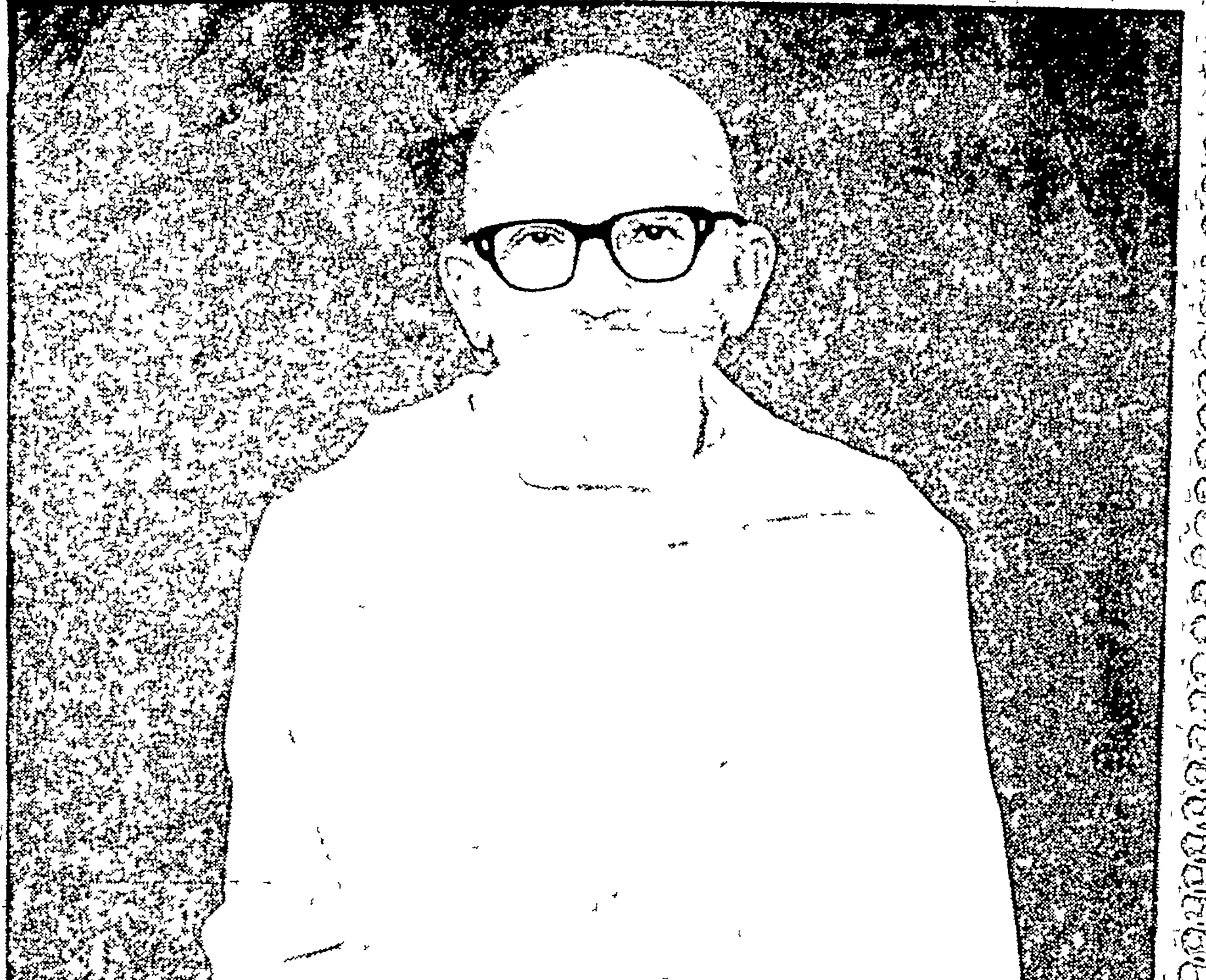
प्रकाशन	वि० स० २०३० वैशाख शुक्ला १० मई १२, १९७३
प्रकाशक	मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति ब्यावर (राजस्थान)
मुद्रण	सजय साहित्य सगम के लिए श्री रामनारायन मेडतवाल श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा–२
मूल्य	१५/ रुपये मात्र

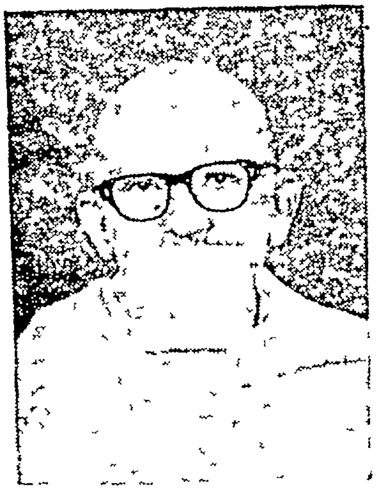
प्राप्ति-स्थान

मुनिश्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन

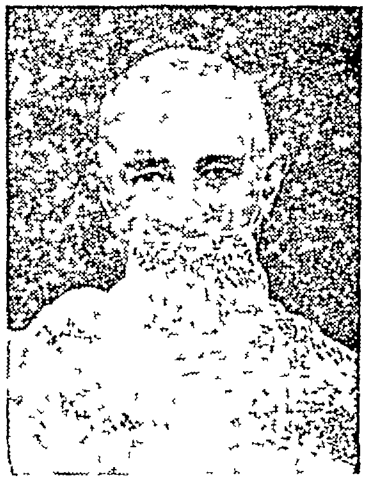
पिपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)



समर्पण



स्वामीजी श्री व्रजलालजी

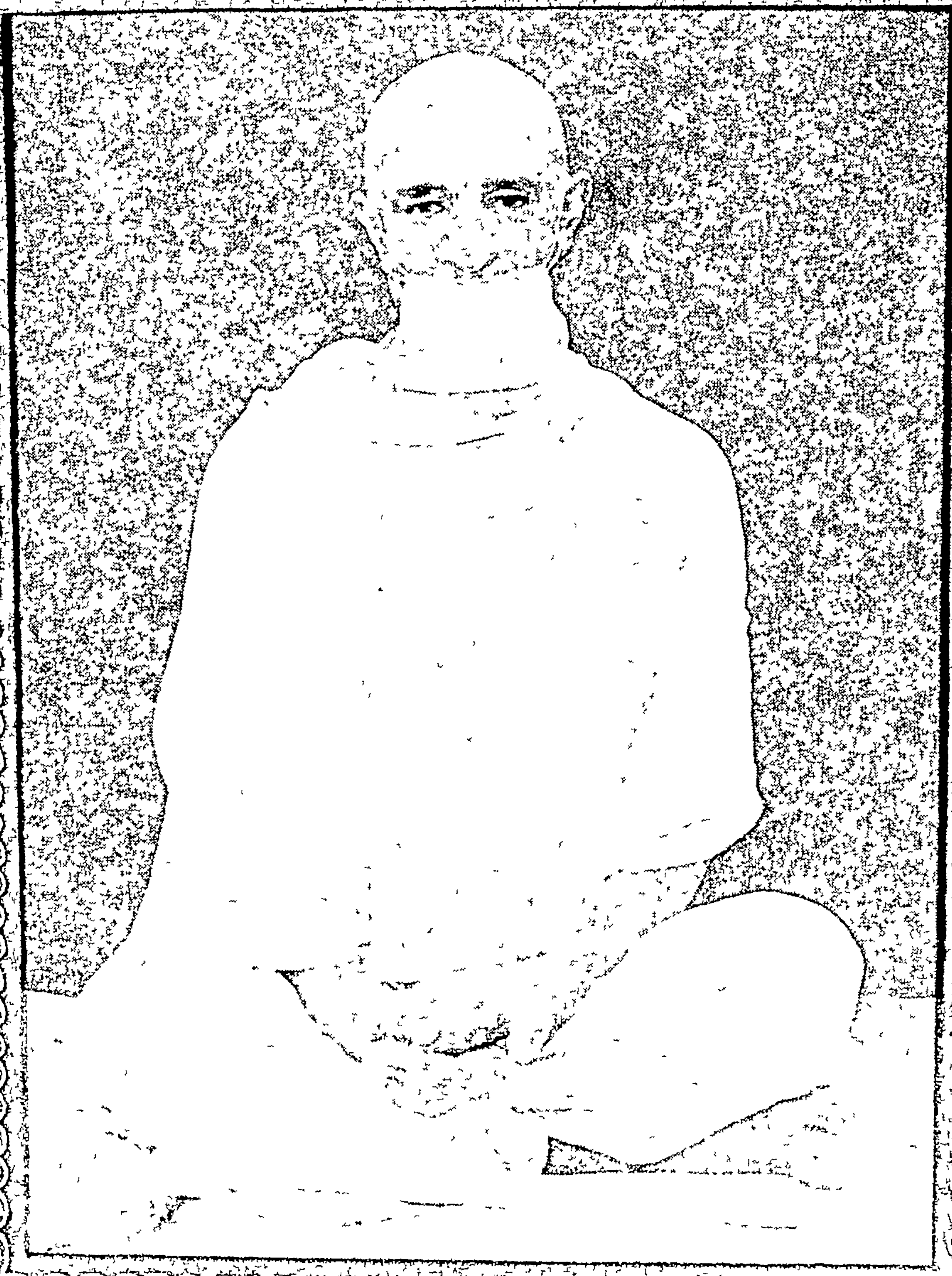


श्री मधुकर मुनिजी

जैसे फूलो मे सुवास,
इसीप्रकार
जिनके जीवन के कण-कण मे रमी है,
सरलता, समता और सेवा भावना,
उन
दीक्षास्थविर स्वामीजी श्री व्रजलालजी
एव
जैसे मिश्री मे मिठास,
इसीप्रकार
जिनके जीवन के कण-कण मे व्याप्त है
मधुरता, मनीषिता और मृदुता
उन
श्रुत-स्थविर मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर'
के
पवित्र कर कमलो मे

—विनीत

—चांदमल चौपड़ा



सम्पादकीय



नदीसूत्र के चूर्णिकार आचार्य जिनदास महत्तर ने कहा है—

विविहकुलुप्पण्णा साहवो कप्परूक्खा—

साधुजन—विविध कुलो मे उत्पन्न हुए धरती के जगम कल्पवृक्ष है। वास्तव मे मानवता के लिए कल्पवृक्ष से भी अधिक वरदायी और महिमामय है—साधुजन ! साधुता का कोई एक निश्चित वेश नही, देश नही, एक परिवेश नही, उसका सिर्फ एक उन्मेष है—अन्तश्चेतना का स्फुरण, एक सदेश है—जीवन की दिव्यता का दर्शन ! साधुता अपने इसी भाव मे सदा सार्थक होती रही है।

भारतीय संस्कृति सतो की सस्कृति रही है। श्रमणसस्कृति का हृदय तो सत ही है, 'सत' मे ही जैनसस्कृति के प्राण प्रतिष्ठित हैं। सस्कृति की प्रतिष्ठा, प्रसार और पल्लवन के लिए 'सत' की प्रतिष्ठा, वन्दना, अभिनन्दना, भारतीय जीवन मे सदा-सदा से होती आई है, आज भी यह निर्मल-धारा अजस्ररूप मे प्रवहमान है। भारत का श्रद्धासिक्त मन जब सत के महनीय उपकारो से उसकी असीम करुणा से उपकृत होता है, तो वह विनत हो जाता है, कृतज्ञता के भाव सहज ही बाहर फूट पडते हैं—सत की वदना, अभिनन्दना, स्तवना के रूप मे।

प्रस्तुत मुनिद्वय अभिनन्दनग्रन्थ, इसी निर्मल, पवित्र कृतज्ञता का सात्विक प्रकाशन है, एक सास्कृतिक उपक्रम है—सत के प्रति श्रद्धाभिव्यजना का। सत स्वय इस उपक्रम से अलिप्त है, पर श्रद्धालुजनो की श्रद्धा भरी मनुहार उन्हे किसी न किसी रूप मे अपने केन्द्र से जोड लेती है।

इस वर्ष दीवाली के कुछ दिन पूर्व एकदिन अचानक ब्यावर से टेलीफोन पर सवाद मिला—"मैं चादमल चौपडा बोल रहा हू। हम मुनि श्री ब्रजलालजी महाराज एव श्री मधुकर मुनिजी महाराज का अभिनन्दन समारोह करना चाहते है। विचार विमर्श हेतु हम लोग शीघ्र ही मिलना चाहते हैं।"

मैं जानता था—श्री चौपडाजी एक भावनाशील कर्मठ कार्यकर्ता है, उक्त मुनिद्वय के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील भी ! यह भी ज्ञात था कि वे विगत अनेक वर्षो से इस प्रकार के आयोजन की मधुर

कल्पना सजोए हुए हैं, वे वार-वार मुनिद्वय से इस स्वीकरण के लिए आग्रह करते आए हैं, किन्तु सतो का नकारात्मक उत्तर उनकी कल्पना के पर नही लगने देता था।

श्री चौपडाजी से पत्र व्यवहार हुआ, साक्षात् विचार चर्चा हुई और यह निश्चय हुआ कि इस वर्ष व्यावर श्री सघ के सान्निध्य मे मुनिद्वय को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करना ही है। अभिनन्द समारोह के अन्य भी अनेक आध्यात्मिक कार्यक्रम निश्चित हुए, पर मेरा सम्बन्ध सिर्फ इस साहित्यिक आयोजन—'अभिनन्दन ग्रन्थ' से ही जुडा। ४-५ मास के अत्यल्प समय मे अभिनन्दन ग्रन्थ की तैयारी करना और प्रकाशित कर परिपूर्ण रूप प्रदान कर देना—बहुत कठिन था। पर, मुनिद्वय के प्रति मेरी प्रवुद्ध श्रद्धा, एव श्री चौपडाजी का उत्साहपूर्ण सहयोग, प्रेरणा तथा चमत्कारी क्रियाशीलता मे मुझ इस कार्य मे सतत वल व गति प्राप्त होती रही।

तथागत वुद्ध के विषय मे प्रसिद्ध है कि एक वार भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए किसी राजपथ से वे गुजरे तो धूल मे खेलते हुए एक वालक ने मुट्ठी भर धूल उठाई और तथागत के भिक्षा पात्र की ओर हाथ वढाया। तथागत ने पात्र सामने कर उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लिया। वडे-वडे श्रेष्ठि और श्रीमत लोग चकित व क्रुद्ध थे—यह क्या? तथागत के पात्र मे—धूल! तभी वुद्ध ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम लोग वस्तु का नही भाव का मूल्य आको! इस वालक की सहज श्रद्धा व देने की वृत्ति का महत्व समझो, श्रद्धा पूर्ण समर्पण के इन सस्कारो को कुचलो मत, इन्हे पल्लवित होने दो।"

श्रमण भगवान महावीर ने चदना के वासी वाकले स्वीकार किये—क्योकि वे भक्ति व श्रद्धा के मधुर रस से तरोताजा थे। वस्तु का नही, श्रद्धार्पण का मूल्य था वहा! अपनी रुचि व आवश्यकता का प्रश्न वहा नही था, प्रश्न था सिर्फ भक्ति, श्रद्धा और समर्पण के कोमल-सस्कारो को सवर्धन देना! प्रोत्साहन देना।"

मुझे लगता है, मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर' ने इस अभिनन्दन ग्रन्थ को सिर्फ इसी दृष्टि से स्वीकार करने का भाव व्यक्त किया है, इकरार के साथ इन्कार भी जुडा था—"ग्रन्थ वहुत वडा न हो, समारोह अधिक आडम्वर पूर्ण न हो,'

मुनि श्री की उक्त दृष्टि को निर्देश मानकर हमने ग्रन्थ का आकार भी छोटा रखा और क्षेत्र भी सीमित! प्रश्न तो अव श्रद्धार्पण का ही रहा, श्रद्धा-प्रदर्शन का नही, अत पिछले दशक मे प्रकाशित हुए अनेक स्मृतिग्रन्थ व अभिनन्दनग्रन्थो की तुलना मे यह **'मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ'** कलेवर की दृष्टि से लघु व विषय वस्तु की दृष्टि से भी सीमित-सा प्रतीत होगा—किन्तु यह जानवूझ कर किया गया है। पूर्व प्रकाशित विषयवस्तु व शैली की पुनरावृत्ति करने से कोई लाभ नही, फिर अव तक के ग्रन्थो मे विद्वद्भोग्य सामग्री को अधिक स्थान दिया गया, जवकि हमारी दृष्टि अभिनन्दन ग्रन्थ को भी जन-भोग्य वनाने की रही। अभिनन्दन ग्रन्थ मात्र पुस्तकालयो का अलकार वनकर न रहे, किन्तु पाठको के हाथो मे भी शोभित हो, यह ध्यान रखा गया है।

हमारी कल्पना थी—'इस अभिनन्दन ग्रन्थ को 'जैन एकता' का एक सेतु वनाया जाय।' समस्त जैन सम्प्रदायो की आचार-विचार—परम्परा की व्यवस्थित व प्रामाणिक जानकारी अधिकृत विद्वानो द्वारा प्रस्तुत हो तो प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए यह पठनीय एव सग्रहणीय सामग्री वन पडती।

किन्तु खेद का विषय है कि तत् तत् सम्प्रदायो के अधिकारी विद्वानो ने ऐसी सामग्री भेजने मे उदासीनता दिखाई और अनधिकृत लेख आदि देने से न देना ही ठीक समझा। इस कारण तृतीय खण्ड अपेक्षाकृत कुछ छोटा ही बन पडा है, फिर भी सम्पूर्ण ग्रन्थ मे इस बात का ध्यान रखा गया है, कि जो भी सामग्री ली जाय, वह मौलिक, विचार पूर्ण एव नवीन हो। कुछ लेख स्थानाभाव के कारण तथा कुछ विषय वस्तु की असगति के कारण हमे लौटाने भी पडे, इसके लिए उन लेखक बधुओ से मैं सविनय क्षमा चाहता हू।

इस सम्पादन कार्य मे श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री का अशातीत सहयोग-सहकार मिला, उनके सद्प्रयत्नो व प्रेरणाओ से अनेक महत्वपूर्ण लेख प्राप्त हुए। महासती उमरावकवरजी ने अस्वस्थ होते हुए भी जितना कुछ सहयोग किया वह बहुत मूल्यवान है। समय अल्प होने से अनेक विद्वानो के लेख आश्वासन मिलने पर भी प्राप्त नही हो सके, कुछ विलम्ब से प्राप्त हुए किन्तु फिर भी प्रबुद्ध विद्वानो ने, मुनिवरो ने, उदारतापूर्वक जो सदेश, सस्मरण, गवेषणापूर्ण लेख आदि भेजकर ग्रन्थ के अन्तरग—श्री—सौन्दर्य को उत्कृष्ट बनाया, उसके लिए मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हू। और विशेष कृतज्ञ हू सयोजक बन्धुओ का, जिन्होंने सामग्री एकत्र करने मे, पत्रव्यवहार आदि मे पूर्ण श्रम व अपने साधनो का उपयोग कर सम्पादन कार्य को सुगम बनाया। इन समस्त-कृतज्ञताओ से विनत मैं अपने इस प्रयत्न को मुनिद्वय की पुनीत सेवा मे समर्पित कर देना चाहता हू—

जो कुछ सुना है, समझा है,
और कुछ सीखा है, तो तुमसे यही—
कि काम करते जाओ मगर
ऐसे रहो, कि किया कुछ भी नहीं।

आगरा
महावीर जयती

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

※ ※



श्रीमान सेठ हीरालाल जी चौपड़ा

हमारे प्रेरणा-स्रोत

घटना वि० स० २०१६ की है। मेरे पिताजी श्रीमान हीरालालजी साहव चौपडा को मदार के अस्पताल मे चिकित्सा के लिए ले गये। वहा के प्रमुख चिकित्सक थे डा० भट्ट, जो बडे ही सात्विक-वृत्ति के सेवाभावी डॉक्टर थे। छ महीने तक चिकित्सा करने पर भी जव विशेष सुधार नही हुआ तो डॉक्टर ने आप्रेशन करने का निश्चय किया। वडी तैयारी व सावधानी के साथ आप्रेशन भी हुआ। आप्रेशन के परिणाम को देखकर डॉक्टर का चेहरा उदास हो गया। एक गहरी निराशा लिए वे वाहर आये। डॉक्टर के निराशा-पूर्ण चेहरे को देखकर हम सवका दिल धडकने लगा, लडखडाती जवान मे हमने जैसे ही पूछा—डॉक्टर ने गम्भीर निराशा के साथ कहा—अव कोई उपाय हमारे हाथ मे नही रहा, सिर्फ उस (ईश्वर) की मर्जी ही कुछ कर सकती है।

उस समय गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज अस्वस्थता के कारण अजमेर विराज रहे थे। अजमेर से मदार करीव ५ मील दूर होते हुए भी आप्रेशन के अवसर पर पूज्य गुरुदेव ने स्वामी जी श्री व्रजलालजी महाराज एव श्री मधुकर मुनिजी महाराज को पिताजी को दर्शन देने मदार भेजा।

डॉक्टरो का निराशापूर्ण जवाव पाकर सभी के हाथ-पैर गल गये थे। तव हमने स्वामीजी श्री से पिताजी को मगलपाठ सुनाने की प्रार्थना की, अन्तिम समय मे धर्म एव प्रभुस्मरण ही एक महान् सम्बल होता है।

स्वामीजी ने पिताजी को मगलपाठ सुनाया कुछ स्तोत्र व आगमो की गाथाए सुनाई। डॉक्टर भी वही उपस्थित थे। सुनते-सुनते पिताजी के चेहरे पर कुछ प्रसन्नता और शान्ति-सी झलकने लगी। डाक्टर ने यह प्रसन्नता उनके चेहरे पर इतने दिनो मे पहली वार देखी थी।

स्वामीजी मागलिक सुनाकर वापस अजमेर पधार गये। पिताजी की हालत क्रमश सुधरने लगी। दिनभर व रात को भी वे काफी शाति का अनुभव कर रहे थे। डॉक्टर के लिए और हम सब के लिए यह एक चमत्कार था। धर्म को अधविश्वास माननेवाले डॉक्टर को भी दूसरे दिन कहना पडा—'इनकी चिकित्सा के लिए आज फिर स्वामीजी को ही बुलाइये। उनके आशीर्वाद से ही अब ये स्वस्थ होगे।"

स्वामीजी से पुन पधारने की प्रार्थना की, पधारे और मागलिक आदि सुनाये। निराशा के अन्तिम छोर पर पहुचा जीवन वापस लौट आया। कुछ दिनो के बाद पिताजी पूर्ण स्वस्थ हो गये और ब्यावर आगए।

धर्म एव गुरुजनो के प्रति मेरे मन मे पहले से ही श्रद्धा थी। लेकिन इस घटना के बाद तो मेरा भावनाशील हृदय सतजनो के प्रति, विशेषकर स्वर्गीय स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज एव श्री व्रजलालजी महाराज एव श्री मधुकरजी महाराज के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील होगया। वास्तव मे मैंने अपने जीवन मे धर्म का यह एक चमत्कार साक्षात् देख लिया था।

मेरे पिताजी प्रारम्भ से ही अत्यन्त धार्मिक व सादगीपूर्ण जीवन जीते रहे हैं। सादा, सयम-मय जीवन, निश्छल प्रेमपूर्ण व्यवहार, आहार-व्यवहार मे पूर्ण सयम, सब साधन सुलभ होते हुए भी भोजन, वस्त्र आदि की मर्यादा—यह उनके जीवन का जीवत आदर्श है। व बहुत कम बोलते है, बोलते हैं वह भी तोलकर, विचारकर। घर मे रहते हुए भी वैरागी जैसा जीवन जीते हैं। उनके जीवन की ये धार्मिक-वृत्तिया हमारे पूरे परिवार के लिए आदर्श है, प्रेरणा स्रोत है।

स्वर्गीय श्री ताराचन्दजी चौपडा के दो पुत्र थे—श्री गुलाबचन्दजी एवं श्री हीरालालजी (जन्म तिथि वि० स० १९६७ पौषसुदी ३) हीरालालजी के हम पाच सन्तान हैं—तीन भाई श्री पन्नालाल जी, मैं (चादमल) और श्री रूपचन्दजी। दो पुत्रिया है—कमलादेवी एव शातिदेवी।

पिताजी धार्मिक जीवन जीते हुए भी आज अपने व्यवसाय आदि को ठीक प्रकार देखते है और विशेपकर ईमानदारी, नीति और शुद्ध व्यवहार की शिक्षा हमे देते रहते हैं। आपके द्वारा निर्दिष्ट आज निम्न फर्म व्यापार व्यवसाय मे सलग्न है—

१ हीरालाल पन्नालाल चौपडा, गोटावाला, कपड़ा बाजार, ब्यावर
२ हीरालाल पन्नालाल चौपडा एड कपनी,
(वेजीटेबल एव सुगर का व्यवसाय) पाली बाजार ब्यावर
३. चौपडा फैंसी स्टोर, पाली बाजार, ब्यावर
४ पन्नालाल प्रेमचन्द चौपड़ा, गोटेवाला, नयाबाजार, अजमेर

धर्म, समाज-हित एव साहित्यिक कार्यों मे समय व अर्थ का सदुपयोग करने की मूल प्रेरणा मेरे पूज्य पिताजी की ही देन है, अत किसी भी सत्कार्य मे उनके उपकारो का स्मरण सहज ही हो आता है। वास्तव मे हम सभी भाई पूज्य पिताजी को अपने जीवन के प्रेरणा-स्रोत मानते हैं।

विनीत

—**पन्नालाल, चांदमल, रूपचंद चौपड़ा**

संयोजकीय

राजस्थान की स्थानकवासी जैन-परम्परा मे आचार्य श्री रुघनाथजी एव आचार्य श्री जयमलजी दो महान् ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं। दोनो ही बडे प्रभावशाली, तपस्वी एव जैन श्रुत वाड्मय के गहन अभ्यासी थे। राजस्थान के अधिकाश क्षेत्रो मे आज इन्ही दो आचार्यों की परम्परा का श्रमण परिवार फैला हुआ है।

आचार्य श्री जयमलजी महाराज की परम्परा मे स्वर्गीय स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज, स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज महान् प्रभावशाली, तेजस्वी एव वर्चस्वी सत हुए हैं। आज उनके प्रतिनिधि हैं—स्वामीजी श्री व्रजलालजी एव मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर।'

श्री मधुकर मुनिजी जितने विद्वान्, विचारक है, उतने ही गहरे शातिप्रिय, आत्मनिष्ठ एव निस्पृहवृत्ति के सत हैं। यश एव कीर्ति की लिप्सा तो उन्हे छू भी नही गयी है, वल्कि कहना चाहिए वे मान-सम्मान पूजा-प्रतिष्ठा आदि लोकषणाओ से सदा कतराते-से रहे हैं। उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्वामी श्री व्रजलालजी तो और भी उदासीन-निस्पृहवृत्ति वाले श्रमण है। ऐसे सतो का 'अभिनन्दन-समारोह' एक वडा विचित्र प्रश्न है, और विचित्र से भी अधिक कठिन!

मुनिद्वय के अनेक श्रद्धालुजनो तथा मुझ जैसे भावनाशील व्यक्तियो के अन्तरमन मे एक कल्पना थी कि मुनिद्वय द्वारा की गई जिनशासन की सेवाओ तथा सुदीर्घ निर्मल-चारित्र पर्याय के उपलक्ष्य मे हम उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करे, एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर अपनी गहन-स्फूर्त श्रद्धा को कुछ अभिव्यक्ति दें।

कुछ श्रावको ने मिलकर अपनी इस भावना को मुनिश्री के समक्ष व्यक्त किया । मुनिश्री ठहरे—अलीणपलीणगुत्ते—बडी कठोरता के साथ उन्होने नकार दिया। श्रावक चुप हो गए। पर अन्तर की भावना दव नही सकी, समय-समय पर हम आग्रह करते रहे, मुनिश्री ठुकराते रहे, इस तरह कई वर्ष गुजर गये । आखिर इस वर्ष व्यावर श्रीसघ के प्रमुख महारथी श्री चिमनसिंहजी लोढा, आदि अनेक व्यक्ति मुनिश्री के चरणो मे दृढ-सकल्प करके वैठ ही गये, लम्वे आग्रह के वाद मुनिश्री को श्रावकसघ का आवेदन स्वीकार करना पडा और अभिनन्दन समारोह के आयोजन की रूपरेखा वनी ।

मुनिश्री की अन्तर-इच्छा थी कि इस आयोजन को आध्यात्मिक रूप दिया जाय। कम से कम प्रचार व कम से कम आडम्वर हो ! हमने मुनिश्री की भावना को ही आदेश मानकर प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ का आकार-प्रकार भी वहुत लघु कर दिया, ताकि हमारी श्रद्धाभिव्यञ्जना भी हो जाय और अधिक प्रदर्शन की भावना न झलके। अभिनन्दन समारोह के अनेक आयोजनो मे 'मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ' एक आयोजन है, जिसका दायित्व मैंने अपने ऊपर लिया था। इसके सम्पादन मे श्रद्धेय श्री देवेन्द्रमुनिजी, महासती उमरावकवरजी 'अर्चना' का जो मार्गदर्शन एव सहयोग मिला है, वह अविस्मरणीय रहेगा। सम्पादन का प्रमुख भार तो श्री चन्दजी सुराना 'सरस' के कधो पर डालकर मैं निश्चित था। उन्होने अल्प समय मे ही अत्यधिक श्रम व सूझ-वूझ के साथ ग्रन्थ को जो नयनाभिराम साथ ही जनोपयोगी रूप दिया है, वह पाठको के करकमलो मे प्रस्तुत है।

मैं सम्पादक वन्धुओ तथा मुनिश्री हजारीमलस्मृतिप्रकाशन व्यावर, कार्यालय के प्रमुख उत्साही कार्यकर्ता श्रीमान सुजानमलजी सेठिया आदि का हृदय से आभार मानता हू और आशा करता हू हमारा यह सत्प्रयास सुधीजनो मे श्लाघनीय होगा

—चांदमल चौपड़ा

महावीर-जयन्ती
१५ अप्रेल, १९७३ (व्यावर)

अनुक्रमणिका

१ जीवन-दर्शन

२ संदेश, शुभकामनाएं, अभिनन्दन !

३ धर्म, दर्शन एवं संस्कृति

४ इतिहास और परम्परा

★



जीवन दर्शन

व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विश्लेषण

सेवा समता एवं सरलता की त्रिमूर्ति

स्वामी श्री ब्रजलाल जी

● श्रीचन्द सुराना 'सरस'

मनुष्य की कर्तव्यविधि का विश्लेषण करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—

अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे।
माणकरे णाम एगे णो अट्ठकरे।
एगे अट्ठकरे वि माणकरे।
एगे णो अट्ठकरे, णो माणकरे।

कुछ व्यक्ति सेवा आदि कर्तव्य करते हैं, किंतु उसका अभिमान नही करते।
कुछ अभिमान तो बहुत करते हैं, किंतु कार्य कुछ नही करते।
कुछ कार्य भी करते हैं, और उसका अहकार भी करते हैं।
कुछ न कार्य करते हैं और न अहकार ही करते हैं।

प्रथम श्रेणी का कर्तव्य-साधक सर्वश्रेष्ठ है, वह बहुमूल्य हीरा है, मूल्यवान मणि है—जो कभी अपना मूल्य अपने मुह से नही बताता—**"हीरा मुख से ना कहे लाख हमारा मोल।"**

वह साधक सौरभ से महकता हुआ वह सुन्दर पुष्प है, जो अपनी सौरभ बिखेर कर समस्त जगत् को मकरद लुटाता रहता है, किंतु कभी अपने विषय मे एक शब्द भी नही बोलता।

वह कर्तव्यनिष्ठ पुरुष अधकार से निरतर सघर्ष करते रहनेवाला दीपक है, जो प्रतिक्षण दिव्य ज्योति-किरणें फैलाता हुआ भी कभी अपनी महिमा की एक रेखा भी खीचकर नही दिखाता।

परम सेवाभावी सतपुरुष स्वामी श्री व्रजलालजी इसी कोटि के एक साधक हैं, जो निरंतर सेवा, साधना करते हुए, कर्तव्य की कठोर असिधारा पर चलते हुए—आज तक उसके गर्व से अछूते हैं। अपनी साधना के विषय मे अपनी सेवानिष्ठा के विषय मे वे मौन है, कर्तृत्त्व का अहकार करने की गर्वानुभूति उन्हें स्पर्श भी नही कर पाई है, ऐसा लगता है—साख्यदर्शन का पुरुषवाद उनके कर्तव्यशील जीवन का आदर्श बन गया है। सांख्यदर्शन के आचार्य कपिल का कथन है—पुरुष सब कुछ करते हुए भी कर्तृत्त्व के अहकार से शून्य रहता है—असंङ्गोय पुरुष.[1] पुरुष—प्रकृति का स्वामी होते हुए भी मूलत असग, निर्लिप्त है। स्वामीजी अपने सत समुदाय मे एक महान् कर्तृत्वसपन्न सेवा-भावी, सतत जागरुक सत रहे हैं, आज भी है, पर आप उनसे मिलिए, उनकी सहज, सरल बालक-सी निर्मल आखो मे झाकिए, मद मुस्कान से युक्त उनकी मुख-मुद्रा को पढिए, उनके स्वाभाविक रहन-सहन व बोल-चाल का निरीक्षण कीजिए, कहीं भी आपको अहकार की गध नही आयेगी, गर्व की एक वक्ररेखा भी कहीं दिखाई नही देगी। सब कुछ करते हुए भी जैसे कुछ नही करते—ऐसा निर्विकार अहकारशून्य भाव झलकता मिलेगा। उनकी कृति से, आकृति से, प्रकृति से सहजता टपकती है। उनके शरीर की हर रेखा सरलता और सात्त्विकता की प्रतीक है, उनके व्यवहार की प्रत्येक करवट—सहिष्णुता, सेवा और सच्चाई की छवि लिए हुए है। कहना होगा—

> **करते हैं कर्तव्य, किंतु जरा अभिमान नहीं है,**
> **फूल खिला है, पर खिलने का मान नहीं है।**
> **सब कुछ किया समर्पण जिसने निज जीवन को,**
> **उनकी महिमा का होता कुछ अनुमान नहीं है ॥**

स्वामीजी श्री व्रजलालजी का हृदय सरल है, बहुत सरल है—इतना सीधा कि जिसके लिए नीतिकार को कहना पड़े—

> **इतना सीधा न बन, जो हर कोई काटे।**
> **इतना मीठा न बन, जो हर कोई चाटे ॥**

उनके मन में कहीं घुमाव-फिराव नही, दुराव-छिपाव नही, जैसा भीतर मनमे भाव है, वही बाहर वचन मे, और वह भी बिल्कुल सरल-सीधे शब्दो मे प्रकट कर देते है। उनसे बाते करते हुए लगता है किसी बालक से बाते कर रहे हैं। बहुत बार मैंने अनुभव किया है—जब कभी जो बात उनके मन मे आती है, वह सहज शब्दो मे व्यक्त कर देते है, क्योकि उनके भाव सरल रहते हैं, इसलिए वचन भी उनके मीठे लगते हैं, भले ही उनमे मिश्री जैसा कडापन भी क्यो न हो! ऐसा लगता है, भगवान महावीर की यह वाणी उनके मन के कण-कण मे रमी हुई है—**सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।**

जो ऋजु है, सरल है, उसी की आत्मा शुद्ध रह सकती है, और उस शुद्ध पवित्र आत्मा मे ही धर्म का निवास होता है। उनकी सरल आत्मा धर्म देवता का मदिर बनी हुई है इसीलिए तो वह तर रही है, कहावत है—सीधा तरता है।

किसी नदी के किनारे हजारो आदमियो की भीड लगी थी, घाट पर लबे-लबे शहतीर नाव मे उतारे जा रहे थे, जो किसी जगल से तैयार करके लाए गये थे। लोग उन्हें देख

---

१ सांख्यदर्शन १।१५

रहे थे । एक सत उधर से निकले तो वे चुपके से शहतीर के पास मे आये, जैसे दो क्षण उससे बात की हो, कान लगाकर उसके पास खडे रहे और फिर खिसक गये आगे । लोगो ने पूछा—"महात्मा जी ! शहतीर से क्या कुछ पूछने गये थे ?"

हा, बात करनी थी—महात्मा जी ने कहा । लोगो की जिज्ञासा बढी, बोले—क्या पूछा ? महात्मा ने कहा—तुम्हे देखने के लिए हजारो आदमी यहा क्यो एकत्र हुए ? ऐसी क्या विशेष बात है ? "शहतीर ने क्या जवाब दिया"—लोगो ने पुन पूछा ?

"मैं बिल्कुल सीधा हू, कही भी मुझ मे गाठ नही है"—महात्मा ने शहतीर का उत्तर सुनाया !

वास्तव मे सीधा, सरल, गाठ रहित निर्ग्रन्थ दर्शनीय होता है, पूजनीय भी होता है, स्पृहणीय भी होता है ! श्रीकृष्ण से गोपबालाओ ने जब पूछा—"आपको इस बासुरी से इतना प्यार क्यो है ?" तो श्रीकृष्ण ने क्या उत्तर दिया ?

मुझ को प्रिय है बासुरी !
ऊपर से नीचे तक देखो, कितनी सीधी और सरल ।
नहीं हृदय मे कही गांठ है, नहीं वक्रता, और न छल,
जब भी इससे बाते करता बोलती है रस भरी !
इसीलिए तो—मुझको प्रिय है बासुरी !

वास्तव मे मधुरता का वास भी सरलता मे ही है । जहा सरलता नही, वहा की मधुरता, मधुरता नही ।

सरलता के सिवाय मधुरता टिक ही नही सकती । कवि रसखान कहता है—

प्रीति सीखिये ईखतें, पोर-पोर 'रसखान',
जहा गांठ तह रस नहीं, यही नीति की बान !

फिर साधु तो सीधा चाहिए ही, साधु होकर भी यदि सरल न हो, सीधा न हो तो आश्चर्य है ! साधु की सरलता मे कोई आश्चर्य नही ! स्वामीजी श्री ब्रजलालजी के मन की, वचन की सहज-सरलता देखकर मुझे आश्चर्य नही होता, हाँ, आदर होता है, श्रद्धा उमड पडती है उनकी चरणधूलि स्पर्श करने को !

स्वामीजी के जीवन मे साहस और सहिष्णुता की अनेक घटनाए घटित हुई हैं । युद्ध का नगाडा सुनकर जैसे क्षत्रिय का जोश उछालें भरने लगता है, भुजाए फडकने लगती है । वैसे ही किसी भय के वातावरण मे, सघर्ष की लपटो मे और कष्ट, परीषह एव त्रासदायक क्षेत्रो मे जाने की बात सुनकर स्वामी जी सबसे आगे आकर डट जाते हैं । 'राम करे तो हममे लडूँ'—की भाति वे यही चाहते हैं, "वहा सबसे पहले मैं पहुचू ! देखू तो सही भय क्या है ? कष्ट क्या कहते है ?" वे कहा करते हैं—कायर कष्ट का नाम सुनकर अधकार मे छुप जाते हैं, बैठे-बैठे ही कापने लगते हैं, किंतु यदि थोडा-सा साहस बटोर कर कष्ट को ललकार दिया जाय तो वह चोर की भाति चुपके से ही खिसक जाता है । साहसी के सामने भय और कष्ट कभी चो-नजर नही होते"—यह स्वामीजी का अपना अनुभव है । भगवान का यह सदेश उनके रक्त मे रमा हुआ है—

अप्पाण भयं न दसए ।[1]

अपने को कभी भयभीत मत होने दो ।

क्योंकि डर के पास डर आता है,—**भीतं खु भया अइति लहुय**—भय के पास भय शीघ्र आता है। दीनता के पास दीनता आती है। हीनता के पास हीनता ! उनका कहना है—"तुम्हारा मन यदि साहस से भरा है, दुःख और कष्ट मे जूझने को तैयार है, तो तुम्हारे दुःख आधे तो हो गये। साहस से दुःख आधा हो जाता है और भय से चौगुना !" मैंने जब उनकी सहिष्णुता, धीरज और परीषहो की बात पूछी तो सहजभाव के साथ वे बोले—"पत्थर हजारो टाकी सहता है तब महादेव बनता है। आदमी अगर कष्ट नही सहे तो वह आदमी कैसे बनेगा, फिर साधु तो सहनशीलता से ही साधु होता है। मन में धीरज न हो, सहनशीलता न हो, परीषहो से घबराता हो, वह आदमी साधु बन नहीं सकता। साधु का मार्ग तो सिर पर कफन बाधकर चलने का है—**मौत हमारे साथ**—साधु जीवन मे कष्ट आये, इसमें कोई खास बात नही, खास बात तो यह समझनी चाहिए कि जो साधु जीवन धारण कर भी कष्ट नहीं उठाये। गृहस्थ को कष्ट सहे बिना धन भी नही मिलता, साधु को कष्ट सहे बिना मोक्ष कैसे मिलेगा—?"

मुझे लगा, जीवन के सम्बन्ध मे उनका बड़ा गहरा अनुभव है। कष्ट को वे कसौटी मानते हैं, वरदान मानते हैं, और उनसे जूझने की पूरी तैयारी उनके मन मे रही है, यही कारण है कि दीनता-हीनता, दुर्बलता, भयाकुलता कभी उनके मन को कपित तक नहीं कर सकी। चाहे श्मसान मे ठहरा दें, वहाँ भी एकाकी निर्भय सो सकते है, चाहे किसी विशाल भवन मे ठहरा दें, वहां भी निस्पृह और निर्भय, और झौपडी मे भी उसी भाव के साथ ! उनका जीवन सूत्र है—

दुःखेषु विगतोद्वेगः सुखेषु विगतस्पृहः,

दुःख मे उद्वेग रहित, सुख मे स्पृहा मुक्त ! चाहे उन्हे कोई गालियाँ दें, वे सुनकर चुपचाप रह जाते हैं, चाहे उनकी निन्दा करें वे एक शब्द का प्रत्युत्तर नही देते—वे कहते हैं—"आग मे घी डालने से क्या लाभ ! डालना ही हो तो पानी डालो।"

हम आग बुझानेवाले हैं, हम आग लगाना क्या जानें !

स्वामी श्रीब्रजलालजी के सपर्क मे आनेवाले लोगो का एक खास अनुभव है कि वे विनम्र तो हैं, किन्तु दब्बू नही हैं। छोटे से छोटे व्यक्ति के साथ वे नम्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं, हसकर बोलते हैं और अपनी बात का कभी आग्रह नहीं करते, किसी पर अपने विचार थोपने की चेष्टा नही करते। यदि दूसरे के विचार ठीक हैं, तो उन्हे बढावा देते हैं और अपने विचारो को अपने तक ही रख लेते हैं, किन्तु इसका मतलब यह नही कि वे किसी से दब जाते है। वे कहते है—"मैं किसी को अपने विचारो से दबाना भी नही चाहता और न दूसरो के सामने दबना ही पसद करता हू। दबना कायरता है, दबाना नृशसता ! कभी-कभी ऐसे प्रसग भी आये कि मुझे विचार बदलने के लिए बडे-बडे दबाव डाले गये, महारथी मुनियो ने मुझे दबाने की चेष्टाएँ भी की, पर मैंने स्पष्ट कह दिया—धमकी से, भय से, या दबाव से मुझे नही झुका सकते, प्रेम और सरलता से, अपनत्व मे मुझे झुका सकते हो। मैं अपने को कूटस्थ नही मानता, जैसा बना हू या जैसा हू वैसा ही हमेशा बना रहू यह असभव है, बदलता रहा हू, बदल सकता हू। परिवर्तन जीवन का धर्म है, मिलनसारिता मानव का गुण है, मुझे जिस समय जैसा

---

१ सूत्रकृताग १।२।३।१७

साथी मिलता है, उसके स्वभाव के साथ मिल जाता हू। पानी को जैसा वर्तन मिले उसी के अनुरूप अपने को ढाल लेता है, फिर मानव क्यो नही परिस्थिति व प्रसग के अनुसार अपने को ढाले। हाँ मिलनसारिता निश्छल और निस्वार्थ होनी चाहिए। यदि उसमे कपट की लपट होगी तो वह अवसरवादिता बन जायेगी। मैं जिस किसी के साथ मिलता हू, निश्छल मन व उन्मुक्त हृदय के साथ मिलता हू। जो मुझे समझ लेता है, मैं उसके समक्ष अपना समर्पण कर देता हू—अपनी अन्तर्भावनाओ को शब्दो का ढग देते हुए स्वामी जी ने यह वताया। पुराने मधुर सस्मरणो की याद मे कभी-कभी वे गहरे डूब जाते हैं और माधुर्य से भीगे हुए वोलते है—गुरुदेव (स्वामी श्री जोरावरमलजी) जब उदररोग की असह्य पीडा से आक्रात हुए तो मैं रात-दिन उनके निकट रहता था, खाना-पीना-बोलना और अन्य सभी प्रवृत्तियो मे मुझे कोई रस नही रहा—उनकी पीडा मुझे अपनी पीडा जैसी लगती, अपने मन मे बैचैनी अनुभव करता। चाहे भयकर गर्मी हो या हडकप मचानेवाली सर्दी, मुझे उसका अनुभव ही नही रहता, जब रात-विरात मे वे जागते तो मैं जाग जाता, सतत उन्हीके निकट सोता और अपने आपको उनके लिए समझता। स्वामी श्री हजारीमलजी म० के अस्वस्थताकाल मे भी मुझे उसी प्रकार की पीडानुभूति रहती। अन्य कोई मुनिवर भी जब मेरे पास रहते हैं और उनकी सेवा का प्रसग आता है तो पता नही क्यो, उनकी वेदना की अनुभूति मेरे मन को भी कुरेदती रहती है, ऐसा लगता है, यह बीमारी उनको ही नही, मुझे भी है और मैं हर चद कोशिश करने के लिए विवश हो जाता हू।"—यादो की गहराई मे उतरे हुए स्वामीजी ने अपने कुछ सस्मरण भी सुनाए हैं।

"एकवार जव भीनासर सम्मेलन करके आये और उपाध्यायश्री अमरमुनिजी ने कुचेरा मे चिकित्सा कराई तो मैं साथ ही था। उनकी दवा और पथ्य आदि की सव योग्य व्यवस्था थी, वे स्वय भी पथ्य आदि का वहुत ध्यान रखते थे, पर, मुझे लगता था, मैं ही दवा ले रहा हूँ, इसलिए पथ्य आदि के लिए वार-वार टोकता रहता। दवा आदि के लिए भी पूछता रहता। मेरी इस आदत को कुछ लोग ठीक समझते हैं, कुछ अति भावुकता, पर कवि श्रीजी ने कभी मुझ पर चिढ नही की, हाँ, मजाक मे मुझे 'डाक्टर साहव" जरूर कहते, और आज भी जव कभी पत्र आते हैं तो 'डाक्टर साहव' नाम से ही लिखते हैं। मैं रोगी की इच्छा को उतना महत्व नही देता, जितना उसके स्वास्थ्यानुकूल पथ्य आदि को। हित के लिए कडवी दवा देने और कडवी वात भी कहने को तैयार रहता हूँ—यह आदत की लाचारी समझिए या भावुकता!"

अध्ययन की दृष्टि से भी स्वामी श्री व्रजलालजी काफी जागरूक रहे हैं। दीक्षा के बाद जव प्रारम्भिक अध्ययन चालू हुआ तो गुरुवर श्री जोरावरमलजी म० ने आपकी रुचि को बडी गहराई से परखा। सस्कृत एव प्राकृत भाषा का पठन आवश्यक है, किन्तु उस रूखे विषय मे आपकी रुचि अधिक नही थी। कुछ दिनो के पश्चात् आपकी रुचि की धारा ने आगमो के अध्ययन की ओर मोड लिया। देशी भाषा मे लिखे गये टव्वो के आधार पर जैन शास्त्रो का अध्ययन किया और बडी रुचि के साथ। थोकडो मे, आगम चर्चा मे और उनके निरन्तर परिशीलन मे आपकी विशेष रुचि रही इसलिए उनका गभीर ज्ञान सहज ही मे प्राप्त कर लिया।

भाषा ज्ञान की अपेक्षा कला मे आपकी अधिक दिलचस्पी थी। बचपन से ही जव अक्षर लिखने प्रारम्भ किये तो उनमे कुछ सहज सुघडता और सौष्ठव था। आगे जाकर आपने अक्षरलिपि

और अच्छी सुधार ली। घसीट लिखावट को लोग विद्वत्ता की पहचान मानते हैं,पर आपका कथन है "जैसे जल्दी-जल्दी अस्पष्ट बोलना दोष है,वैसे ही जल्दी-जल्दी अस्पष्ट घास काटते हुए जैसे लिख देना भी लिपि का दोष है। अक्षर सौन्दर्य का अपना महत्त्व है। धीरे-धीरे जमाकर सुन्दर लिखने से तन्मयता आती है, लिखे जानेवाले विषय का ज्ञान भी होता रहता है, और स्वाध्याय जैसा आनन्द भी मिलता रहता है। शरीर-योगों की स्थिरता का भी अच्छा अभ्यास होता है और समय कैसे बीत जाता है, कुछ पता नही चलता।" यह स्वामीजी का अनुभव है।

अब तक विभिन्न विषयो के ग्रन्थ आपने लिखे (लिपि की) है, उनका योग किया जाय तो अनुमानत ४०-५० हजार श्लोक प्रमाण से अधिक ही होगा।

आपका स्वर बडा मधुर है, जब भजन, स्तवन या चोपी आदि गाते हैं तो स्वय तो तन्मय हो ही जाते है, श्रोताओ को भी तन्मय बना देते है। वास्तव मे गायक जब तक स्वयं तन्मय नही होता तो उसके सगीत पर श्रोता तन्मय कैसे होगें ? तन्मयता से ही तन्मयता पैदा होती है।

अवकाश के समय मे स्वामीजी या तो माला जपते मिलेंगे या कोई तवन, स्तोत्र आदि गुनगुनाते ! वे कभी निकम्मे नही रहते। आलसी की तरह पड़े-पडे भी नही रहते। स्फूर्ति और ताजगी जवानो से भी ज्यादा है। सक्रियता है, और कुछ न कुछ करते रहने की धुन है। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु मे भी उनमें तेज है, सक्रियता है, जागरूकता है और कर्तव्यनिष्ठा है।

स्वामाजी ने ज्योतिष-विद्या का भी अच्छा अध्ययन किया है। आपका अनुभव है—"ज्योतिष मे पढाई मे भी ज्यादा कढाई (अनुभव) काम मे आती है। ग्रहो की गति का व्यावहारिक दृष्टि से फलाफल विचारना और उनका देश कालोचित परिस्थिति के सदर्भ मे विचार करना—इसी मे ज्योतिष विद्या की सफलता है।" अप्रासगिक विचार पर आप एक चुटकला सुनाते हैं—"किसी राजसभा मे दो ज्योतिषी पहुचे। दोनो ही ज्योतिष विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। लगन लेकर तुरन्त प्रश्न का उत्तर देते थे। राजा ने परीक्षा लेनी चाही। भीतर कमरे मे जाकर राजा वापस आया और हाथ को भीतर शाल मे छुपा कर बोला—ज्योतिषीजी महाराज ! बतलाइए मेरी मुट्ठी मे क्या है ?

पहले ज्योतिषी ने लगन लिया। ज्योतिष सम्बन्धी धारणाओ पर विचार कर बोले—राजन् ! आपके हाथ में कोई गोल चीज होनी चाहिए, वह सफेद भी है, मिट्टी की भी है और उसके बीच मे छेद भी है। राजा ने पूछा—उसका नाम क्या है ? पडित ने कुछ देर सोचकर कहा—"चक्की का पाट होना चाहिए।"

सभी लोग हस पडे। राजा ने भी सिर हिलाया। फिर दूसरे पडित से पूछा गया। उसने सोचकर बताया—'आपके हाथ की वस्तु गोल जरूर है, सफेद भी है, उसके सिर पर छेद भी है मिट्टी की भी है, पर वह चक्की का पाट नहीं, वह मोती होना चाहिए।" राजा ने प्रसन्नता के साथ मुट्ठी खोली तो सचमुच में मोती ही निकला।

तो यह अन्तर ज्ञान का नहीं, अनुभव का था, पढाई की विशेषता नही, यह कढ़ाई की विशेषता थी ! यह अनुभव गुरु सेवा से, व्यावहारिक बुद्धि से और मानसिक शुद्धि से प्राप्त होता हैं।"

स्वामीजी का ज्योतिष ज्ञान अनुभव पूर्ण है। वे प्रथम तो फलाफल बताते नही, किन्तु उसका विचार कर लेते हैं, यदि बताते हैं तो सिर्फ ग्रह गति व कुडली के आधार पर ही नही, किन्तु उसे

व्यावहारिक बुद्धि से सोचकर बताते हैं, ज्योतिष को वे जीवन मे उपयोगी विद्या मानते है, किन्तु विश्वास व विवेक के साथ ।

स्वामी श्री व्रजलालजी के अन्तरग की एक झलक आपके सामने प्रस्तुत है । इस आधार से आप उनकी धीरता, गम्भीरता, विनम्रता, सरलता, सहिष्णुता आदि सद्गुणो की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते है ।

स्वामी जी का जन्म आज से ७२ वसन्तपूर्व वि० स० १९५८ माघसुदि ५ को हुआ । आपकी जन्मभूमि तो तिंवरी (राजस्थान) है, किन्तु आपके जन्म से न सिर्फ राजस्थान, किन्तु मध्यप्रदेश भी गौरवान्वित हुआ है । आपका जन्म अपने ननिहाल मे हुआ, जो रायपुर (मध्य प्रदेश) के पास एक छोटा सा ग्राम है—**गडाइपढरिया** । आपके पिता जी श्रीअमोलकचदजी श्रीश्रीमाल (ओसवाल) भी व्यापार के निमित्त उधर ही चले गये थे, राजनाद गाव मे कपडे की दुकान की । लोगो मे अच्छी प्रतिष्ठा व साख थी । घर मे लक्ष्मी की चहल-पहल से हर कोना हसता रहता था ।

भाग्य की विचित्रता ! कुछ ही समय बाद पिता का सुखद साया आपके ऊपर से उठ गया । माताजी श्री चपाबाई बडी साहसी और सूझबूझ की धनी थी । सकट के समय वडी सहनशीलता से काम लिया, धीरज नही छोडा, बच्चे के पालन-पोषण, अध्ययन आदि मे कमी नही आने दी ।

कुछ समय वाद माताजी अपने पुत्र के साथ मारवाड मे तिंवरी आ गई, यहा वे धर्मध्यान मे अधिक मग्न रहने लगी । माताजी के मन के सस्कार आप के मन पर भी प्रभाव डालने लगे । उनकी वैराग्यवृत्ति, निस्पृहता और ससार से उदासीनता ने आपको भी वैरागी बना दिया । और वह वैराग्य कच्चा नही, पक्का निकला । ११-१२ वर्ष की आयु मे ही आपने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया । माताजी ने कहा—बेटा ! वैराग्य तो पहले मुझे हुआ, और दीक्षा पहले तू ले रहा है, ऐसा नही हो सकता । मुझे भी ससार त्यागकर दीक्षा लेनी है । माता और पुत्र दोनो ही परमप्रतापी स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज की सेवा मे पहुचे । गुरुदेव की पारखी नजरो ने दोनो के अन्तस्तल मे लहराते असली वैराग्य को पहचान लिया । पर, कुछ व्यावहारिक कारण भी थे, और कुछ माताजी के धीरज की और परीक्षा भी लेनी थी—गुरुदेव ने कहा—"पहले व्रजलाल की दीक्षा होगी, तुम्हारा क्या विचार है ?"

माता जी कुछ देर असमजस मे पडी रही—"गुरु जी गुड ही रहे, चेला शक्कर वन गये—बेटा तो साधु वन जायेगा और मैं यो ही ससार मे फसी रहू ।" उनकी मन स्थिति बडी विचित्र थी । आखिर गुरुदेव के आश्वासन पर पुत्र को दीक्षा देने चपावाई तैयार हो गई । वि० स० १९७१ वैसाख-सुदि १२ को ब्यावर मे आपका दीक्षा सस्कार हुआ । ठीक उसके ४ मास बाद माताजी श्री चपावाई ने भी दीक्षा ग्रहण करली । चपावाई, उस समय की सुप्रसिद्ध साध्वी (जयमल सम्प्रदायस्थ) श्री गगाजी की शिष्या बनी । सच्ची लगन फलवती होती है । सच्चा वैराग्य कभी उतरता नही ।

लगभग ५९-६० वर्ष की इस सुदीर्घ दीक्षा पर्याय मे स्थविरवर स्वामी श्री व्रजलालजी ने जो अखण्ड चारित्र साधना की है,सेवा की अखण्ड लौ जलाई है,विनय एव सरलता की जो दिव्यता प्राप्त की है, आत्मा को निर्मल एव सयमनिष्ठ बनाने मे जो सतत जागरूकता वरती है, वह हम सबके लिए आदर्श है, प्रेरक है, और हृदय की असीम श्रद्धा के साथ अभिनन्दनीय है ।

एक अनोखा व्यक्तित्व

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी

● देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

सामान्य व्यक्ति कहाँ और किस समय जन्म लेता है, उसका लालन, पालन व पोषण किस प्रकार होता है, यह जानने की किसी को जिज्ञासा नही होती, किन्तु जब व्यक्ति व्यष्टि की सीमा को लाघकर समष्टिमय वनता है, उसका कार्य और उसकी विचारधारा 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' होती है तो उनके जीवन के कण कण और क्षण-क्षण को जानने की भावना जन मानस मे अठखेलियाँ करने लगती हैं। उनका प्रत्येक क्रिया-कलाप जन-मानस जानना चाहता है। उसकी शारीरिक चेष्टाए, मानसिक व्यापार, तथा वौद्धिक चिन्तन के आलोक सहस्रावधि व्यक्तियो मे विखरते हैं और उनमे नव-जीवन फूकते हुए सुषुप्त भावनाओ को जाग्रत करते है, वह सवके लिए आदर्श वन जाता है।

जिनका जीवन महान् और गौरवशाली रहा है, ऐसे व्यक्तियो को शब्दो मे वाधना वहुत कठिन है, पर यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्ति ही शब्दो मे वाधे जाते हैं, जिनके जीवन मे न तेज होता है, न प्रवाह होता है और न वहा ले जाने की शक्ति होती है, उनका व्यक्तित्व शब्दो मे छिपकर रह जाता है, जिनके जीवन मे हजारो विशेषताए होती हैं, सद्गुणो की सौरभ होती हैं उनके विशिष्ट और शिष्ट व्यक्तित्व को शब्द पकड नहीं पाते हैं। मुनि श्री ब्रजलाल जी महाराज के व्यक्तित्व को वाधने

के लिए सबसे वडी कठिनाई यह है कि वह जितना अधिक बाधा जाता है उससे कही अधिक वह बाहर रह जाता है, उनकी गुरुता और महानता के सम्मुख शब्दो के वाट वहुत ही हलके पडते है ।

मुनि श्री के सम्वन्ध मे मुझे लिखने के लिए कहा गया है, पर मैं क्या लिखू ? जिनको हम निकटता से जानते है, उनके सम्बन्ध मे कहना और लिखना उतना ही कठिन है जितना प्रसुप्तप्रज्ञा के द्वारा शक्ति को सीमावद्ध करना ।

मैं उनको अपने वचपन से जानता हू, महीनो तक निकट सम्पर्क मे भी रहा हू, अनेकबार मन मे सोचा था कि उनके वारे मे सुविधा के क्षणो मे अनुभूतिया लिखू गा । उनके व्यक्तित्व को जितनी निकटता से देखा है उतना ही निखरा हुआ पाया । उनके पारदर्शी ज्योति-विस्फारित नेत्रो से विशद आनन्द और मधुर मोह का स्रोत वहता है, उनकी वाणी मे मिठास, मार्मिकता और सहजज्ञान का एक प्रवाह सा रहता है, जिसे सर्व साधारण भी सहज ही ग्रहण कर सकता है ।

दुनिया आज घृणोन्माद की शिकार हो रही है, लोभ और लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुर्निवार वोलबाला है । भ्रष्टाचार और पतन के युग मे स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज के शान्त व गम्भीर चेहरे को देखकर कितनी प्रसन्नता होती । उनके प्रशान्त चेहरे पर एक दृष्टिनिक्षेप से ही दर्शक को अपूर्व शान्ति व आह्लाद प्राप्त होता है । सुदीर्घकाल तक सयम साधना, तप आराधना और मनोमथन करने के बावजूद भी वे कठोर और शुष्क नही हुए है । उनकी आकृति मगलमयी है और प्रकृति प्रशस्त है । वे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न, अमित आत्मवली, कुशल अनुशासक, अनुत्तर आचार-निधि आदि विविध उपमाओ से अलकृत किये जा सकते है । जैसे सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता, जलधि का गाभीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नही होती, वैसे ही महापुरुष के व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नही होती, वह स्वत निखारित होता है ।

स्वामीजी महाराज सरलता की साक्षात् प्रतिमूर्ति है, उन्हे बहुरूपियापन पसन्द नही है । चाहे दिन हो, चाहे रात हो, चाहे अकेले मे हो, चाहे परिपद् मे हो, चाहे सोते हो, चाहे जागते हो, सर्वत्र एकरूपता होनी चाहिए, सरलता होनी चाहिए, जहा सरलता है वही पर धर्म है । यही उनके जीवन का मूलमत्र है । चापलूसी, उन्हे पसन्द नही है, वे कभी-कभी वहुत अधिक स्पष्ट हो जाते हैं, चाहे कोई प्रसन्न हो या नाराज, उन्हे कोई चिन्ता नही, सत्य तथ्य को छिपाना उन्होने सीखा ही नही है ।

स्वामीजी महाराज हमेशा सिद्धान्तवादी रहे हैं । अपने को सिद्धान्त के सामने झुकाना उन्हे पसन्द नही है । जीवन मे नम्रता व कोमलता होने पर भी वे अपने सिद्धान्तो की रक्षा के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं । व्यक्ति अपना हो या पराया, किन्तु सिद्धान्तो की बलि देकर कभी भी समझौता करना सीखा ही नहीं है, यही कारण है कि जनता के मन मे उनके प्रति अपार श्रद्धा है । उनके सिद्धान्तवादी दृष्टिकोण को शायर के शब्दो मे इस प्रकार कह सकते है—

राहे - खुद्दारी से मरकर भी भटक सकते नहीं ।
टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं ॥

स्वामीजी महाराज का जीवन सेवानिष्ठ जीवन है । जीवन के प्रभात से ही वे सन्तो की सदा सेवा करते रहे हैं । उनकी सेवा-भावना को देखकर मुझे कई वार नन्दीषेण मुनि का स्मरण हो आता है ।

२

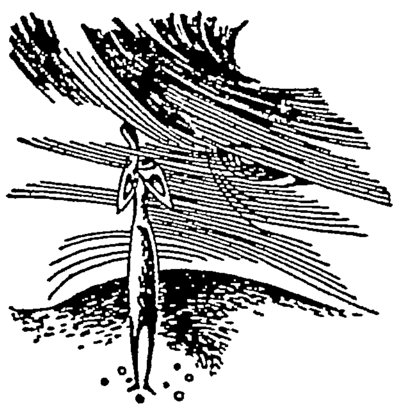
स्वामीजी महाराज एक कुशल गायक है, वे जब आनन्दघनजी, विनयचन्दजी, देवचन्दजी, यशोविजय जी, पूज्य जयमलजी, आचार्य रायचन्दजी आदि प्राचीन कवियो के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए भजन गाते है तब श्रोता आनन्द से झूम उठते हैं। उन्हे सैंकडो भजन आदि कठस्थ हैं साथ ही गला भी उतना ही अधिक मधुर है।

वे प्राचीन जैनलिपि के कुशल सुदक्ष ज्ञाता है, वे कुशल लहिया है, मोती के दाने के समान उनके सुन्दर अक्षर है, उन्होने अनेको जैन ग्रन्थो की प्रतिलिपिया उतारी हैं।

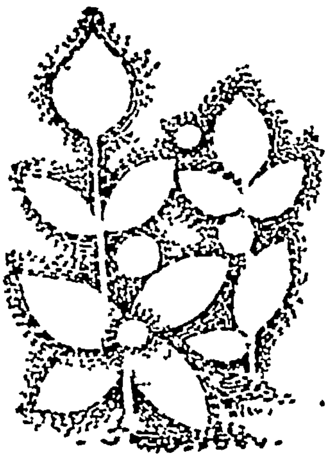
स्वामीजी महाराज स्नेह की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं, उनके हृदय मे स्नेह का सागर उछालें मार रहा है। जो भी उनके सन्निकट मे रहता है उसे उनके मधुर स्नेह का अनुभव हुए विना नही रहता है।

प्रस्तुत अभिनन्दन स्वामीजी महाराज का नही, किन्तु उनमे रहे हुए सद्गुणो का है। उनका जीवन सद्गुणो का गुलदस्ता है, उसकी मधुर महक हमे दीर्घकाल तक मिलती रहे, यही मगल-कामना और भव्य-भावना है।

●●



●महासती प्रीतिसुधाजी



जीवन के सच्चे कलाकार स्वामीजी श्री व्रजलालजी

श्री व्रजलाल जी महाराज जैसे सरल आत्मा की सुदीर्घ चारित्रपर्याय एव श्रुतसेवा के उपलक्ष्य मे यह सुन्दर और रचनात्मक कार्यक्रम आयोजित किया है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई। मतो के स्मरण मात्र से ही हृदय मे भाव-भीनी तरगे अपने आप उभर आती है। पूज्य व्रजलालजी महाराज जैसे एक जैन सत के विषय मे कुछ लिखना याने त्याग, सयम और सहनशीलता के सागर को चन्द शब्दो की गागर मे वन्द करना है। एक और मानव भौतिकता की चकाचोध मे पुत्रैपणा, वित्तैषणा और लोकैपणा की आग मे झुलस रहा है तथा दूसरी ओर ये आध्यात्मिक साधना करनेवाले साधक इच्छाओ पर विजय प्राप्तकर शान्ति के सागर मे मस्ती से डुबकियाँ लगाने का आनन्द लूट रहे हैं।

मन पर विजय प्राप्तकर साधक!
भवभव पार उतर जाता ॥
इसीलिए श्रीव्रज मुनिवर ने।
जोडा सयम से नाता ॥

व्रत भारतीय सस्कृति का आदर्श है। भारत धर्मप्रधान देश है। प्रारम्भ से ही यहाँ त्याग और त्यागियो की ही पूजा होती आ रही है। वडे-वडे राजा, चक्रवर्तियो ने अपना सिर व्रतियो के, त्यागियो, के सयमियो के चरणो मे झुकाया है। किसी उर्दू शायर ने कहा है—

तही-दस्ती का दर्जा अहले दौलत से ज्यादा है।
सुराही सर झुकाती है जबकि जाम आता है ॥

भौतिक वैभव से अपने आपको खाली रखनेवाले स्वामीजी श्रीव्रजलालजी महाराज ने अपनी जीवन वाटिका मे, सयम के साथ स्नेह, सेवा, सतोप एव ममता के मनोहारी पुष्पो को खिलाया है। आपमे वालक सी मासूमता, युवको-सा उत्साह और वुजुर्गों-सी गहराई रूपी त्रिवेणी के दर्शन समय-समय पर होते रहते हैं। आप जीवन के सफल कव सच्चे लाकार हैं। हस्ताक्षरो की सुन्दरता, ज्योतिपशास्त्र की निपुणता एव कलाप्रियता आपकी खासियत है।

कलाकार जीवन के हो तुम,
आत्म - कला पे ध्यान दिया।
हे व्रज मुनिवर धन्य आपको,
सार - सार को ग्रहण किया ॥

"जगत को तारनेवाले जगत मे सतजन ही है।" इस काव्यपक्ति की सच्चाई पूज्य श्री व्रजलालजी महाराज के जीवन को देखने के वाद वास्तविक प्रतीत होती है। सहृदयता, सहनशोलता, पर-दु ख कातरता आदि सद्‌गुण जो सतजीवन मे अपेक्षित हैं, वे सव आप श्री मे विद्यमान हैं। आप औरो के लिए कुसुम मे कोमल और अपने लिए वज्र से भी कठोर हैं। आपने ऐसी साधना का अवलम्वन लिया जिसमे न इस लोक की चिता, न परलोक का भय। वैसे ही निर्भयता आपके जीवन का वहुत वडा हथियार है।

भय है तव तक, जव तक प्राणी,
पापकर्म मे वहता है।
व्रजमुनि-सी निर्मल आत्मा से,
भय खुद भयभीत रहता है ॥

लाख कोशिश के वाद प्राणी को मानव जन्मरूपी विजली की चमक प्राप्त होती है। और यहा आकर वह इन्द्रियो की भूलभुलैया मे अपना रास्ता भटक जाता है। इन पाच चोरो से वचने की वात कहना जितना सरल है उतना ही कठिन है इन लुटेरो से वचके दिखाना। "साधना करेंगे तो परभव मे मुख पायेंगे" इस लालच से जवरदस्ती अपने आपको वन्धन मे डालना इसका नाम साधना नही है। जिस साधना मे आनन्दानुभूति नही है, वह साधना ही कैसी ? साधक, साधना मे इतना समरस हो जाए कि मैं इन्द्रियो के विपयो का दमन कर रहा हू ऐसा उसे आभास भी न हो। स्वामी श्रीव्रजलालजी महाराज ने जीवन के सच्चे रहस्य को समझकर इन्द्रियो की गुलामी से मुक्ति पायी है और विजली की चमक मे मोती पिरोने का काम कर रहे है। ऐसे निपुण सतो की साधना का अनुमोदन करना भी अपने लाभ की वात होगी—

मन मतग को महत् मनस्वी,
मान कभी ना देते हैं।
त्याग तपस्मय प्रभु - प्रीति से,
जीवन नैया खेते हैं ॥

लघुता प्रभुता की कुजी है। विना लघुता अपनाए सेवा हो नही सकती, सेवाभाव के अभाव मे स्नेहभाव पनप नही सकता और स्नेह के अभाव मे जीवन वगिया महक नही सकती। क्रोधादि कपायो पर विजय मिलने के वाद ही आदमी लघुता की ओर उन्मुख हो सकता है। स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज विनम्रता की साकार प्रतिमा है। दर्प का सर्प आपसे कोसो दूर है। सामान्य प्राणी प्रतिष्ठा के महल मे चढने के लिए क्रोधादि कपायो का सहारा लेते है। वे भूल जाते हैं कि ये ही राक्षस मनुष्य को मनुष्यता से नीचे उतारते है। आज के इस कोलाहल के युग मे स्वामीजी जैसे कामजयी, मानजयी महात्मा ही सच्चे शाति के आस्थान है। अगर इस दुनिया मे सत विभूतिया न होती तो अधेरे मे भटकनेवाले अज्ञानियो को रास्ता मिलना मुश्किल हो जाता।

खुद ही तपकर पूज्य संतगण,
पर - पीडा को हरते हैं।
स्वय प्रकाशित होकर जग को,
प्रीति - सुधा से भरते हैं॥

जी-वन सग्राम है और मृत्यु विराम। भौतिक सग्राम न जाने कितने हुए हैं, कितने हो रहे हैं और कितने होनेवाले हैं। भगवान महावीर ने फर्माया है—

'जो सहस्स सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे,
एगं जिणेज्ज अप्पाण एस से परमो जओ॥

मानसिक द्वन्द्वो पर विजय पानेवाला ही सच्चा विजयी कहलाता है। अगर दुनिया का हर एक प्राणी औरो से झगडने की अपेक्षा अपनी वुराइयो से लडना सीखे, तो कई समस्याए अपने-आप हल हो जायेंगी। समझ जीवन का सच्चा सिंगार है। स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज ने विनय गुण, समझ और सयम के वल से कर्मशत्रुओ के साथ सुदीर्घकाल से सफल सग्राम किया है। और पूज्य गुरुदेव की आज्ञा को जीवन मे उतारा है।

कायर कहलाता है वह नर,
जो नहीं क्षमा शस्त्र अपनाता।
और भीरु भी वह है,
जो कर्मोपर विजय नहीं कर पाता॥

मन आज प्रसन्न है और स्वर्णजयन्ती के इस पावन-प्रसग पर परम श्रद्धेय स्वामीजी के चरणो मे टूटी भाषा से युक्त भावसुमनो को श्रद्धा के साथ अर्पित करना चाहता है।

सजग प्रहरी हो शासन के तुम,
स्वीकृत हो विधिवत वंदन।
हर्षित मन से हम सब करते,
आज आपका अभिनदन॥

●●

---

१ लेख के पेराग्राफ के प्रथम अक्षर जोडने से श्री व्रजलालजी म० वनता है।

आत्म कथा

एक अर्द्ध शतक.... अपने जीवन का

— मुनि मधुकर

राजस्थानवासियो के लिए, और विशेपकर श्वेताम्वर जैनो के लिए 'ओसिया' नगरी का एक विशेप महत्व है। इस नगर का एक वडा इतिहास है, जो सात्विकगरिमा, जीवन की नई दृष्टि, और विचार-आचार की नई सृष्टि से मडित है। 'ओसवाल' कहलानेवालो मे 'ओसिया' के नाम से आज भी एक चेतना लहरा उठती है, एक ऐतिहासिक दिव्य-भव्य आकृति उनकी आँखो के सामने नाचने लगती हैं और एक सात्विकगौरव से उनका सीना फूल उठता है, आखो मे कुछ तेज-सा दमक जाता है।

क्रांति का पुनरावर्तन :

कई सौ वर्प पूर्व एक प्रभावशाली जैन आचार्य श्री रत्नप्रभसूरि ने एक नई क्राति का पौधा रोपा था, इसी ओसिया के प्रागण मे। महावीर युग की पुरानी घटना का, नये सदर्भ मे, नया अवतरण किया गया था। भगवान महावीर के युग मे मानव जाति ऊच-नीच ब्राह्मण-शूद्र आदि के भेदो मे वटी हुई थी, छोटे-वडे की खाईयो मे अलग-अलग डूवी पडी थी। उनके सामाजिक रीति-रिवाज ही नही, धार्मिक क्रिया कर्म भी अलग-अलग थे। हर वर्ग, हर वर्ण और हर जाति का अलग धर्म था, उसकी अलग ही नैतिकता थी—अलग ही मानवता! भगवान महावीर ने इस वर्णवाद की गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया, उसकी दुर्भेद्य दीवारो को तोडने की चेप्टा की और विभिन्न वर्ण, वर्ग, जाति व पथ के मनुप्यो के लिए एक सार्वभौम धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उस धर्मतीर्थ मे जो भी आया—चाहे वह शूद्र था, चंडाल पुत्र था, खेतिहर किसान था, लुहार था, कुम्हार था, वैश्य था, नगरश्रेप्ठी था, क्षत्रियकुमार था या वेदो का अध्येता ब्राह्मण कुमार। सव वहा आकर एक मानव-धर्म मे

दीक्षित हो गये। उस धर्मतीर्थ मे आनेवाले प्रत्येक मानव का एक ही सावभौम धर्म था, एक ही उच्च ध्येय था, एक ही महातिमहान् लक्ष्य था— विजय! आत्म-विजय! इन्द्रिय-विजय! व्यवहार एव विचारो की शुद्धि! अपने युग की यह एक महान धर्मक्राति थी।

समय की दीर्घयात्रा मे क्राति के इस झडे पर पुन रुढिवाद, वर्णवाद एव वर्गभेद की धूलि जमने लग गई थी। जम चुकी थी। उस क्राति का केसरिया रग फीका पड चुका था। पुन मानव समाज धर्म के आधार पर खण्ड-खण्ड हो गया था। जैनधर्म कुछ वैश्य व कुछ राजवशी लोगो तक ही सीमित रह गया था। विशाल नदी सूखकर छोटी-सी तलैया वन गई थी।

ओसवाल सघ की स्थापना

आचार्य रत्नप्रभसूरि ने इस धार्मिक-जडता को समाप्त करने का पुन एक भगीरथ प्रयत्न किया। एक साहसिक और ऐतिहासिक कदम उठाया। अलग-अलग वर्गो मे बटे मानवो को पुन व्यवहार एव विचारशुद्धि के आधार पर सगठित किया, एक झडे के नीचे एकत्र किया। इस एकीकरण मे, या व्यवहार-शुद्धीकरण मे, क्षत्रिय, वैश्य तो सम्मिलित थे ही, ब्राह्मण, और शूद्र भी पूरी स्वतन्त्रता और पूरी निष्ठा के साथ आये। उस समय के क्षत्रियो मे मासाहार व मद्यपान का खूव प्रचार था, इधर ब्राह्मण वर्ग भी इस रोग से अछूता नही था, शूद्र क्षुद्र था ही, उसके लिए मासाहार व मद्यपान कोई बुरा कार्य भी नही था। लुहार, कुम्हार, तेली, आदि निम्न जातियो के मोहल्लो मे घूम-घूम कर उन्हे भी जगाया गया और तमाम जातियो को 'मासाहार व मद्यपान के परित्याग' की शर्त के साथ पुन एक धर्मतीर्थ मे दीक्षित किया गया। ऊच-नीच के समस्त भेदभावो को भुलाकर **'णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण'** के महामत्रोच्चार के साथ सव को 'जैनत्व' की दीक्षा दी गई और 'ओसवाल सघ' की स्थापना हुई। क्षत्रियो के साथ ब्राह्मण और शूद्र भी एक आसन पर आकर वैठे सव मे धार्मिक-वधुत्व का सस्कार जगाया गया, सव मे एक ही धर्मनिष्ठा, एक ही भगवद्भक्ति की लहर पैदा की गई। उनकी धार्मिकता एक थी, मानवता एक थी, नैतिकता का एक ही मानदड था और यहा तक कि उन सबकी सामाजिकता भी एक हो गई। उस ओसिया नगरी मे सम्पन्न होनेवाली धर्मक्राति या व्यहारशुद्धि के तीर्थ मे जो सम्मिलित हुआ वह 'ओसवाल' कहलाने लगा। आज की परिस्थितियो मे इस सामूहिक परिवर्तन व शुद्धीकरण की घटना, जितनी आश्चर्यजनक लगती है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण और रोमाचक भी।

चतुर्वर्णी-सस्कार

'ओसवाल' आज जव अपने इस इतिहास को पढता है, तो अवश्य ही उसका सीना सात्विक गौरव से चार अगुल फूल उठता होगा। वास्तव मे 'ओसवाल जाति' ब्राह्मण और शूद्र की भाति रुढिवादी या परम्परागत जाति नही है, वह एक क्राति का प्रतिफल है, एक परिवर्तन का प्रतीक है। उसकी नसो मे, उसके रोम-रोम मे धार्मिक जागृति, विश्ववधुत्व की चेतना, और व्यवहारशुद्धि की भावना भरी हुई है। इस जाति के रक्त मे क्षत्रिय का तेज और जोश, ब्राह्मण का ज्ञान और गाभीर्य, वैश्य की चतुरता और व्यवहार वुद्धि तथा शूद्र की सेवाभावना एव सहिष्णुता का सस्कार कूट-कूट कर भरा है। मेरे विचार मे यही ओसवाल जाति की सच्ची गरिमा है, सच्ची सपत्ति है और उसका सही ऐतिहासिक रूप है। आज 'ओसवाल' अपने इस गौरव को भूल रहे हैं, और इसीकारण उनकी उन्नति, प्रगति एव समृद्धि के स्रोत पहले से कुछ सकुचित हो गए हैं। कोई कारण नही कि वे यदि अपने गौरव एव सार्व-

जातीय सस्कारो को आज जगाए रखे तो वे किसी क्षेत्र मे पिछड़े हुए न रहे । इस जाति ने वीर योद्धा भी पैदा किए है, चतुर बुद्धिमान मन्त्री व कुशलप्रशासक भी दिए हैं । साहसिक व चतुर व्यापारी तो आज भी अनेक मिलेंगे, तथा दानी, सेवाभावी एव सहिष्णुता के मूर्तिमत अनेक महापुरुषो को भी राष्ट्रीय-जीवन के विकास मे समर्पित किया है ।

अपनी बात

ओसवाल जाति के अतीत मे मैं कुछ इसलिए चला गया हू कि मेरा भी जन्म एक ओसवाल परिवार मे हुआ और उसी 'क्राति भूमि' ओसिया के ही अचल मे ! ओसवाल कहकर मैं अपने को जातीयगर्व से दीप्त नही मानता, किन्तु इसके निर्माण मे कारणभूत रहने वाले सात्विक गुणो का उद्दीपन तो होना स्वाभाविक ही है, और मैं तो मानता हू यदि प्रत्येक 'ओसवाल' अपने अतीत मे झाकने का प्रयत्न करें, इस जाति के आविर्भाव की परिस्थितियो और इसके निमित्तकारणो का कुछ अध्ययन व अनुभव करे तो उसके हृदय मे सहज ही सात्विक व जीवननिर्माणकारी गौरव का उद्दीपन होगा ही, यदि न हुआ तो उसे ठडी मिट्टी मानना चाहिए, उसे मर्त्य (मानव) नहीं, किन्तु 'मृत' कहना चाहिए ।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नरपशु निरा है, और मृतक समान है ।

मेरी जन्मभूमि

'ओसिया नगरी' आज भी एक तीर्थस्थल बना हुआ है । हा, उसका प्राचीन वैभव व समृद्धि तो लुट गया है, किन्तु वहा के खडहर उसकी कहानी अवश्य सुना रहे हैं । जोधपुर से रुणेचा के मार्ग पर यह 'ओसिया नगरी' अवस्थित है, और थली प्रदेश का एक ऐतिहासिक नगर है । इस 'ओसिया' से लगभग १३ मील दूर एक छोटा-सा कस्बा है 'तिवरी' । थली प्रात की प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से भी यह कस्बा काफी सुन्दर व रमणीय है । स्वच्छता व सफाई की दृष्टि से यहाँ की जनता काफी जागरूक है और आधुनिक गति-प्रगति मे भी पीछे नही है । रेलवे स्टेशन, राजपथ (सड़क) बिजली, नलकूप, डाकखाना, टेलीफोन, चिकित्सालय, विद्यालय आदि सभी सुविधाएँ इस गाव मे उपलब्ध हैं । जोधपुर से जेसलमेर को जाने वाली रेलवे लाईन पर मथानिया व ओसिया के बीच 'तिवरी' का रेलवे स्टेशन है ।

पुराने लोगो से सुना है, किसी समय 'ओसिया' एक विशाल नगरी थी, हजारो जैन परिवार यहा रहते थे । और तिवरी उसी का एक मोहल्ला था, जिसे 'तेलीवाडा' कहकर पुकारते थे । पर आज तो यह 'ओसिया' से एकदम कटा हुआ-सा है, समय की आधियो ने दोनो के बीच काफी लम्बा जगल झाड-झखाडो से भर दिया है, रेतीले टीले भी खडे कर दिये है ।

तिवरी किसी समय मे 'ओसवालो की नगरी' भी कहलाती थी । ओसवालो के लगभग ५०० घर यहाँ थे और वे काफी सम्पन्न व उद्योगी थे । माहेश्वरीजाति के भी अनेक परिवार यहाँ रहते थे । जब अकाल, सूखा और तज्जन्य आपत्तियाँ—चोरी-डकैती से इधर का भाग आक्रात हुआ तो लोग इधर से आजीविका व अपनी सुरक्षा के लिए दूर-दूर के प्रदेशो के लिए निकल पडे । जन्मभूमि मनुष्य को प्यारी होती है, पर जब वह उसका पेट भरने मे भी असमर्थ रहे, और अपनी सतान को अपनी गोद मे सुरक्षित भी न रख पाये—तो मनुष्य लाचार होकर उसे छोडता ही है । विलासिता ने शासक वर्ग को इतना अकर्मण्य बना दिया था कि वे अपने जन-धन की अभिवृद्धि तो क्या, पर आततायी वर्ग से

उसकी रक्षा करने मे भी असफल रहा। "बीद के मुह लार टपके तो विचारे जानी क्या करें" शासक ही जब नपुसक बन जाय, और वह शोषक, तथा आततायियो से साठ-गाठ करने लगे तो प्रजा उसके भरोसे अपनी जीवन नैया कैसे छोड सकती है, और कब तक ? यही कारण रहा कि ओसिया और तिंवरी जैसे घने समृद्ध प्रदेश भी उजाड होने लग गये। यहाँ के उद्योगी परिवार अपने जन-धन को लेकर मध्यप्रदेश की हरी-भरी सुरक्षित भूमि की ओर चल पडे। दुर्ग, राजनादगाँव, रायपुर आदि की तरफ जाकर वे बस गये। अनेक परिवार खानदेश व महाराष्ट्र की ओर भी चले गये। और इधर का समृद्ध व सुखी प्रदेश उजड गया। सुन्दरियो की नुपुर झकारो से मुखरित होने वाले गृह-प्रासादो की मुडेरो पर अब उल्लू बोलने लग गये और प्रभुभक्ति के गीतो की ध्वनि व शख-घटारव से प्रतिक्षण निनादित रहनेवाले जिनमदिर भी सुनसान हो गये। यही तो स्थिति का परिवर्तन है। कबीर ने कहा है—

सातों स्वर जहाँ गूँजते होते थे रग-राग।
वे मन्दिर खाली पडे बोलन लागे काग।

अकाल की भीषण काली छाया कुछ वर्षों बाद कम हुई, चोर-डकैतो का आतक भी हलका हुआ तो पुन कुछ परिवार अपनी जन्मभूमि की ओर लौट आये। पर पहले जैसी समृद्धि पुन नही लौटी। दुर्ग, राजनांदगाँव आदि नगरो मे बसे हुए तिंवरी के सैकडो जैनपरिवार आज यदि पुन अपनी जन्म-भूमि को लौट आये तो सभवत वह प्राचीन वैभव एकबार पुन विहस उठे और इस नगर को 'राजगृही' बना दे, पर यह कल्पना मधुर भले ही हो, सभव नही है। फिर भी तिंवरी मे पुन काफी रौनक हो गई। यहाँ के दो विशाल जैन मन्दिर अपनी प्राचीन गरिमा के साथ आज पुन गध-धूप से सुवासित है, वहाँ प्रात साय आज भी घटारव सुनाई देता है जिसमे भक्ति और प्राक्तन गरिमा की ध्वनियाँ गूजती रहती हैं। यहाँ पर दो जैन स्थानक भी है, और कई प्राचीन उपाश्रय भी!

मेरे जन्म के समय तिंवरी मे अच्छी समृद्धि थी। व्यापार भी काफी अच्छा चलता था। जैन परिवार सम्पन्न तो थे ही, उनमे धार्मिक भावना व साधु सतो की सेवा की लगन भी बहुत थी। हरे-भरे उद्यान मे, फले-फूले वृक्षो पर पक्षीगण आते ही है, मधुर फूलो का रस लेने मधुकर भी माधुकरी करते ही है, भक्तजनो की श्रद्धा और भावना से खिंचे मुनिगण भी नगर को पवित्र करते रहते हैं। इसी कारण सत-सतिया प्राय इस नगर को पावन करते रहे हैं और श्राद्धजनो की भक्ति से प्रसन्न होकर इसे जैन आगमो मे प्रसिद्ध **'तुगिया नगरी'** से उपमित करते रहे है। वास्तव मे किसी नगर की समृद्धि वहाँ के विशाल प्रासादो व लबे-चौडे बाजारो से नही आकी जाती। श्रद्धालुजनो की धर्मभावना, सतो की सेवा व जनता की करुणामयी प्रवृत्तियो से ही वहाँ की समृद्धि का असली पता चलता है,और यही तो नगर की सच्ची श्री-शोभा है। 'जिस नगर मे देव-गुरु की भक्ति होती हो, अतिथियो का आदर-सत्कार होता हो, और प्रत्येक नगरवासी परस्पर प्रेम से एक दूसरे का कल्याण चाहता हो वही नगर आदर्श नगर है।" बुद्ध की इस उक्ति मे उस समय तिंवरी एक आदर्शनगर था ऐसा पुराने लोगो से सुनने पर ज्ञात होता है।

मेरे माता-पिता

तिंवरी के जागीरदार पुरोहित थे जो कि जोधपुर के राजाओ के 'राजगुरु' माने जाते थे। वे जनता के सुख-दुख के लिए स्वय चिंतित रहते थे और हर बात मे जनहित का ध्यान रखते थे।

३

'पुरोहित' शब्द आज रूढ हो गया है, यदि इस शब्द का सही अर्थ देखा जाय तो वास्तव मे जो जनता के हित को सबसे आगे (पुर) रखे वही पुरोहित कहलाता है। पर आज अपना ही हित आगे (पुर) रखने वाले पुरोहित अधिक मिलते है इसी कारण पुरोहित शब्द अपने आदर्श को खो चुका है, और एक जाति मे रूढ हो गया है।

ओसवालो की सैंकडो उपजातियां भी वन गई थी, जिनमे एक थी धाडीवाल। जातियो के ये विचित्र नाम किस कारण से कब पडे—इसका भी यदि अनुसंधान किया जाय तो अनेक रोचक व ऐतिहासिक बातें सामने आ सकती हैं, पर यह खोज आज तक नही की गई, और काल की परतो के नीचे, अनेक ऐतिहासिक तथ्य दब गये। खैर धाडीवाल जाति के वहाँ अनेक परिवार रहते थे और प्राय उद्योगो व राजकीय सेवाओ मे लगे हुए थे। इस परिवार के पुरखाओ ने प्रारम्भ से ही जागीरदार पुरोहित जी का विश्वास प्राप्त किया था, उनके कोठार (भण्डार) को सभालने की जिम्मेदारी भी उन पर ही थी। इसीकारण धाडीवाल परिवार का उपगोत्र 'कोठारी' भी हो गया।

धाडीवाल (कोठारी) परिवार मे श्रीयुत जमनालालजी एक मधुर स्वभाववाले, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति हुए हैं। उनकी धर्मपत्नी का नाम था तुलसीबाई। जमनालालजी के तीन पुत्र थे—धनराजजी, फूलचन्दजी और मिश्रीमल (मैं—मधुकर मुनि)[1]। जमनालाल जी के बडे भाई बगतावरमलजी के कोई पुत्र नही था, इसकारण उन्होने धनराज जी को गोद (दत्तक) ले लिया। फूलचन्दजी का आयुष्य बहुत कम था, बचपन मे ही वे दिवगत हो गए। माता-पिता के हाथो मे मैं अकेला था, इसलिए सहज ही उनका समस्त दुलार-प्यार मुझ पर केन्द्रित हो गया। मेरा वर्ण गौर था, सहज चचलता और नटखट पन भी था इसकारण मेरी बालक्रीडाओ से उनके हृदय को और भी ज्यादा आनन्द और प्रसन्नता मिलती।

बचपन मे सत् संग का रग

बच्चो को खाने-पीने और खेल-कूद का जितना शौक होता है, कहानी सुनने का शौक भी उससे कम नही होता। दादी, नानी की कहानियां कभी-कभी मिठाई से भी ज्यादा मीठी लगने लगती है। कुछ बच्चे तो कहानी के लिए खेल-कूद भी छोड देते हैं। मुझे भी कहानी का बहुत गहरा लगाव था। कही गीत होते, गायन वगैरह गाया जाता, या कथा-कहानी सुनाई जाती तो मैं सब कुछ छोड-छाड कर घटो वहां जम जाता। न भूख सताती, न प्यास। न खेलने की ललक उठती और न कुछ याद आती। मैं कभी-कभी खुद भी स्तोत्र या भजन वगैरह गाता था। स्वर मेरा मीठा था। इसलिए लोगो को अच्छा लगता, सभी ओर से मेरा उत्साह बढाया जाता।

मुझे जहां तक याद है—कहानी एव सगीत के शौक ने ही मुझे स्वामीश्री जोरावरमल जी म० एव स्वामी श्री हजारीमलजी म० के चरणो मे लाकर उपस्थित कर दिया था।

तिवरी मे आचार्य श्री जयमलजी म० की सम्प्रदाय के अनुयायी जितने परिवार थे वे सभी पूज्यवर स्वामीजी श्री शोभाचन्द्रजी म० व स्वामी श्री जोरावरमलजी म० के प्रति ही अपनी गुरुश्रद्धा रखते थे। जयगच्छ के वे दोनो विशिष्ट और प्रभावशाली सत थे। दोनो मुनिराजो मे अनुपम आत्मीयता

---

१ जन्मतिथि—वि० स० १९७० मार्ग शीर्षशुक्ला १४, दिनाक १२।१२।१९१६ शुक्रवार।

थी। स्वामीजी शोभाचन्द्र जी महाराज उन दिनो स्वर्गवासी हो गये थे। वे क्रियानिष्ठ तो थे ही, किन्तु विद्वत्ता भी उनकी अनुपम थी। स्वामीजी जोरावरमलजी महाराज जैन आगमो के मर्मस्पर्शी ज्ञाता थे और सुधार प्रिय सत माने जाते थे। सप्रदायो मे परस्पर प्रेम व सद्भाव वढाने के पक्षधर थे। उनकी वाणी मे एक चुम्वकीय आकर्षण था जो मुझ जैसे अवोध वालको के मन को भी अपनी ओर खीचता रहता। चेहरे पर हमेशा एक मुस्कराहट खिली रहती, जो निकट मे आनेवाले को कुछ क्षणो मे ही अपनत्व के रस से सरावोर कर डालती।

स्वामीजी के एक प्रमुख शिष्य थे स्वामी श्री हजारीमलजी म०। उनका हृदय वडा कोमल और दयार्द्र था। वाणी मीठी और मुद्रा सदा मधुर हास्य से विकस्वर! यदि श्री जोरावरमलजी म० के निकट मे पितृत्व की स्नेहानुभूति मिलती, तो स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज के पास मातृत्व का मधुर वात्सल्य! उनका सगीत वडा ही सुमधुर था। स्वर मे जैसे मिश्री घोल दी हो और हृदय मे जैसे ममता का अमृत छलक रहा हो—ऐसा अनुभव होता। हम छोटे-छोटे वच्चे उनके निकट जाकर वैठ जाते और कहानी सुनाने का आग्रह करते। नानी की कहानी से भी अधिक प्यारी, अधिक रोचक लगती थी उनकी कहानिया। वे हमे भजन भी सिखाते, स्तोत्र भी और साथ मे गा-गाकर। मुझे सगीत से अधिक लगाव था, कहानी से भी, इसलिए मैं रातदिन उनके पास ही वैठता। माता-पिता दोनो के स्नेह व वात्सल्य की पूर्ति वहा हो जाती। मेरा उनके प्रति अधिक अनुराग हुआ और जव तक वे तिंवरी मे विराजमान रहते वस मेरा घूमचक्कर वही लगता रहता।

मै गुरु, तुम चेला

वचपन मे मुझ मे अनुकरणवृत्ति अधिक थी। वैसे तो वालक सहज ही अनुकरणप्रिय होता है पर मुझमे अपनी अवस्था को देखते हुए अनुकरण के सस्कार कुछ अधिक थे और इस कारण कुछ उच्च सस्कार भी मुझ मे जगने लगे।

स्वामी श्री जोरावरमल जी जव तिंवरी के स्थानक मे प्रवचन करते और श्रावक लोग उनके समक्ष हाथ जोडे वैठे रहते तथा "खमा वापजी! अमृत वाणी" आदि शब्दो के साथ वाणी झेलते तो यह दृश्य मुझे वडा ही अच्छा लगता। स्थानक के वाहर मैं भी वच्चो को इकट्ठा करके धूल का एक चबूतरा जैसा वनाता, उस पर स्वय वैठ जाता और वच्चो को कहता—"सुनो! मैं वखाण दे रहा हू। मैं तुम्हारा गुरु हू तुम सव मेरे चेले वनो और 'खमा वापजी' वोलो!"

मेरी यह वाललीला देखकर कुछ लोग विगड जाते, स्वामी जी के पास मेरी शैतानी की शिकायत भी कर देते, पर स्वामी जी हस देते—वे मेरी इन लीलाओ मे छिपे सस्कार की गहराई को पकडने की चेष्टा करते, शायद उन्होने चन्द्रगुप्त मौर्य की वाललीला की वह कथा भी एक दो वार सुनाई, जब वच्चो को एकत्र कर वह उनका राजा वनता और उन्हे सिपाही वनाकर आज्ञा किया करता। मेरी मा ने यह कथा सुनी तो उसका खून सवा सेर वढ गया, उसका कमल-सा खिला चेहरा मुझे याद है, जव स्थानक से प्रसन्नता मे उमगती हुई निकली और मेरे पास आकर हसती हुई वोली—"चल! उठ! हो गया बहुत वखाण देना! अव घर चल!"

मैंने अकड कर कहा—"नही। मैं वखाण दे रहा हू, घर नही जाऊगा।"

माताजी ने कहा—"ओह! घर नही जायेगा तो कहा जायेगा?"

मैंने उत्तर दिया—"गुरु महाराज के पास !"

मा ने कहा—"अच्छा तो चल, गुरु महाराज के पास ही जाकर बैठ जा !"

इस बात पर मैं सहमत हो गया, खडा हुआ और बोला—एक शर्त है—"गुरु महाराज के पास जाकर तो बैठ जाऊगा, लेकिन फिर घर नही आऊगा " मेरी मा पहले तो हस पड़ी, लेकिन फिर उदास-सी हो गई, पता नहीं मेरा घर नही जाने का कथन उसे बुरा लगा हो, पर कान पकड़कर उसने मुझे उठा दिया और गुरु महाराज के चरणो मे लाकर बिठादिया, । "गुरुदेव ! यह आपका चेला ! बाहर जाकर अभी से सबका गुरु बनना चाहता है !"

मैं कई बार ऐसी बाल-लीला किया करता था ।

दोनों ओर प्रीत

स्वामी जी जब लिवरी से विहार करते तो न केवल श्रावक-श्राविकाओ के चेहरे पर उदासी छा जाती, किंतु छोटे-छोटे बच्चो को भी ऐसा लगता जैसे कुछ सूना-सूना हो गया हो, माता-पिता कही अकेले छोडकर चले गये हो । और मुझे तो सचमुच ही बहुत उदासी आ जाती । जब गुरुदेव आते तो उन्हे लेने बहुत दूर तक सामने जाते और मन नाच उठता था । जब तक वे हमारे गाव मे रहते बहुत ही प्रसन्नता और उमग रहती थी, मन फुदकता रहता, उनके व स्वामीश्री हजारीमल जी म० के साये से दूर नही जाते थे । किंतु जब उनके विहार की घडी आती तो आंखे भीग जाती थी, भीतर से मन होता—इन्ही के साथ-साथ मैं भी चला जाऊ, घर छोडकर इन्ही के साथ रहू, जहा वे जाये साथ-साथ जाऊ ! इस अनुराग व आकर्षण का कारण यह नही था कि घर मे मुझे कोई प्यार-दुलार की कमी थी ।

माता-पिता का प्यार भी बहुत था, और खाने-पीने की भी कोई कमी नही थी, पर पता नही क्यो, अन्तर् का अनुराग स्वामी जी की ओर सदा ही बढता गया ? मैं तब तो क्या, पर आज भी उसका कुछ विश्लेषण नही कर पाता हू कि मेरा रुझान उनकी ओर क्यो हो गया ? पूर्व जन्म के सस्कार और अनुराग ही शायद इसका मुख्य कारण रहा हो । मुझ पर चढे इस सत्सग के रग को देखकर कुछ लोग कहने भी लगे—'मिश्री' तो साधु होगा ।" वहा के कुछ प्रमुख श्रावक तो शायद इस बात से मन मे अधिक प्रसन्नता और कुछ गौरव भी अनुभव करने लगे कि उनके गाव का एक बालक गुरुदेव का शिष्य बनेगा, शिष्य ही नही, किंतु उनके मन मे इससे दूर की कल्पनाएं भी उठने लगी, वे शायद सोचते थे—गुरुदेव की गादी का उत्तराधिकारी भी यही हो । पता नही कैसे, पर उन श्रावको के मन मे ऐसे विचार आते थे, वे कुछ सभावनाए जरूर देख रहे थे । ऐसा बाद मे मुझे सुनने-समझने मे आया । खैर कुल मसला यह था कि गुरुदेव के प्रति मेरे मन मे अत्यधिक आकर्षण बढ गया था, और गुरुदेव के मन मे भी कुछ ऐसा जरूर होगा—क्योकि "**दोनो ओर प्रीत पलती है—पतंगा जलता है तो लौ भी जलती है ।**"और गुरु-शिष्य का यह अन्योन्य-स्नेहाकर्षण देखकर चतुर श्रावक कुछ भविष्य की कल्पना न कर सके यह भी कैसे सभव हो ? बनिया आंखो की सैन मे समझता है हवा को पकडता है ।

माताजी को भी वैराग्य

मैंने साधुपन लेने की बात कब और क्यो निकाली इसका ठीक-ठीक स्मरण नही हैं । मुझे वैराग्य भी, जिसे 'वैराग्य' सज्ञा दी जाती है, कैसे हो गया, मैं नही जान पाता, पर लगता है इसमे मेरी माता जी ही मुख्य कारण रहीं हो । माता पुत्र को वैरागी बनाकर दीक्षा के लिए प्रेरित करे ऐसे प्रसग कम सुनने मे आते हैं

अधिकतर माताए पुत्रो के वैराग्य की बात सुनकर मूर्च्छा खाकर गिर पडनेवाली ही मिलती हैं। देवकी गजसुकुमाल की वात सुनकर, धारिणी मेघकुमार की दीक्षा का सकल्प सुनकर मूर्च्छित होगई और आसुओ से आचल भिगो लिया—यह तो जरूर पढने को मिला है, पर पुत्र को दीक्षा के लिए प्रेरित करें—ऐसा प्रसग कम ही सुना है। इस सन्दर्भ मे मैं अपने आपको भाग्यशाली पुत्र मानता हू कि जिसकी मा, मोह और ममता की मूर्ति-मा, पुत्र को स्नेह भी दे और विरागी वनने मे सहयोग भी !

बात यह थी कि स्वामीश्री जोरावरमलजी की प्रमुख शिष्या थी महासती सरदारकु वरजी। वे वडी शान्त, विचक्षण और व्यवहारकुशल थी। श्री पानकु वरजी, जमनाजी आदि उनकी अनेक शिष्याए थी। वर्तमान मे भी महासती कानकवर जी एव परमविदुषी श्री उमरावकु वरजी 'अर्चना' आदि उनकी गौरवमयी परम्परा को आगे बढा रही है। हा, तो महासती सरदारकु वरजी आदि की यह भावना थी कि 'मैं' पूज्य गुरुदेव के चरणो मे शिष्य बनू और उनकी गौरव-गरिमा मे चार चाद लगानेवाला सिद्ध होऊ ! साध्वी श्री जी ने मुझे सीधी सयम की प्रेरणा कभी नही दी। वे जानती थी कि सतान को मनोनुकूल रूप मे ढालनेवाली माताए ही हैं। माता सतान को महावीर और बुद्ध के रूप में गढ सकती है, शिवाजी, प्रताप और गाधी के सस्कार माताओ की ही देन थे। सतान तो एक फूल है, जिसकी जड माता है, माता के मन और विचारो का प्रतिविम्ब ही तो सतान के जीवन मे झलकता है। अत उन्होने मेरी माता जी के हृदय मे वैराग्य के सस्कार जागृत करने का प्रयत्न किया। और इसमे उन्हे वहुत ही शीघ्र आशातीत सफलता मिली। महासती जमनाजी, इस कार्य मे विशेष सफल सिद्ध हुई। माताजी उन्ही के पास अधिक बैठती-उठती थी। अत वे प्रतिक्षण मनोवैज्ञानिक रूप मे उनके मन मे ससार त्याग की भावना को जगाती रही। इसका परिणाम मुझ पर होना ही था। माता जी ने जिस पथ को अपने लिए कल्याणकारी समझा उस पथ पर अपनी सतान को भी साथ मे चलाने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। उन्होने मुझ से कहा—वेटा ! मैं तो ससार त्याग कर साध्वी बनना चाहती हू। तेरी क्या इच्छा है ?

मैंने कहा—मा ! तुम तो मेरे ही मन की बात कह रही हो ? गुरुदेव श्री के सम्पर्क मे आने पर मेरा भी मन ऐसा ही होता है कि मैं हरदम उनके चरणो मे रहू। कभी एक क्षण भर भी उनसे दूर न हटू। मा ! मुझे स्वामी जी इतने अच्छे लगते हैं कि क्या कहूँ ? उनके पास जाने पर

मा के मुह पर प्रसन्नता चमक उठी थी, वह बीच ही मे वोली—कैसा लगता है ?

सच वताऊ मा ?

हा, वेटा ! सच-सच बता ! झूठ क्यो बतायेगा ? क्या किसी का डर है ?

तू नाराज तो नही हो जायेगी ?

"नही !" उसने मेरे सिर पर हाथ फिराया। मैंने कहा—"ऐसा लगता है कि वस उन्ही का चेला वन जाऊ "फिर न तू याद आती है और न और कोई !" मा ने मुझे वडे स्नेह से दुलारा। मुझे ऐसा लगा कि मा मेरी वात से विलकुल सहमत है।

मेरे वैराग्य की वात इसप्रकार मेरे ही मुह से पहली बार निकली, वह महासती जी के पास पहुची और फिर गुरुदेव के पास ! इसमे न केवल वहा के श्रावको को ही प्रसन्नता हुई, किन्तु महासती

और गुरुदेव भी इस प्रसन्नता मे साथ थे। लोगो की नजर अब मुझ पर टिक गई थी। शायद मैं उनकी नजर मे कोई 'होनहार' लगा हू।

पहला निष्क्रमण

मेरी उम्र तब सिर्फ सात वर्ष की थी। वि० स० १९७७ मे गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज ने तिवरी मे ही चातुर्मास किया। चातुर्मास मे मुझे इनके निकट रहने का, सगीत, स्तोत्र व कुछ कथा—कहानिया—सीखने-सुनने का अवसर मिला। उम्र की दृष्टि से मैं कुछ अधिक सयाना था, ऐसा लोग कहते थे। जल्दी ही कुछ सीख लेता, समझ लेता। पर, फिर भी सात वर्ष का बालक था, देहात मे रहता था, वहा स्कूली शिक्षा भी तब नाम मात्र की थी। मुझे जो कुछ सीखने को मिला वह गुरुदेव के ही निकट।

मेरे विषय मे लोगो मे कुछ कानाफूसी भी होती थी, कुछ लोग मेरा साधु बनना ठीक नही समझते थे। उनका कहना था कि बडा लडका गोद चला गया, मझला भगवान के घर चला गया, अब छोटा लडका साधु बन जायेगा तो बाप का नाम कौन चलायेगा? बस, इसी बात को लेकर वे इस हठ पर थे कि मिश्रीमल को साधु नही बनने देना है। शायद उन्होने यह नही सोचा कि यदि तीसरा बेटा भी दूसरे बेटे की राह पर चला गया होता तो फिर बाप का नाम कौन चलाता? पर आम लोगो मे इतनी विचार चेतना कहा होती है?

लोगो की इस कानाफूसी से गुरुदेव सतर्क हो गये थे और तिवरी के प्रमुख श्रावक लोग भी चौकन्ने थे। इसलिए उन्होने एक उपाय सोचा कि साप भी मर जाय लाठी भी न टूटे। समाज मे आपस मे व्यर्थ ही कोई शोरगुल या विवाद खडा न हो, और मिश्रीमल की दीक्षा भी हो जाय। इसी कारण एक दिन वर्षावास के अन्तिम दिन, मुझे व मेरी माता जी को तिवरी से बाहर ले जाया गया। हम लोग रात के समय ऊट की सवारी पर बैठे और उस ठडी रात मे चलते हुए सीधे जोधपुर ले आये गये। हमारे साथ भानीरामजी चौधरी भी थे।[1] जोधपुर मैंने पहली बार देखा था, बड़ा सुन्दर और रमणीय नगर लगा। जोधपुर से रेल द्वारा हमे खजवाना स्टेशन पहुचना था, रेल रवाना होने मे काफी समय था, इसलिए हम लोग स्टेशन पर ही जसवतसराय मे ठहर गये। जसवतसराय मे रहने की व जल आदि की अच्छी व्यवस्था थी। यात्रियों की सुविधा के लिए वहां नल लगे हुए थे। मैंने 'नल' अपने जीवन मे पहली बार देखा, पहले तो आश्चर्य हुआ—"इसमे पानी कौन डालता है?" मैंने भानीरामजी से पूछा? उन्हें मेरे भोलेपन पर हसी भी आई होगी, पर सब कुछ समझाया। मैंने भी नल के पानी से जीभर किलोलें की। रेलगाडी मे भी मैं पहली बार बैठा था इसलिए सब कुछ बडा अजीब-सा, नया-नया कुछ विचित्र-सा लग रहा था। मैं कुतूहल के साथ सब देख रहा था।

गाडी खजवाना स्टेशन पर पहुची। वहा से बैलगाडी मे बैठकर हम लोग रूण[2] पहुँचे।

---

१ श्री भानीरामजी चौधरी स्वामी श्री जोरावरमलजी की सेवा मे रहते थे। वे सतो के भक्त और बडे वफादार व्यक्ति थे। उनकी प्रामाणिकता व सच्चरित्रता के कारण लोगो मे उनके प्रति काफी श्रद्धा व विश्वास था। स्वामी ब्रजलालजी की दीक्षा के पहले से ही वे गुरुदेव की सेवा मे रहते आए थे। वि० स० २००५ मे उनका देहान्त हुआ!

२ रूण का रेलवे स्टेशन खजवाना ही है।

मुझे मामा मिल गये

रूण हमे किसलिए लाया गया है—यह बात तब मेरी समझ मैं नही आई थी। मुझे सिर्फ इतना ही वताया गया कि यहा तुम्हे कुछ दिन रहना है। रूण के प्रमुख श्रावक थे कनीरामजी जुगराजजी। वे पूज्य गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज के फूफी के वेटे भाई होते थे। उस क्षेत्र मे वे वडे ही प्रभावशाली व सम्पन्न व्यक्ति थे। सम्पन्नता के साथ-साथ उनमे स्वधर्मी स्नेह एव धर्मश्रद्धा भी कूट-कूट कर भरी थी। पूज्य गुरुदेव के अनन्य भक्त थे। वल्लारी (मैंसूर) मे उनका काफी लवा-चौडा व्यापार चलता था, और देश मे भी वे सामाजिक कार्यो मे खर्च-वर्च अच्छा करते थे।

कनीरामजी के पाच पुत्र थे—हरखचन्दजी, रावतमलजी, धनराजजी, हस्तीमलजी और वस्तीमलजी। जुगराजजी के चार पुत्र थे—हमीरमलजी, मोतीलालजी, केवलचन्दजी और पारसमलजी। रूण मे दोनो भाइयो की बडी-वडी हवेलिया थी और काफी भरा-पूरा परिवार था। हमे उन्ही के घर पर ठहराया गया। कुछ ही दिनो मे हम उस परिवार मे गहरे घुल-मिल गये। मेरी माताजी उस परिवार की वेटी मानली गई और मैं दौहित्र!

जुगराजजी की पत्नी का स्वभाव वडा ही स्नेहशील था। वे मुझे वहुत प्यार करती थी, पुत्र से भी अधिक! उनके स्नेह की स्मृतिया आज भी जव उभरती हैं तो लगता है—रक्त के सम्वन्ध से भी धर्म का सम्वन्ध अधिक गहरा और अधिक पवित्र होता है। वे मेरी माताजी को नणदवाई कहती थी। मैं उन्हे मामीजी कहा करता था। कनीरामजी और जुगराजजी के सभी पुत्रो को मैं मामाजी कहता था और वे सव मुझे भानजे की तरह ही मानने लग गये।

वोथराजी की ललकार

तिंवरी से अचानक निकल जाने पर पीछे कुछ लोगो ने मेरे विषय मे खोजवीन शुरू की। मेरे वडे भाई धनराजजी को भी उकसाया गया। उन्हे पता चला गया कि मैं रूण मे हू। तो धनराजजी को लेकर परिवार के कुछ लोग रूण आये। इन लोगो मे एक व्यक्ति थे रिखवदासजी! वे वोली व व्यवहार मे वडे उग्र स्वरूप के थे, वात-वात पर गर्म होना और असभ्य व्यवहार करना उनकी आदत थी! सभी लोगो ने मिलकर मुझे व मेरी माताजी को वापस तिंवरी चलने का आग्रह किया। माताजी ने स्पष्ट इन्कार कर दिया तो रिखवदासजी विल्कुल असभ्यता पर उतर आये। कनीरामजी आदि ने उन्हे वहुत समझाया पर लातो के देव वातो से कैसे मानते?

रूण मे उस दिन चोथमलजी वोथरा भी 'चदावतो का नोखा' से गुरुदेव के दर्शन के लिए आये हुए थे।[1] उन्होने जव यह रकझक और असभ्य व्यवहार देखा तो वे वीच मे ही आये रिखवदासजी को

१ रूण के पास ही एक गाव है—'चदावतो का नोखा। श्रीचोथमलजी वोथरा वही के सपन्न प्रतिष्ठित व प्रभावशाली श्रावक थे। वगाल मे उनका पाट का व्यवसाय था, व्यापारी व सरकारी क्षेत्रो मे उनकी वहुत गहरी धाक थी। गुरुदेवश्री के प्रति वे अनन्य निष्ठावाले श्रावक थे। व्यापार के लिए वगाल जाते समय, और वापस देश आते समय गुरुदेव के दर्शन को ही वे मुहूर्त मानते थे। दर्शन कर मगलपाठ सुनकर ही वे वगाल की ओर कदम वढाते थे और वापस आकर पहले गुरुदेव के दर्शन कर फिर घर जाते थे।

सवोधन कर वे वोले—"भाई साहव ! ओसवाल खानदान के आदमी भी यदि ऐसा गवारू व्यवहार करेगे तो फिर दूसरे

रिखवदासजी उनसे भी अकड गये । इस पर वोथराजी ने अपना वह राजसी-रूप दिखाया और ऐसा करारा जवाव दिया कि सभी की वोलती वन्द हो गई, चुपचाप सव उलटे पावो चले गये और फिर कभी मुझे लेने वे नही आये !

दो पाटो के वीच

अव मैं वरावर गुरुदेव के साथ ही रहता और अध्ययन करता था । वि० स० १९७८ मे गुरुदेव का चातुर्मास हरसोलाव मे हुआ । मेरा अध्ययन चल रहा था, माताजी भी महासती सरदारकु वरजी के पास धर्म-ध्यान करती रहती थी ।

एक दिन प्रात काल प्रतिक्रमण का समय था, पूरव दिशा मे लालो विखरी हुई थी—सूर्यदेव के चरण अभी आकाश पथ पर टिके नही थे । उस समय मेरे वावा (वडे पिता) रतनलालजी और नाना रावतमलजी आदि कुछ सज्जन आये । वे मेरी तरफ कनखियो से देख रहे थे । मैं उन्हे देखते ही समझ गया, वे किसलिए आये है ! मैंने तुरन्त दौडकर माताजी को (सतीजी के स्थान पर) उनके आने की सूचना दी । तव तक वे लोग मेरा पीछा करते हुए वही आ गए । जैसे वाज चिडिया पर झपटता है, एक आदमी मुझ पर झपटा और मेरा एक हाथ पकडकर घसीटने लगा । माताजी को पता नही कहा मे इतना साहस आ गया, मेरा दूसरा हाथ उन्होने पकड लिया और सिहनी की तरह ललकारने लगी—"छोड दो मेरे वच्चे को ।"

उन्होने छोडा नही, इधर माताजी ने भी खूव कसकर पकड लिया । उस समय मेरी हालत वडी विचित्र हो रही थी । जैसे—दोनो ओर से खिचा जा रहा था, मैं घवरा गया, पसीना भी आने लगा । वे फिर भी मुझे घसीट कर घर (तिवरी) ले जाना चाहते थे । माताजी ने पुन कडककर कहा—"मेरे वेटे को छोड दो ! जहा मैं रहूगी वही यह रहेगा, आप लोग व्यर्थ मे हमे कष्ट न दीजिए ।"

इस खीचातानी मे शोरगुल हुआ, काफी लोक वहा जमा हो गए । भीड मे हमदर्द तो कम होते है, अधिकतर लोग तमाशवीन ही होते है । लोग खडे-खडे देख रहे थे, कानाफूसी भी कर रहे थे, पर किसी ने मुझे उन हठधर्मियो के शिकजे से छुडाने की कोशिश नही की ।

सतीजी के स्थान से लगता ही ठाकुर मालसिहजी का रावला (महल) था । वे मिलिट्री मे ऊचे पद पर थे और छुट्टी मे यहा आये हुए थे । इस हीलो-हुज्जत को देखकर वे भी वहा आये । उनका लवा-चौडा कद और प्रभावशाली व्यक्तित्व वैसे ही अपराधी को अधमरा कर देता था । जव उन्होने वुलद आवाज मे ललकारा—क्या हो रहा है ? तो अपने आप मेरी एक ओर की पकड ढीली हो गई,मैं हाथ छुडाकर मा के आचल से सट गया । ठाकुर साहव ने ऐसी झिडकी दी कि आने वाले एक-एक करके खिसकने लगे । मिनटो मे ही सव लोग नौ-दो ग्यारह हो गए, मैं और मेरी माताजी आश्वस्त होकर ठाकुर साहव के पास आये, सव घटना सुनाई ।

खिसियानी विल्ली खभा नोंचे

वहा से मुह की खाकर भी परिवारवाले व कुछ नारद लोग चुप नही वैठे । वे आगे जोधपुर तक पहुंचने की ताक-झाक करने लगे ।

जोधपुर की राजगद्दी पर उन दिनो महाराज उम्मेदसिंहजी विराजमान थे। किन्तु महाराज नावालिग थे, इस कारण राज्य का सचालन महाराज तखतसिंहजी के पुत्र सर प्रतापसिंहजी वहादुर कर रहे थे। सर प्रतापसिंहजी पर अग्रेजी रहन-सहन का गहरा रग जमा हुआ था। राजघराने की प्राचीन परम्परा को वे रूढिया मानते थे और उन्हे तोडने मे भी हिचकते नही थे। उनके इस स्वभाव पर राजस्थान के कवि (वारठ कवि भोपालदानजी) लोगो ने काफी चुटकिया भी ली हैं।[1]

---

१ सर प्रतापसिंहजी के सम्वन्ध मे ये कुछ दोहे आज भी प्रसिद्ध है—

१ महाराज जसवतसिंहजी के स्वर्गवास के वाद एक दिन सर प्रतापसिंहजी राजमहलो का मुआयना करने निकले। महलो मे महारानियो के सुहाग के कपडे पेटियो मे भरे सड रहे थे। प्रतापसिंहजी ने देखा तो कहा—"ये मूल्यवान कपडे पडे-पडे वेकार ही सड रहे हैं—इन्हे नीलाम कर दिया जाय।" वस, हुक्म होते ही कपडो की पेटिया चोहटे मे आकर नीलाम होने लगी। राजदरवार के पुराने वफादारो का दिल भीतर ही भीतर टुकडे हो रहा था, पर सर प्रतापसिंहजी के सामने मुह खोलने की हिम्मत किसमे थी? तभी कवि भोपालदानजी ने आकर सरप्रतापसिंहजी के सामने यह दोहा पढा—

पडदै थी पटरानिया, मिलता नहीं मा-वाप।
घर-घर रुलसी घाघरा, पातल रै परताप!

कवि की ललकार ने प्रतापसिंहजी को कपडो की नीलामी वद करने के लिए वाध्य कर दिया।

२ एकवार सर प्रतापसिंहजी ने हुक्म दिया—शहर मे कुत्ते वहुत ज्यादा हो गए है, इन्हे पकड-पकड कर शहर से वाहर ले जाकर खत्म कर दिया जाय।

वस, कुत्तो पर तो मौत वरस पडी। रोज गाडिया भर-भर कर कुत्ते मारे जाने लगे। यह हत्याकाड देखकर कवि का हृदय सिहर उठा। वे सीधे पहुचे दरवार मे और यह दोहा सुनाया—

आड़ा फिर मारचा गडक, गाडा भर-भर आप।
पाडा! कठै उतारसी, इता चीकणा पाप!

इसी के साथ उनकी वेषभूषा पर भी कुछ फव्तिया कसने लगे—

पाला जावै पावटै, शिर टोपी पग वूंट।
भल जाया तखतेसरै टोली टलिया ऊंट।
दाढी मूंछ मुंडाय कै टोप धारियो टोट।
वादर री पोशाक मे लारै घटै लगोट!

इन चुभते हुए दोहो को सुनकर प्रतापसिंहजी वौखला उठे और वोले—"अरे! जल्दी से एक गधा लाओ! इस कलमुहे को उस पर विठाकर देश से वाहर निकालो।"

कवि ने अपने पर कहर वरपता देखकर कहा—"महाराज आपके पूर्वजो के तवेले मे तो अनगिन घोडे रहते थे, प्रसन्न होकर २-४ घोडे वख्शीस कर देते। अव आपको तो गधे भी ढूढने पडेंगे, फिर इतना कष्ट क्यो? हम पैंदल ही चले जायेंगे।"

४

तो निवरी के पुरोहित ठाकुर केसरीसिहजी सर प्रतापसिहजी के निकटतम व्यक्ति थे। प्रताप सिहजी उन पर काफी विश्वास भी करते थे। वे प्रकृति से भी बडे सात्विक व सज्जन थे। मेरे परिवार वालो को जबसे हरसोलाव मे ठाकुर मालसिहजी ने डाट लगाई तो वे फिर उधर तो नही आये, पर "खिसयानी बिल्ली खभा नोचे"। वे लोग ठाकुर केसरीसिहजी के पास पहुचे और बोले—"हमारे परिवार मे यह एक ही लडका है, दीखने मे बडा होनहार है, और भावी पीढी का दारमदार उसी पर है, अभी ७ वर्ष का ही है, किन्तु उसे साधु बनाया जा रहा है। यदि वह साधु बन गया तो परिवार की भावी परम्परा का ही आधार टूट जायेगा, अत आप इस दीक्षा को रुकवाइए।"

ठाकुर केसरीसिहजी को सब जानकारी एक तरफ से ही मिली थी, उसी आधार पर उन्होंने जोधपुर मे सर प्रतापसिहजी से बात कर स्वामी जोरावरमलजी के पास होने वाली मेरी दीक्षा पर प्रतिबध लगवा दिया। सरकारी आदेश मेडता के मजिस्ट्रेट श्री बादरमलजी गदैया के पास पहुचा कि—"हरसोलाव मे मुनि जोरावरमलजी के पास तिवरी के एक अवयस्क बालक मिश्रीमल की दीक्षा हो रही है, उसे तुरन्त रोक दिया जाय।"

मजिस्ट्रेट ने हरसोलाव सूचना भेजी और हमे कचहरी मे बुलाया गया। मैं और मेरी माताजी दोनो ही कचहरी मे उपस्थित हुए। हमारे साथ उस क्षेत्र के अनेक प्रमुख व्यक्ति भी आये थे। तिवरी से मेरे परिवारजन भी उपस्थित हुए। मुझे बडा आश्चर्य हो रहा था—एक ही परिवार के, एक ही घर के और एक ही गुरु के शिष्य हम परस्पर वादी-प्रतिवादी के रूप मे कचहरी मे खडे थे। मामला चलता रहा, दोनो ओर की बहस, दलीलें आती रही और कचहरी मे पेशिया पडती रही। हमारे साथ जो सज्जन पेशियो पर आते थे, उनमे मुख्य थे—श्री पूनमचन्दजी काकरिया (हरसोलाव) सूरजराजजी बोथरा (बडलू-भोपालगढ) बगतावरमलजी कोठारी (गोठन) सेठ कन्नीरामजी कटारिया (रूण) और ठा० (चारण) गोरखदानजी (सिहू)

लबी बहसो के बाद मजिस्ट्रेट श्री गदैयाजी ने फैसला दिया—"अभी हरसोलाव मे कोई दीक्षा नही हो रही है। बालक मिश्रीमल व उसकी माता धर्मध्यान करने के लिए ही यहा आये हुए है।"

मजिस्ट्रेट की दृष्टि मे : मेरा भविष्य

मजिस्ट्रेट ने जिस दिन हमे कचहरी मे बुलाया उसके एक दिन पहले मुझे मेरी माताजी के साथ उन्होंने अपने घर बुलवा लिया था। मेरी माताजी से पूछा—बेटी! क्या तुम स्वय दीक्षा लेना चाहती हो?

माता जी ने बडी नम्रता के साथ कहा—आप मेरे पिता के तुल्य हैं, और फिर न्याय की तुला भी आपके हाथ मे है, इसलिए मैं आपको अपना धर्मपिता ही मानती हू। पिता जी! मेरे मन मे बहुत दिनो से वैराग्य है, जब से इसके पिता जी का स्वर्गवास हुआ है, मेरा यह वैराग्य और भी गहरा हो गया। मेरे भाव व सस्कार मेरे पुत्र मे भी जगे है, यह भी अपने-आप साधुपन लेने की बात कहने लगा है। इसलिए मैं और यह (मेरा पुत्र) दोनो ही हम दीक्षा लेना चाहते हैं।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—बेटी! तुम दीक्षा ले रही हो, यह तो ठीक है, पर यह बालक तो अभी आठ साल का ही है, यह दीक्षा को क्या समझता है, इसे दीक्षा क्यो दिला रही हो?

मा—पिता जी! आपका कहना ठीक है। आपको पता है मेरे तीन पुत्र हुए। बडा लडका मेरे जेठजी के नाम पर उनकी विधवा पत्नी को गोद दे दिया। मझला कभी का चल बसा है। "यह एक

मात्र मेरा सहारा है, मेरी आखो का तारा है।" मैंने देखा—कहते-कहते माता जी की आखें गीली हो गई थी। अपने आचल से आखे पोछते हुए वे बोली—एकबार मेरे घर पर कोई अल्हड फकीर आया था। उसने इस वालक को देखकर कहा—"वेटी! तेरा यह लडका होनहार है, यदि तू इसे किसी साधु सन्यासी को समर्पित कर दे तो यह साधु समाज मे एक चमकता हुआ सितारा निकलेगा। इसके लक्षण वडे ही जोरदार है।"

उस फकीर की भविष्यवाणी पर मुझे विश्वास होगया। फिर धीरे-धीरे यह अपने आप ही साधु वनने की वात कहने लगा है, तो मैंने सोचा इसमे वे ही सस्कार जग रहे हैं तो क्यो इसे ससार के चक्र मे फसाऊ, इसकी इच्छा के अनुसार मैंने इसे स्वामी जोरावरमल जी के चरणो मे समर्पित करने का निश्चय कर लिया है।

मजिस्ट्रेट साहब ने मुझ से भी अनेक प्रश्न किये, शादी कर घर-गृहस्थी बसाने की और ससार के सुख की बात भी कही, और भी अनेक प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछे। खाने-पीने आदि के मधुर प्रलोभन भी बताये।

मैं वच्चा ही था, यद्यपि मैं बुद्धू नही था, वैसे काफी समझता भी था और उनकी वातो के उत्तर भी देता जा रहा था, भले ही उनमे तर्क और अनुभव का उतना बल नही था, पर, मेरी हृदय की सरल और सहज भावनाओ को मजिस्ट्रेट साहब ने अच्छी तरह पकड लिया। मैंने आखिर मे एक ही उत्तर दिया—"मुझे साधुओ का जीवन वहुत अच्छा लगता है। मैं तो साधु ही वनना चाहता हू।"

मेरी इस सरल और स्पष्ट वात का उनके मन पर बहुत प्रभाव पडा। वे सामुद्रिक शास्त्र के भी विशेषज्ञ थे, मेरे शरीरगत लक्षणो को विशेष ध्यान से देखने के वाद वे भी मेरे विचार से, मेरी माता जी के विचार से सहमत हो गये कि—यह लडका होनहार है और साधु बनकर अच्छा तेजस्वी बनेगा। उन्होंने कहा वेटी! तुम दोनो दीक्षा भले ही लो, पर अभी कुछ दिन रुकजाओ! एक दो साल अभी इसे शिक्षित करो, वाद मे दीक्षा देना! मेरी माता जी ने हाकिम साहव की वात स्वीकार करली। इसके दूसरे दिन ही उन्होने अपना यह निर्णय जोधपुर भेज दिया कि—"हरसोलाव मे अभी कोई दीक्षा नही हो रही है, फिर उसे रुकवाने का प्रश्न ही नही उठता।"

मजिस्ट्रेट साहब गुरुदेव के पास

इस विवाद मे भी मेरे परिवारवालो को मुह की खानी पडी। इसलिए अव वे निराश होकर हाथ मलते रहे। निर्णय देने के कुछ दिन बाद मजिस्ट्रेट श्रीगदैयाजी गुरुदेव की सेवा मे आये। मैंने देखा—गुरुदेव के प्रति गदैयाजी के मन मे भी अत्यन्त श्रद्धा व भक्ति का स्रोत उमड रहा था। दीक्षा विवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—गुरुदेव! आप कोई विचार न करे। अपने मारवाड मे कहावत है—"राडा रोवती रैवै, पावणा जीमता ई रैवै।" अच्छे कार्य मे अडचन डालने वाले अपनी आदत से वाज नही आते, पर अच्छे काम कभी रुकते भी नही, "मिन्नी रा वाछ्या छीका नी टूटै" आपका यह शिष्य (मेरी ओर सकेत करके) वडा होनहार निकलेगा। उत्तर देने मे अभी भी वडा तेज है, और इसकी वोली भी वहुत मीठी है। आपकी गौरव-गाथा मे चारचाद लगायेगा। हा, अभी इधर का वातावरण कुछ गदा कर दिया गया है, इसलिए मारवाड की हद मे इसको दीक्षा न देवें तो ठीक रहेगा, फिर एक दो साल मे सव वाते ठडी पड जायेगी, नई वात नौ दिन।

गुरुदेव ने कहा—हाकिम साहब ! आपकी परख सही है। मैंने भी यह सोचा था कि इसकी दीक्षा मरुधरा से कही बाहर ही होनी चाहिए।

गुरुदेव के विचार जब हरसोलाव के ठाकुर किसोरसिहजी को मालूम हुए तो वे बोले—"गुरुदेव ! यदि आप इसे हरसोलाव मे दीक्षा देना चाहे तो सरकारी हुक्म की कोई भी उलझन नही आयेगी, मैं जोधपुर जाकर सब कुछ ठीक कर आता हू।"

गुरुदेव का व्यापक प्रभाव

ठाकुर साहब का जोधपुर मे बहुत अच्छा प्रभाव था, वे राज्य मे द्वितीय श्रेणी के प्रभावशाली जागीरदार थे और गुरुदेव के भक्त भी ! उस क्षेत्र मे ओसवालो के सिवाय राजपूतो (जागीरदारो) और चारणो पर भी गुरुदेव का बहुत अच्छा प्रभाव था। हरसोलाव के पास ही एक गाव है 'सिहु'। 'सिहु' मे चरणो की ही प्रमुख बस्ती है। ओसवाल जाति के घर यहा बहुत कम है, अधिकतर चारणो के ही घर है। यहा के चारण अपने युग के अच्छे विद्वान, कवि, बात करने मे सुदक्ष एव चतुर थे। चारण जाति को कविता तो जन्म घूटी के साथ ही मिल जाती है, इसलिए चारण और कवि—यह एक दूसरे का पर्याय-सा बन गया है। श्री हीरादानजी, प्रभुदानजी, शिवकरणजी, पीरदानजी आदि सिहु के प्रमुख व इस क्षेत्र के प्रतिष्ठित व्यक्ति गिने जाते थे। अभी वर्तमान मे भी शिवकरणजी (द्वितीय) कृपारामजी, हिंगराजदानजी, उदयसिहजी, खैंगारदानजी आदि अच्छे कवि व वाक्पटु व्यक्ति हैं। इन सब के मन मे गुरुदेव के प्रति बडी गहरी श्रद्धा थी, वे गुरुदेव के पास व्याख्यान आदि मे भी आते थे, व दिन भर प्राय काव्य एव तत्वचर्चा चलती ही रहती। इन लोगो का भी आग्रह था कि यदि गुरुदेव की इच्छा हरसोलाव मे दीक्षा देने की हो, तो कोई भी शक्ति रोक नही सकेगी, हम स्वय सर प्रतापसिह जी से आज्ञा लिखवाकर लायेंगे। किन्तु गुरुदेव जितने तेजस्वी थे उतने ही शन्तिप्रिय, गम्भीर एव दूरदर्शी भी। उन्हे सरकार के साथ विवाद मे उलझना उचित नही लगा। अत स० १९७८ का चातुर्मास सम्पन्न कर गुरुदेव ने कुचेरा व नागौर की तर्फ विहार कर दिया। मैं वैरागी था, गुरुदेव की सेवा मे साथ-साथ रहता था। जहा भी जाता—लोगो का स्नेह व प्रेम मुझ पर बरस पडता था।

गुरुदेव कुचेरा पधारे। कुचेरा उस समय भी समृद्ध व सम्पन्न क्षेत्र था और वहा के श्रावक गुरुदेव व अन्य साधु-सतो के प्रति अत्यन्त भक्तिभाव रखते थे। मुझे याद है वहा के भक्तजन मुझे भी अपने हाथो मे उठाए फिरते थे। जहा-जिधर भी देखा, आखो मे स्नेह और वात्सल्य बरसता था। कुछ सज्जनो का स्नेह तो आज भी मन मे गुदगुदी-सी पैदा कर देता है, जिनमे मुख्य है—श्रीचन्दजी भडारी, तेजमलजी लोढा, जवरचन्दजी गेलडा व सेठ मोहनमलजी चोरडिया, इन सज्जनो ने मेरी शिक्षा-दीक्षा मे जो महत्वपूर्ण भूमिका निबाही और जो स्नेह-सद्भाव दिया, वह मैं जीवन मे कभी भूल नही सकता। शास्त्र मे श्रावक को माता पिता की उपमा दी है वह इन श्रावको मे मैंने यथार्थ होती देखी, और न सिर्फ मेरे लिए ही, किन्तु प्रत्येक साधु-सन्त के प्रति उनका यही व्यवहार रहा है—जो विशेष अनुकरणीय व प्रशसनीय है।

दीक्षा की तैयारी

नागौर क्षेत्र मे विचरण कर गुरुदेव ने वि० स० १९७९ का चातुर्मास ब्यावर मे सम्पन्न किया। चातुर्मास के पश्चात् मेरी दीक्षा की बात पुन कुछ गति मे आई। माता जी चाहती थी कि

दीक्षा मे अधिक विलम्ब नही होना चाहिए। **शुभस्य शीघ्रं** पता नही, कव क्या नया विघ्न खडा हो! **श्रेयांसि बहु विघ्नानि**—शुभ कार्य मे विघ्न आ ही जाते है। अत वे गुरुदेव से वार-वार प्रार्थना करती रहती थी। मरुधरा का वातावरण कुछ अनुकूल कम था, वैसे तो उस घटना को भी १-१॥ साल गुजर गया, किन्तु फिर भी गुरुदेव उधर दीक्षा देना नही चाहते थे। इन्ही सव विचार-चर्चाओ के वीच मेरी दीक्षा के लिए अजमेर जिला का 'भणाय' क्षेत्र चुना गया। और दीक्षा तिथि वैशाख शुक्ला दशमी (दिनाक २६।४।१९२३) निश्चित कर दी गई।

अजमेर जिला मे दीक्षा होने का एक और विशिष्ट कारण भी था, जिसकी चर्चा यहा अप्रासागिक नही होगी।

अजमेर (मेरवाडा) प्रात मे स्वामी श्री नानकरामजी महाराज सा० की सम्प्रदाय का अच्छा वर्चस्व था। उनकी परम्परा मे उन दिनो स्वामी श्रीधूलचन्दजी महाराज व स्वामी श्रीपन्नालालजी[1] महाराज साहव अच्छे प्रभावशाली व वर्चस्वी सत माने जाते थे। स्वामी जी श्रीपन्नाललजी महाराज साहव आगमो के गम्भीर अध्येता, थोकडो के ज्ञाता व ओजस्वी वक्ता तथा समाज-सुधारक सत थे। श्रावको मे तत्त्वज्ञान की विशेप जिज्ञासा पैदा कर उन्हे स्वाध्यायशील वनाने मे आपका अपूर्व योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। हा, तो इन दोनो सत-रत्नो से मेरे गुरुदेव के घनिष्ट सम्वन्ध थे। इनके आग्रह ने ही मेरा दीक्षा महोत्सव 'भणाय' मे सम्पन्न करने का मार्ग प्रशस्त किया।

उत्सव का आयोजन

'भणाय' एक छोटा कस्वा था। मेरे दीक्षा उत्सव की तैयारी मे लोगो ने पूरे गाव को सजाया। श्रीसघ ने समस्त श्रीसघो को निमत्रण भेजे। दीक्षा के एक मास पूर्व ही वान बैठा दिया गया। रोज वदोरे निकलने लगे। उस समय एक तो मैं वैरागी था और दूसरे थे श्रीशकरलालजी। मेरी उम्र दस साल की थी, शकरलालजी लगभग १५ वर्ष के थे। वे स्वामी श्री धूलचन्द जी महाराज के शिष्य वने। दीक्षा के कुछ वर्षों वाद ही उनका स्वर्गवास हो गया था।

दीक्षा उत्सव मनाने मे रोज रात को विदौरिया निकलती थी, कई गावो की भजन मडलिया वहा आकर जम गई थी। उनके सगीत की ध्वनियो से धरती और आकाश गूज उठते थे। रात की विंदोरी मे रोशनी के हडो की व्यवस्था अधिक पनपी नही थी, इस कारण खवास लोग मशालें जलाकर रोशनी देने का काम करते थे। कई वैंड व देशी ढोल आदि की भी अच्छी व्यवस्था की गई थी। वहा एक वाकिया वजानेवाला ऐसा होशियार था कि वह प्रत्येक राग को अपने वाकिये मे उतार देता था। जव वह वाकिया वजाता तो लोग पापाणवत् खडे रह जाते। उसके स्वर मे कुछ अजीव मिठास था, वातावरण मे एक नया समा वध जाता था।

भणाय के राजा उस समय अवयस्क थे, अत वे वाहर पढाई करते थे। स्थानीय शासन राजमाता जी स्वय सम्भालती थी और व्यवस्था के लिए एक कामदार (दीवान) नियुक्त थे जो ओसवाल भडारी थे। इस उत्सव मे राजमाता जी एव कामदार साहव का वहुत सहयोग रहा। दरवार का एक घोडा था जिसका नाम था 'हनुमान।' लवे कद का, सुडौल और पवन सा चचल। मैंने आज तक वैसा

---

१ स्वामीजी श्री का अभी कुछ वर्ष पूर्व विजयनगर मे स्वर्गवास हो गया है।

तेज घोडा नही देखा। हमारी विंदोरी मे 'हनुमान' आता था। यद्यपि उस पर सवारी करना हमारे वस का रोग नही था। इसलिए वह सदा कोतल ही रहता था। हमारे चढ़ने के लिए राजकीय घुडसाल से दो अन्य घोडे आते थे। कभी-कभी घोडो पर चढने की वात को लेकर हम दोनो वैरागियो के वीच खीचातानी भी हो जाती थी। वात इतनी खिंच जाती कि विन्दोरी का समय भी निकल जाता पर हम अडे खडे रहते कि नही—चढूगा तो इसी घोडे पर। मेरा यह वालहठ लोगो को अटपटा भी लगता, पर मुझे याद है, मैं वालक होने के कारण व मेरी वालसुलभ मीठी वोली और तीखी जिद्द के कारण आखिर विजय मेरी ही होती थी। मुझे वडी चमकीली-भडकीली सुनहली किनारीदार वेशभूषा से सजाया जाता और रात को मशालो की मन्दी रोशनी मे वह चमकती रहती। मेरे ललाट पर तारा-सुलमो का टीका भी निकाला जाता जिससे पूरा ललाट भर जाता। उस चमकीली वेशभूषा मे घोडे पर वैठे और विन्दोरी मे चलते स्वय मुझे भी ऐसा एहसास होता कि शायद मैं किसी राजकुमार से क्या कम हू ? देखनेवाले लोगो को भी शायद् ऐसा ही लगता था।

झमकूवाई की स्मृति

मुझे सजाने मे माता जी से भी अधिक झमकूवाई रस लेती थी। उनका स्नेह भी मा की तरह ही मुझे मिला था। वे तिवरी के लोढा परिवार की वेटी व पारख परिवार की वहू थी। वाल्यअवस्था मे ही उन्हे पति वियोग देखना पडा, पश्चात् वे भी प्राय. जीवन धर्मध्यान मे विताती थी। उन्होंने व मेरी माताजी ने तिवरी मे महासती श्री सरदारकुवरजी के पास साथ ही दीक्षा गहण की थी। उनका सयमजीवन वडा ही महत्वपूर्ण रहा। व्यावर मे ४५ दिन का सथारा कर वे अभूतपूर्व समाधि-मरण को प्राप्त हुई। वैरागी अवस्था मे उनसे जो स्नेह-वात्सल्य मिला, उसकी मधुर स्मृतिया आज भी मन मे ताजा है।

व्यावर निवासी श्री निहालचन्द जी मोदी की माताजी का भी स्नेहसिक्त व्यवहार, लाड-प्यार मुझे अभी तक याद आता है।

डकैती का भय : अभय बना

हा, तो अव 'भणाय' मे चारो ओर चहल-पहल वट रही थी। वाहर से दूर-दूर से दीक्षा देखने को उत्सुक जनता उमड रही थी। उस प्रसग पर अनेक मुनिवरो का भी वहा समागम होगया था, जिनके नाम मुझे स्मृति मे हैं—

स्वामी श्रीजोरावरमलजी महाराज, ठा० ३

स्वामी श्रीधूलचन्दजी महाराज, ठा० ४

स्वामी श्रीफतहचन्दजी महाराज, ठा० २

आगममर्मज्ञ मुनि श्रीकन्हैयालालजी उस समय वैरागी थे और वे वही उपस्थित थे।

महासती मरदारकुवरजी, ठा० ४ भी वही विराजमान थी। अन्य कौन-कौन सतिया जी थी यह मुझे आज स्मरण नही आरहा है।

उन दिनो ठा० मोडसिहजी ने कई जगह डाके डाले थे, दूर-दूर तक उनके नाम का आतक था। उनके डेरे भी भणाय के आस-पास लगे थे। हजारो लोगो के आने की सूचना उन्हे थी और इस मौके का पूरा लाभ उठाने की योजना भी उन्होंने वना ली थी।

दीक्षा महोत्सव के सयोजको को जव 'भणाय' के आस-पास मोडसिंहजी की हलचलो का पता चला तो उनमे बैचेनी छागई। दीक्षा प्रसग पर हजारो स्त्री-पुरुप वाहर से आयेंगे, ऐसे अवसर पर यदि डकैतो ने हाथ मार दिया तो लाखो का नुक्शान तो होगा ही, साथ ही समाज के सिर पर कलक का टीका भी लग जायेगा। दूर-दूर तक स्थानीय सघ की वदनामी भी होगी—इस कारण सयोजक चिंतित थे, यद्यपि पुलिस का प्रवन्ध काफी अच्छा कर लिया था, परन्तु मोडसिंह जी जैसा खू खार व्यक्ति उस पुलिस प्रवन्ध से भय खानेवाला नही था।

पाच शस्त्रधारी पुलिसवर्दी मे अचानक एक दिन भणाय की सीमा मे पहुंचे, जव वे लोग भणाय के वाहर एक कुवे पर ठहरे थे तो गाव मे इनके आने की खवर पहुची कि पाच शस्त्रधारी (डाकू) आगए है। यह खवर विजली की तरह गाव मे फैल गई, चारो ओर भय छा गया। कार्यकर्ताओ के हाथ-पाव फूल गये। कुछ लोगो को यह भी आशका हुई कि ये लोग तिवरीवालो की तरफ से भेजे गये हैं, जो वैरागी को पकडकर ले जायेंगे। चू कि वे लोग कोर्ट मे हार चुके हैं, अत अव यही दाव खेलकर दीक्षा रोकने का प्रयास कर रहे होगे? यो कई अफवाहे, कई आशकाए एक साथ तूफान की तरह सवो को मथने लगी। पूज्य गुरुदेव तथा स्वामी श्रीपन्नालालजी भी जरा सशकित होगए और सावधानी के तोर पर श्रावको को सकेतित किया। श्रावक लोग अजमेर कमिश्नर साहव व सेठ उम्मेदमल जी लोढा को सूचित कर आशकित घटना को टालने के लिए तुरन्त अजमेर जाने की तैयारी करने लगे। स्थानक के वाहर सभी लोग तैयारी मे खडे ही थे कि पाचो शस्त्रधारी गुरुदेव के चरणो मे पहुचकर भक्तिपूर्वक वन्दना करने लगे। लोग चकित थे, भयभीत भी! गुरुदेव ने जैसे ही उन लोगो को पहचाना, हसकर वोल पडे—ओह! क्या इन्ही लोगो से आप भय खा रहे हैं?

लोगो ने जरा आश्वस्त होकर कहा—हा!

गुरुदेव मुस्कराते हुए वोले—भाई! ये तो लुटेरे नही, तुम्हारे रक्षक वनकर आये हैं। जानते हो ये लोग सिहु के जागीरदार है और नाम है—ठाकुर रुद्रदानजी, ठा०गोरखदानजी, ठा० रामकरण-जी, ठा० पीरदानजी और ठा० किरपाराम जी।

गुरुदेव के मुख से जैसे ही समागत शस्त्रधारियो का परिचय हुआ, भय की जगह प्रसन्नता और आनन्द की लहर दौड गई। सभी लोग वडे प्रेमपूर्वक उनसे मिले!

ठा० रुद्रदानजी ने गुरुदेव से पूछा—वात क्या है? ये लोग हमे देखकर डर क्यो गये? गुरुदेव ने ठा० मोडसिंहजी की डकैती की आशका की वात कही। मोडसिंह जी व रुद्रदानजी हमजोलिए दोस्त थे। ठा० रुद्रदानजी गुप्तरूप से मोडसिहजी से मिलने को गये। मोडसिंहजी ने उन्हे देखकर चकित, होकर पूछा—आप इधर कैसे?

ठा० रुद्रदानजी ने गुरुदेव के दर्शन व दीक्षा प्रसग की चर्चा की? मोडसिंह जी हसकर वोले—हम भी इसी मोके की ताक मे घूम रहे थे ?

ठा० रुद्रदान जी—थे अव तो नही न ?

ठा० मोडसिंह जी—लगता है अव मेरी साध पूरी नही होगी, जव ये आपके गुरु हैं तो उनपर हाथ डालना मेरे लिए तो महापाप है! मित्र के गुरु को मेरे ही गुरु समझता हू। हा, मैंने तो सुना था—ये वनियो के गुरु है, और सोचा था इस सुनहरे मौके को हाथ से नही जाने देना है। रुद्रदान जी! आपतो

उनके वाद डा० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री भी मेरे अध्यापक रहे। मैंने न्याय एव दर्शन का अध्ययन उनसे ही किया। उनका भी स्नेह एव सद्भाव मुझे वरावर मिलता रहा।

मेरा अध्ययन चल ही रहा था कि—**श्रेयसि बहु विघ्नानि**—अच्छे कार्य मे विघ्न आते हैं, अचानक गुरुदेव अस्वस्थ हो गए। मेरे अध्ययन की गति कुछ मद पड गई। वि० स० १९८६ ज्येष्ठ शुक्ला ४ को भु वाल मे गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया। मेरा मन अत्यन्त खिन्न व उदास हो गया। पिताजी की मृत्यु के समय मुझे इतना दु ख नही हुआ, शायद कभी भी मुझे इतनी उदासी नही आई, जितनी गुरुदेव के स्वर्गवास के समय आई। स्वाभाविक भी थी, उनके हाथो मे मेरा जीवन था। माता-पिता ने मुझे सिर्फ जन्म दिया था, मेरे जीवन का निर्माण तो वे ही कर रहे थे। मैं स्वय को आश्रय, हीन-सा अनुभव करने लगा।

हाँ, मेरे मन की यह रिक्तता और उदासी अधिक समय तक नही टिक सकी। मेरे वडे गुरु भ्राता पूज्यनीय स्वामी श्री हजारीमलजी एव स्वामी श्री व्रजलालजी ने मुझे वही स्नेह व वात्सल्य दिया जो गुरुदेव से मिलता रहा था। कहावत है—वडा भाई वाप वरावर, मुझे इसकी पूर्ण सत्यता अनुभव हुई। दोनो ही श्रद्धय मुनिवरो ने मुझे पुत्र की भाति, अपने प्रिय शिष्य की भाँति लाड-प्यार दिया, सिर्फ लाड-प्यार ही नही, क्योकि अव मैं किशोर अवस्था मे आ चुका था इसलिए लाड-प्यार के साथ शिक्षा, व्यवहार और निरन्तर कार्यरत रहने की ट्रेनिग भी आवश्यक थी। साधु जीवन की मर्यादाओ मे रहकर मैं अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करू और योग्यता प्राप्त करू, इसकी उन्हे वडी चिंता रहती थी।

मुझे याद है, अपने अध्ययन के लिए मुझे कभी किसीप्रकार की चिंता नही करनी पडी। अध्यापको की व्यवस्था व विविध प्रकार के प्राचीन नवीन ग्र थो का सग्रह करने मे स्वामीजी स्वय वहुत कुशल थे। इस व्यवस्था मे भी वे हर किसी से नही कहते थे। शिक्षण व साहित्य-सग्रह की अर्थ व्यवस्था मे स्तभ रूप दो व्यक्ति थे। नागौर (मैलापुर-मद्रास) निवासी सिभूमलजी वैद मुथा और कुचेरा (साहुकार पैठ, मद्रास) निवासी सेठ मोहनमलजी चौरडिया। सेठ सिभूमलजी वैदमूथा भद्र प्रकृतिवाले सचमुच शभु ही थे। पूज्य गुरुदेव के प्रति उनकी एकनिष्ठावाली श्रद्धा थी। सेठ मोहनमलजी की उदारता, सरलता व सतजनो के प्रति भक्ति श्रावक समाज के लिए अनुकरणीय है ही। समाज मे शिक्षा-प्रसार के लिए उनके हृदय मे वडी तडफ है। शिक्षा व साहित्य के लिए उन्होने हजारो (शायद लाखो) का दान भी किया है, और आज भी कर रहे हैं।

लगभग २०-२२ वर्ष के अध्ययन-अनुशीलन से मेरे ज्ञान मे कुछ प्रौढता व अनुभव मे परिपक्वता भी आने लग गई। सस्कृत-प्राकृत व हिन्दी मे काव्यरचना भी करने लगा था। वैसे कोई व्यवस्थित काव्य मैंने नही वनाया, पर छिट-पुट भजन, स्तवन, स्तोत्र आदि काफी वनाए। स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज का कहना था—कविता हमारे जयगच्छ की वपौती है, पूज्य जयमलजी महाराज की मप्रदाय मे अनेक आचार्य व मुनिवर अच्छे कवि हुए हैं। स्वय पूज्यश्री जयमलजी राजस्थानी भाषा के प्रौढ कवि थे। आचार्य श्री रायचन्दजी महाराज की कृतिया भी वडी उत्कृष्टस्तर की मानी गई हैं। मैंने राजस्थानी के साथ-साथ सस्कृत-प्राकृत मे भी कुछ रचनाएं की। हा, तव तक प्रकाशन की कोई कल्पना भी मन मे नही थी और न ऐसा वातावरण ही था। काव्य कृतिया—अधिकतर स्तुति-प्रधान या उपदेश-परक ही अधिक रचा करता था।



आचार्यपद : ग्रहण और विसर्जन

जयगच्छ की परम्परा मे आठवे आचार्य थे श्रद्धेय श्री कानमलजी महाराज। वि० स० १६८५ मे उनका स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् नये आचार्य की व्यवस्था नही हुई। स्व० गुरुदेव स्वामी जोरावरमलजी यद्यपि आचार्य नही थे, किन्तु उनका प्रभाव, वर्चस्व व विद्वत्ता किसी प्रकार कम नही थी, यही कारण था कि लोगो को यह अनुभूति भी नही हुई कि आचार्य का निर्वाचन करना चाहिए। उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस स्थान की पूर्ति स्वामी श्रीहजारीमलजी करते रहे, अत तीन वर्ष तक यो ही गाडी चलती रही। वि० स० १६८८ पाली मे छह सप्रदायो का मुनि - सम्मेलन हुआ, उसमे सप्रदाय की सुव्यवस्था के लिए स्वामी श्री हजारीमलजी को प्रवर्तक एव मुनि श्रीचोथमलजी महाराज को मत्री नियुक्त किया गया।

कुछ वर्षो पश्चात् जब मेरा अध्ययन पूर्ण हुआ तो लोगो की नजर मुझ पर टिकने लगी। कुछ श्रावको ने स्वामीजी से कहा भी—अब ये (मैं) सब प्रकार से योग्य हैं तो सप्रदाय का आचार्यपद रिक्त क्यो रखा जाय। लोगो की बात स्वामीजी स्वय भी अनुभव करते थे। पर मेरा स्वभाव कुछ दूसरा था। मैं अनुशासन मे रहना जानता था, पर दूसरो पर शासन करना मेरी आदत नही थी। यह मेरे स्वभाव की विचित्रता ही थी कि मैं बडो के साथ ही नही, किन्तु अपने से छोटो के साथ भी बहुत विनम्र, सरल और आत्मीय सम्बन्ध रखता था। ज्ञान की रुचि थी, अध्ययन की लगन थी, पर प्रशासन मे कभी मुझे दिलचस्पी नही रही, इसलिए मैं मानता हू प्रकृति ने मुझे शासक नही, सिर्फ साधक रहने के लिए ही निर्मित किया। पर सम्प्रदाय के ज्येष्ठ मुनियो की इच्छा और वरिष्ठ श्रावको का आग्रह इतना बल पकड गया कि अनचाहे भी मुझे वि० स० २००४ मे जयगच्छ के नोवे आचार्यपद का भार स्वीकार ना पडा। नागौर मे बडा भारी समारोह हुआ और खूब उत्साह व जय-जयकार के साथ मुझे आचार्यपद की चादर दी गई।

भगवान महावीर ने एक वचन कहा है—

महय पलिगोव जाणिय जाविय वदण-पूयणा इह

ससार मे यश-प्रतिष्ठा, वदना और पूजा की भावना एक बहुत बडा दलदल है, जो साधक इसमे फस जाता है, उद्धार होना कठिन है।

पता नही, किन कटु अनुभवो के सदर्भ मे भगवान ने यह सत्य उद्घाटित किया था, पर मुझे ऐसा अनुभव हुआ, वदना-पूजा-प्रतिष्ठा-शासन और प्रभाव जमाने की परिपाटी साधक जीवन के अनुकूल कम है। दूसरो को अनुशासन मे रखना, अपनी सप्रदाय का गौरव बढाना, और दूसरी सप्रदायो को प्रभावहीन करने की चेष्टा- यह सब शातिप्रिय, एकातशील, कम बोलनेवाले और सब के साथ विनम्र रहनेवाले व्यक्ति के लिए बडी ही टेढी खीर है। आचार्यपद पर आसीन होने के बाद मेरा नाम भी 'मिश्रीमल' की जगह जसवन्तमल (यशवत-यशस्वी) कर दिया गया, पर मेरा मिश्री-सा स्वभाव कैसे बदल जाता ? नाम बदल जाने पर भी स्वभाव नही बदला और आचार्यपद का दायित्व उठाने के बाद मेरे अन्तर्मन मे एक बेचैनी, उथल-पुथल और शाति के लिए तडफ मचने लगी। इसमे सप्रदायो की आपसी खीचातानी भी मुझे बडी अप्रिय लगी, फलस्वरूप मैंने आत्मशाति एव सघऐक्य के हित मे आचार्यपद का विसर्जन करने का निर्णय कर लिया। मेरे इस निर्णय से कुछ लोग नाराज भी हुए पर बडे स्वामीजी मेरी बात से सहमत थे और उन्ही के प्रभाव बल पर मैंने आचार्यपद का त्याग कर दिया।

जानते ही हैं – मेरे शिकार तीन ही होते है—महाजन ! सुनार और कलाल ! किन्तु आप के गुरुदेव के लिए मैं अपना तन-धन न्यौछावर कर सकता हू ! आप जाकर गुरुदेव से मेरी भी पावधोक (वदना) कह दीजिए और प्रवन्धको को आश्वस्त कर दीजिए कि मैं स्वय उनकी पहरेदारी करूंगा। यदि किसी की एक तीव (छोटा सा टुकडा) भी चली जाय तो इसकी जिम्मेदारी ठा० मोडसिंह पर रहेगी। मैं स्वय भी वहा उपस्थित होता, लेकिन आप जानते है, लोग मेरे नाम से ही घवराते है, मुझे आया सुनेंगे तो उन्हे यह धसका होगा—डकैती डालने आया हू।"

ठा० रुद्रदानजी मोडसिंहजी का सदेश लेकर गुरुदेव की सेवा मे आये और जब उनका सवाद प्रवन्धको ने सुना तो सर्वत्र हर्ष की लहरे उछल पडी। लोगो ने साक्षात् देखा, धर्म का एव पूज्य गुरुदेव की पुण्यवानी का यह एक चमत्कार ही था जो सिर चढकर वोल रहा था।

इसप्रकार शाति, प्रेम और अभय के वातावरण मे मेरी दीक्षा सम्पन्न हुई। मैंने एक नये जीवन मे प्रवेश किया, असयम से सयम, भोग से योग ओर मोह से वैराग्य की ओर मेरा यह महाप्रयाण था। इसकी गुरुता, गम्भीरता और गरिमा—एकदम अनुभव नही होती, किन्तु ज्यो-ज्यो पथ पर आगे कदम वढते गये, मैं इस जीवन की गुरु-गम्भीरता से परिचित होता गया, ज्ञान का दीपक ज्यो-ज्यो प्रखर प्रभा फैलाता गया, मैंने स्वय को और समस्त अग-जग को उस आलोक मे परखने-निरखने का प्रयत्न किया, करता रहा।

दीक्षा से शिक्षा की ओर

वि० स० १९८० ज्येष्ठकृष्णा प्रतिपदा को गुरुदेव मसूदा पधारे, वही पर मेरी वडी दीक्षा सम्पन्न हुई।

गुरु को कुभार की उपमा दी गई है—

गुरु कुम्हार शिष्य कुंभ है, घड़-घड़ काढे खोट !
अन्तर हाथ सहार दें वाहर वाहै चोट !

शिष्य का जीवन तभी निखर सकता है, जव योग्य गुरु का सगम हो। विना गुरु के न अनुभव मिलता है, न ज्ञान और न मार्ग ! प्राचीन ग्रन्थो मे गुरु को भगवान के समतुल्य माना है। कहा है—**तित्थयर समो सूरी**—आचार्य तीर्थंकर के तुल्य है। उपनिषद् मे भी इसीलिए कहा है—

आचार्यवान् पुरुषो वेद

जिसने गुरु किया वही ज्ञानी वन सकता है।

मैं अपना अहोभाग्य मानता हू कि मुझे एक सुयोग्य गुरु मिले, जो वास्तव मे ही गुरु की गरिमा से मडित थे, मैं अपने को उनका सुयोग्य शिष्य सावित कर सका या नही, इसका निर्णय मैं नही दे सकता, पर हा, मेरा प्रयत्न यही रहा कि गुरुदेव के सानिध्य मे, उनकी आज्ञा और उनकी भावना के अनुरूप मैं अपना जीवन वनाता रहू। दीक्षा के पहले भी कुछ शिक्षा प्राप्त की थी, पर वह एक सामान्य शिक्षा थी, वास्तविक शिक्षा तो दीक्षा के वाद ही प्रारम्भ होती है। कहना चाहिए उस शिक्षा की वर्णमाला का प्रथम वर्ण यदि 'अ' से प्रारम्भ माने तो 'अनुशासन' कहना चाहिए, इसे ही विनय और आत्म-निग्रह के रूप मे समझना होगा। गुरु के प्रति विनय न हो तो शिक्षा प्राप्त नही हो सकती। विनय मे मैं प्रारम्भ मे ही ठीक माना गया था।

अध्ययन का क्रम

उन दिनो अध्ययन के लिए सिद्धान्तशाला जैसी सस्थाओ की व्यवस्था नही हुई थी, यद्यपि यह वहुत जरुरी थी, पर यह आवश्यकता वाद मे अनुभव हुई और कुछ पूर्ण भी हुई। तव तो अध्ययन की स्वतन्त्र व्यवस्था ही करनी पडती थी। गुरुदेव मेरे अध्ययन के प्रति वडे, सजग थे। प्रारम्भ से ही वडे सुनियोजित क्रम से उन्होने मेरे अध्ययन की व्यवस्था की। उनका कहना था कि वचपन-अध्ययन का सर्वोत्तम काल है। इस आयु मे बुद्धि मे कोमलता और ग्रहणशीलता अधिक रहती है। कोई भी वस्तु शीघ्र याद हो जाती है और वह बुद्धि मे जम भी जाती है। इसलिए जितना रटने का, पढने का है वह सव वाल्यवय ८ या १० से १५-१६ वर्ष तक की आयु मे ही हो जाना चाहिए। उसके वाद बुद्धि मे कुछ परिपक्वता आने लगती है, पढे हुए का अर्थ समझने की जिज्ञासा जगती है और दूसरो को वताने की भी। २० से आगे अध्ययन और परिपूर्ण होता है, पढा हुआ, दूसरो को वताने के लिए वोलने के साथ लिखने की भी भावना जगती है, अनुभव और विचार-तरगे उठने लगती हैं, तव लेखनी हाथ मे लेकर विचारो को रूपायित करने की ललक भी जगती है। इस प्रकार यह तीनो वातें क्रमश होनी चाहिए, पहले अध्ययन, फिर भाषण और फिर लेखन! अपने अनुभव के आधार पर निखरा हुआ गुरुदेव का यह निष्कर्ष वडा ही मनोवैज्ञानिक लगता है। तव मुझे भले ही इसमे कोई नवीनता नही लगी हो, पर जव मैंने प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक वेकन की ये पक्तियाॅ पढी तो लगा भारतीय गुरुओ मे और पाश्चात्य विचारको मे कितना मनोवैज्ञानिक साम्य है। वेकन ने कहा है—

रीडिंग मेक्स ए फुलमैन
स्पीकिंग ए परफैक्टमैन
राइटिंग ए एग्जैक्ट मैन

अध्ययन मनुष्य को पूर्ण वनाता है, भाषण उसे परिपूर्णता देता है और लेखन उसे प्रामाणिक वनाता है।

मेरे अध्ययन मे भी गुरुदेव ने प्रारम्भ से इसीप्रकार का सयोजन किया था। मुझे सस्कृत व्याकरण, कोष और आगम पढाने के लिए गुरुदेव ने अनेक उच्चकोटि के विद्वानो को नियुक्त किया था। राजस्थान के ही नही, किन्तु विहार के मैथिल विद्वान् जिनकी विद्वत्ता (व्याकरण और नव्य न्याय के विषय मे) सम्पूर्ण भारत मे प्रसिद्ध है, उन्हे भी बुलाया और साथ मे रखकर अध्ययन कराते रहे। वे स्वय वार-वार मेरे अध्ययन—पठन आदि का निरीक्षण करते। दिन मे पढा हुआ पाठ रात्रि मे पूछते और उसकी शुद्धाशुद्धि का भी विशेष ध्यान कराते।

जैन समाज के धुरधर विद्वान प० वेचरदासजी दोशी को भी मेरे अध्ययन के लिए बुलाया गया, उनके पास से मैंने प्राकृत व्याकरण व जैन आगमो की टीकाए आदि पढी। पडित जी विद्यार्थी के प्रति नरम भी बहुत है और कठोर भी। यदि विद्यार्थी पूर्ण जागरूकता के साथ चलता है, विनय एव विवेक के साथ अध्ययन करता है तो वे इतनी सरलता एव मधुरता के साथ ज्ञानदान करते हैं कि लगता है—ये अध्यापक नही, पिता ही है। किन्तु अध्ययन मे यदि लापरवाही वरती जाय तो वडी डाट भी लगाते है, और फिर उसे पढाना भी वन्द कर देते हैं। उनकी विशेषता है, वे कभी भी अपने को वेतन-भोगी अध्यापक नही मानते, किन्तु विद्यार्थी के सच्चे गुरु के रूप मे ही उसे ज्ञानदान करना अपना पवित्र कर्तव्य व अधिकार समझते है।

५

उनदिनो श्रमणसघ के गठन की वडी गर्म चर्चाए चल रही थी। श्रमणसघ वने, समस्त स्थानकवासी श्रमण एक आचार्य के झडे के नीचे एक ही परम्परा मे आवद्ध हो—चारो ओर यह हवा वन रही थी। मेरे आचार्यपद त्याग से इस हवा को ओर वेग मिला। वि० स० २००९ सादडी मे वृहद् साधु-सम्मेलन हुआ, उसमे समस्त सम्प्रदायो से एक होने का आह्वान किया गया, हमने अपनी सम्प्रदाय का श्रमणसघ मे विलय घोषित कर दिया। फिर एक के वाद एक यो अनेक सम्प्रदायो के गादीधर इस सगठन मे अपना विलय करते गये और "अखिल भारतीय वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसघ" का गठन हुआ। इतिहास मे यह अभूतपूर्व एकता थी। एकता त्याग और वलिदान चाहती है, यदि त्याग वास्तविक न होकर दिखाऊ या जवर्दस्ती परिस्थितियो से विवश होकर किया जाता है तो वह स्थायित्व नही पकड सकता। श्रमणसघ की एकता मे जो सम्प्रदायो व पदो का त्याग हुआ वह हृदय से कम, विवशता से अधिक हुआ, ऐसा मेरा अनुभव है, इसी कारण नारगी की तरह ऊपर से एक दिखाई देने पर भी भीतर मे सव फाके अलग-अलग अनेक वनी रही, और कुछ समय वाद उनमे पुन विस्फोट, अलगाव होना प्रारम्भ हो गया। खैर यह विषय यहा अधिक चर्चा का नही है। हमने अपना विलय विवशतावश नही, किन्तु एकता वनाने के लिए ही किया था और आज भी मैं अतन्र मन से श्रमणसघ की एकता के लिए हर प्रकार का वलिदान करने की भावना रखता हू।

मुनियो का संगम

श्रमण सघ के सम्मेलनो से एक वात वहुत अच्छी हुई। स्थानकवासी परम्परा के अनेक विद्वान, प्रभावशाली सत राजस्थान से दूर, पजाव, हरियाणा, गुजरात, वम्वई के प्रदेशो मे विचरते थे। उनके वे ही क्षत्र थे। राजस्थान उनकेलिए परदेश था और राजस्थानवालो के लिए वे परदेशी थे। इन सम्मेलनो मे विद्वान् मुनिजनो का एक दूसरे से साक्षात्कार हुआ, निकटता स्थापित हुई और राजस्थान मे उनका विहार होने से विचार व ज्ञान का आदान-प्रदान भी हुआ। उनके नये विचारो की हवा ने राजस्थानी मुनियो की परम्परागत विचारश्रेणी को प्रभावित किया और एक युगीन परिवर्तन की दिशा मे मोड दिया। मैं जिन प्रमुख मुनियो के सम्पर्क मे आया, वे हैं शतावधानी प० श्रीरतनचन्दजी महाराज, उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज, कविरत्न उपाध्याय श्रीअमरचन्दजी महाराज आदि। शतावधानीजी महाराज एव उपाचार्यजी महाराज के सान्निध्य मे मैं कम रहा, किन्तु कविरत्न उपाध्याय अमरचन्दजी महाराज का सान्निध्य मुझे वहुत मिला। मैं इसे अपना सौभाग्य ही मानता हू कि उनका स्नेह-सौजन्य मुझे उनके आत्मीय परिवार मे ले गया। उनके सम्पर्क मे मैंने आगमो के भाष्य, चूर्णि आदि ग्रन्थो का अनुशीलन भी किया। उनकी विद्वत्ता वडी गहरी है, सूक्ष्म प्रतिभा, तर्क पटुता और वाक्चातुर्य उनका गजव का है। वे किसी भी वात को जव समझाते हैं तो ऐसा लगता है—एक-एक कली खोलकर रख रहे हैं, गभीर-से-गभीर वात भी हृदयगम हो जाती है। सगठन व समन्वय मे तो वे पुराने व नये के वीच एक सेतु का काम करते हैं। श्रमण सम्मेलनो मे देखा—सर्वत्र उनकी प्रतिभा, समन्वय बुद्धि, मिलन-सारिता का जादू वोल रहा था। उन दिनो मे, आचार्य न होकर भी आचार्य के समान प्रभाव उनका श्रमण सघ पर छाया हुआ था, ऐसा मुझे आज भी याद हैं। छोटो के साथ स्नेह, वडो के साथ विनम्रता, विचारो की स्पष्टता और अभिव्यक्ति की कला—मैंने उनसे सीखने की चेष्टा की। कुचेरा मे वे चिकित्सा के लिए चातुर्मास स्थिर रहे, तव हम वहुत दिन तक साथ रहे थे। कवि श्री जी के पत्रो मे आज भी उन दिनो की मधुर-स्मृतिया यदा-कदा ताजा होती रहती है।

स्वामीजी का महाप्रयाण

वि० स० २०१८ मे मेरे परम श्रद्धेय गुरुभ्राता स्वामीश्री हजारीमलजी महाराज का साया भी मेरे सिर पर से उठ गया। वहुत अल्पकालीन वीमारी के वाद चैत्रकृष्णा दशमी को चादावतो का नोखा मे उनका स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के पहले उन्होने मुझे अनेक शिक्षाए दी थी। उन्हे पूर्ण सतोप था कि स्व० गुरुदेव ने उन्हे मेरी शिक्षा-दीक्षा की जो जिम्मेदारी सौंपी थी वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हुई। मेरे प्रति उन्हे पूर्ण संतोप था, इसलिए प्रसन्नता और निराकुलता के अन्तिम क्षणो मे वे कृतकृत्यता अनुभव करते रहे।

गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात् स्वामी श्री व्रजलालजी का वही स्नेह मुझे मिला, जिससे मुझे वडे स्वामीजी के अभाव को भुलाने मे वडी शक्ति मिली।

मरुधरा के एक तेजस्वी सत का सान्निध्य भी मैं कभी नही भूल सकता। वे हैं मरुधरकेशरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमलजी महाराज। हम दोनो की गुरु परम्परा सहोदर की है, अत प्रारम्भ से ही उनका हमारा अत्यन्त नैकट्य और आत्मीयभाव रहा है। श्री मरुधरकेसरीजी मिश्री की तरह जितने मधुर हैं, उतने ही कठोर भी! अन्याय, असत्य और रूढियो के प्रति वे सदा ही वडे कठोर रहे हैं। किन्तु साथ ही जैसे पत्थर की चट्टानो के वीच मे निर्मल मधुर जलस्रोत छिपा रहता है, वैसे ही उनके हृदय मे असीम प्रेम, स्नेह, सौजन्य और माधुर्य छलकता रहता है। वडे स्वामीजी के स्वर्गवास के पश्चात् तो मुझे उनका स्नेह व सौजन्य वहुत ही मिला हैं। राजस्थान के अचलो मे, शिक्षा, साहित्य आदि के प्रचार मे उन्होने जो भगीरथ कार्य किये हैं, वे न केवल स्थानकवासी जैनसमाज के लिए, किन्तु राजस्थान व मरुधरा के लिए भी गौरव है। मेरा सौभाग्य ही है, कि एक के वाद एक तेजस्वी, वर्चस्वी व स्नेही मुनिवरो का स्नेह, सद्भाव व कृपा मुझ पर वरसती रही है। मैं इस माने मे वडा ही भाग्यशाली रहा हू।

स्वर्गीय स्वामीजी श्री चौथमलजी महाराज के सौजन्यपूर्ण स्नेह का मुझे स्मरण होता है तो रोमाच हो आता है। वे सदा ही मुझ पर प्रेम की वर्पा करते रहे। वर्तमान मे विराजित स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज की स्नेहमयी कृपादृष्टि भी मेरे जीवन का एक सवल वनी हुई है। महासती उमरावकुवरजी 'अर्चना' का सौजन्य व उनका साहित्यिक क्षेत्र मे सहकार भी मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगा।

मेरे अध्ययन के पश्चात् साहित्य-निर्माण मे प० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री, प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल वहन कमला 'जीजी' और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का भी उल्लेखनीय सहयोग मिलता रहा है। कमला जीजी और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' का स्नेह, सद्भाव व सहकार तो आज भी मुझे प्राप्त है। और मैं विश्वास रखता हू कि साहित्य निर्माण की दिशा मे मैंने अभी जो कुछ किया है, उससे अधिक भविष्य मे कर पाऊगा और सभी सहयोगियो का सहकार मिलता ही रहेगा। निर्माण की दिशा मे व्यक्ति अकेला कुछ नही कर सकता, चाहे कितना ही समर्थ हो! अनेक हाथो का सहयोग ही इस रथ को आगे गतिशील वनाए रखता है। स्नेह एव सहयोग मे मुझे विश्वास है, और यही मेरे जीवन की अव तक की पृष्ठ भूमि है।

प्रकाश और माधुर्य का विरल संगम

श्री मधुकर मुनि

□ देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

पण्डित मुनि श्री मधुकर जी स्थानकवासी जैन समाज के एक लब्ध प्रतिष्ठित सन्तरत्न है। उनका वाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व चित्ताकर्षक और मन-मोहक है। मझला कद, गेहुआँ वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाकती हुई तेज आखें, दुवला-पतला मुस्कराता हुआ आकर्षक मुख मण्डल, श्वेत खादी के परिधान से परिवेष्टित शरीर, यह है उनका वाह्य व्यक्तित्व, जिन्हे लोग मिश्रीमलजी 'मधुकर' के नाम से जानते हैं, पहचानते हैं। प्रथम दर्शन मे ही दर्शक भाव-विभोर हो जाता है।

उनका वाह्य व्यक्तित्व जितना दिल को लुभानेवाला, मन को मोहनेवाला है उससे भी वढकर है उनका आन्तरिक व्यक्तित्व। एकवार भगवान् महावीर ने सच्चे साधक के आन्तरिक जीवन का विश्लेषण करते हुए कहा था—'सच्चे साधक का जीवन जैसा भीतर मे होता है, वैसा ही वाहर होता है और जैसा वाहर होता है वैसा ही भीतर।

भगवान् महावीर के उस जीवनदर्शन के अनुसार मधुकर मुनि जी का जीवन एक सच्चे साधक का जीवन है, वे खण्ड-खण्ड जीना पसन्द नही करते। उनके जीवन मे निरन्तर ध्वनित होने वाली सगीत के समान एक लय है, एक रस है, एक तान है, उनके जीवन मे न वनावट है, न दिखावट है और न सजावट है।

सामाजिक मच पर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक अभिनेता की तरह सजावट कर भूमिका अदा करनी पडती है। सस्ती प्रतिष्ठा, और जय-जयकार प्राप्त करने के लिए तिकडमवाजी और न जाने कितने हथकण्डे करने पडते हैं। मैंने मधुकर मुनि जी को अत्यन्त निकट से देखा है, उनमे वह द्वैध, दिखावट और वनावटपन नही है। यह सत्य है कि वे एक सम्प्रदाय के सन्त है, तथापि वे सभी सम्प्रदायो की विशेषताओ का आदर करते हैं। सहिष्णुता व स्नेह के आधार से उन सव मे नैकटच स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं और जन-जन के मन सुसस्कारो को जागृत कर अनैकता व दुराचार व भ्रष्टाचार को हटाना चाहते हैं। अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ यह पूर्ण तथ्य है कि उनमे अपराजेय साहस का भाव है और चिन्तन की गहराई है, दूसरे के मनोभावो को समझने का सामर्थ्य है और अयाचित स्नेहार्द्रता के कारण उनका आन्तरिक व्यक्तित्व और भी अधिक महत्त्वशील हो गया है।

मैं व्यावर, जोधपुर, सादडी, सोजत, साण्डेराव और जयपुर आदि स्थलो पर उनके साथ रहा हू, साथ मे वर्षावास किया है, अनेकवार उनसे विचार-चर्चाए की हैं, मैंने अनुभव किया है कि वे सस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं, प्राकृत-साहित्य के गम्भीर अभ्यासी हैं, और साथ ही काव्य रसिक व काव्य निर्माता भी है। मधुर प्रवक्ता हैं, तथापि उनमे अहकार नही है, उनका केवल नाम ही 'मधुकर' नही है, पर उनका मन भी मधुर है और वचन भी मधुर है, इसी कारण लोग उन्हे 'मिठी मिश्री' भी कहकर पुकारते है। मधुकर मुनि जी तात्विक (विद्वान्) हैं, पर साथ ही सात्विक भी हैं।

मुनि श्री एक प्रभावशाली वक्ता और अच्छे साहित्यकार भी है। उनके प्रवचनो मे, शब्दो का आडम्बर नही होता है और न कला की कमनीयता ही रहती है। वे जो भी बोलते है वह न केवल सरस और सुबोध ही होता है, अपितु उसमे विचारो की स्पष्टता भी होती है। कठिन से कठिन विषय को बहुत ही सीधे-सादे शब्दो मे प्रस्तुत करते हैं। अपनी बात को सरलता से समझाने के लिए कथा-कहानियो का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा मे करते है। उनके कहानिया और रूपक बडे ही रोचक और शिक्षाप्रद होते हे।

वे सदा समन्वय की भाषा मे बोलते हैं, समन्वय की दृष्टि से सोचते है, और समन्वय की दृष्टि से ही लिखते हैं। समन्वयमूलक नीति और रीति से ही वे जन-मन के प्रिय बने है, यही करण है कि वे जो बात कहते हैं वह दूध की तरह सीधी गले के नीचे उतर जाती है। उनकी वाणी मे ओज है, हृदय मे पवित्रता है और साधना मे उत्कर्ष है, उत्साह उनका अनुपम सहचर है।

विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती वेला मे भी वे मानव की असहिष्णु हृदय-भूमि को नैतिक हल से जोतते हैं और उसमे प्रेम और धर्म के बीजो को बोते है। शास्त्रो के निचुडे अर्क से उन्हे सीचते हैं, क्षेत्रज्ञ की तरह उनको रखवाली करते हैं। यही उनके जीवन श्री सफलता की कुञ्जी हैं।

मैंने मुनि श्री के साथ लम्बी विचार चर्चाए की हैं, मुझे अनुभव हुआ कि मुनि श्री प्राचीन परम्परा को उचित महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु उन्हे यह स्वीकार नही है कि प्राचीनता के साथ सत्य का गठबन्धन है और अर्वाचीनता के साथ नही।

वे सर्वथा न प्राचीनता के समुत्थापक हैं और न सर्वथा अर्वाचीनता के ही सम्पोषक है। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता दोनो को समान महत्त्व देते हैं, बशर्ते कि उसमे सच्चाई और औचित्य हो। सच्चाई रहित न प्राचीनता उनके लिए उपादेय है और न अर्वाचीनता ही। सच्चाई प्राचीनता मे भी हो सकती है और अर्वाचीनता मे भी। प्राचीनता मात्र हेय नही है और न अर्वाचीनता मात्र उपादेय ही है, दोनो मे हेय और उपादेय का अश रहा हुआ है। प्राचीनता के हेय अश को छोडने मे और अर्वाचीनता के उपादेय अश को स्वीकार करने मे कभी भी नही सकुचाते है। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता को नही, पर समीचीनता को मानते हैं।

मुनि श्री के जीवन की महिमा और गरिमा का जितना ही बखाण किया जाय उतना ही कम है। वे जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्ति हैं। जब से मेरा सम्पर्क आया है, तब मे मैंने उन्हे सदा जागृत व तत्पर पाया। उनके जीवन मे शैथिल्य कभी भी देखने मे नही आया। मुझे उनके सानिध्य से लाभ हुआ है। इस मगलमय अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि उनके अभिनन्दन ग्रन्थ मे अर्पित करता हू।

●●

विनय, विचार व विवेक से समृद्ध

एक जीवंत और प्राणवंत व्यक्तित्व

श्री मधुकर मुनि

● राजेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ

मैंने श्री मधुकर मुनिजी के सम्वन्ध मे गुरुदेव श्री से तथा अन्य लोगो से वहुत कुछ सुना था, किन्तु दर्शन का अवसर मुझ नही मिला था। पूज्य गुरुदेव राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के माथ वम्वई कादावाडी का सन् १९७१ का शानदार वर्षावास समाप्त कर हम साण्डेराव राजस्थान प्रान्तीय सन्तसम्मेलन मे उपस्थित होने के लिए गुरुदेव श्री के साथ साण्डेराव पहुँचे, उसी दिन स्वामी जी श्री व्रजलालजी महाराज व मधुकर जी महाराज भी पधारे, दोनो का एक साथ नगर मे प्रवेश हुआ। उस दिन प्रथमवार मैंने मधुकर मुनि जी को देखा, मुझे लगा जिनकी मैंने इतनी यशोगाथा सुनी है, क्या दुवले-पतले और छोटी कायावाले यही मुनि मधुकर है ? उन्हे निहारकर नेत्रो ने परितृप्ति का अनुभव किया। पाश्चात्य विचारक कारलाइल ने लिखा है कि "किसी महापुरुप की महानता का पता लगाने के लिए यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटे के साथ कैसा वर्ताव करता है। यदि वह अपने से छोटो के साथ मधुर और स्नेहपूर्ण वर्ताव करता है तो वह महान् पुरुप है। "मुझे लिखते हुए हार्दिक आह्लाद होता है कि मधुकर मुनि जी वस्तुत एक महापुरुष है, क्योकि प्रस्तुत परीक्षण प्रस्तर पर कसने से वे मुझे महापुरुप प्रतीत हुए। उन्होने मेरे साथ अत्यन्त मधुरता के साथ वर्ताव किया। और अनेक विपयो पर मेरे माथ वार्तालाप किया।

उनके प्रवचन, उनके लेखन, और उनके कार्य-कलापो से सूर्य के प्रकाश की भाति स्पष्ट होता है कि उनका अध्ययन विशाल है। जैनधर्म और दर्शन का अध्ययन उनका विस्तृत है, साथ ही वैदिक और बौद्धधर्म का अध्ययन भी गम्भीर और तलस्पर्शी है। भापा-शास्त्र की दृष्टि से उनका परिज्ञान वहुविध और वहुव्यापी है। सस्कृत और प्राकृत जैसी प्राचीन तथा कठिन भाषाओ पर उनका अधिकार है। हिन्दी और राजस्थानी भाषाओ मे वे धाराप्रवाह वोल सकते हैं, लिख सकते हैं।

मैंने मुनि श्री से समाज और सस्कृति के सम्वन्ध मे जिज्ञासा प्रस्तुत की, उत्तर मे मुनि श्री ने कहा—मैं समाज और सस्कृति का तादाम्य सम्वन्ध मानता हू। जो कुछ भी सस्कृति है, वह समाज के धरातल पर ही पनपती है, विकसित होती है।'

सस्कृति क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे मुनिश्री ने कहा—विकृति, सस्कृति और प्रकृति ये तीन शब्द है। आत्मा अनादिकाल से विकृति मे घूम रहा है। विकृति को नप्ट करने के लिए जो कुछ माधना की जाती है, वह माधना ही वस्तुतः सस्कृति है और सस्कृति ही अन्त मे प्रकृति वन जाती है। प्रकृति का अर्थ है वस्तु का मूल म्वरूप। हमारे जीवन के विकास का क्रम है—हम विकृति से सस्कृति की ओर जाते है और फिर प्रकृति की ओर।

साहित्य और कला के सम्वन्ध मे मैंने मुनिश्री से पूछा तो मुनिश्री ने कहा—साहित्य और कला मानव जीवन के लिए वरदान है, साहित्य और कला का सम्वन्ध परस्पर घनिष्ट है। ये दोनो मानव जीवन और विचारो को सरसब्ज करनेवाली सरिताए है जो जीवन की समतल भूमि पर एक साथ प्रवाहित होती है।

विज्ञान के सम्वन्ध मे मैंने उनसे अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा कि आप विज्ञान को मानव समाज के लिए वरदान मानते हैं या अभिशाप ?

उन्होंने कहा—विज्ञान अपने—आप मे एक शक्ति है, वह अच्छी भी हो सकती और बुरी भी हो सकती है। जापान मे हिरोशिमा और नागासाकी मे जब हम विज्ञान का वीभत्स रूप देखते हैं, मानव और अन्य जीव जन्तुओ को छटपटाते हुए देखते हैं तब विज्ञान एक अभिशाप के रूप मे नजर आता है किन्तु विज्ञान का दूसरा पक्ष कल्याणकारी और शुभ है। रेडियो टेलिविजन, विद्युत, चिकित्सा और कृषि आदि के सम्वन्ध मे विज्ञान ने मानव जाति का अत्यधिक उपकार भी किया है। आज का मानव अनन्त आकाश मे पक्षी की तरह उड सकता है। सागर के विराट् वक्षस्थल पर मछली की तरह तैर सकता है और धरती पर रेल और कार के द्वार दौड सकता है, यह सारा विज्ञान युग का ही चमत्कार है। विज्ञान को जन्म देनेवाली मानव वुद्धि है। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग करना उस पर निर्भर है। यदि विज्ञान का धर्म के साथ समन्वय किया जाय तो विज्ञान का कल्याणकारी रूप ही रहेगा।

मुनि श्री ने आगे कहा—केवल विज्ञान का ही नही, जगत के किसी भी वस्तु के दो पक्ष हो सकते हैं शुभ और अशुभ, सत् और असत् अत उसकी उपेक्षा करना न न्यायसगत है और न तर्कसगत है। मानव को विज्ञान के अशुभ और असत् पक्ष की ओर न देखकर उसके शुभ और सत् पक्ष की ओर देखना चाहिए।

मैंने पुन प्रश्न किया, धर्म और विज्ञान मे क्या अन्तर है ? जीवन के लिए अधिक उपयोगी कौन है ?

मुनि श्री ने उत्तर मे कहा—दोनो ही उपयोगी है। अपने-अपने क्षेत्र मे दोनो की आवश्यकता है। धर्म अन्तर्मुखी है और विज्ञान बहिर्मुखी है। विज्ञान प्रकृति के सत्यो को उपलब्ध कर उसको जीवन के लिए उपयोगी वनाने के लिए उपयोगी रहता है, जबकि धर्म अन्तर के विकारो को नष्ट कर आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करता है। इसप्रकार एक वाह्य जीवन के लिए उपयोगी है तो दूसरा अन्तरजीवन के लिए। दोनो की जीवन मे अत्यन्त आवश्यकता है। दोनो का मधुर समन्वय ही जीवन को पूर्ण वनाता है। राष्ट्रपिता गाधीजी ने भी कहा है—धर्म से अनुप्राणित एव धर्म से अनुशासित विज्ञान मानव जाति का हित ही करेगा, अहित नही।

इसप्रकार अनेक विषयो पर उनसे वार्तालाप हुआ। मुनि श्री के विचारो की गहनता, व्यापक अध्ययन व अनुभव को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई।

पण्डित मुनिश्री की सुदीर्घचारित्रपर्याय और श्रुत-सेवा के उपलक्ष मे एक विराट् अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, यह आह्लाद का विषय है। मुनि श्री लम्वे समय तक आचार और विचार की ज्योति जलाते हुए जन-जीवन को प्रशस्त पथ प्रदर्शित करते रहे यही मेरी हार्दिक श्रद्धान्जलि है। ●●

६

साक्षात्कार मधुकर जी से

• गौतम जैन एम० ए

निष्कपट व्यक्तित्व, चेहरे पर गम्भीरता की स्पष्ट रेखायें, विविध विपयो का सुन्दरतम ज्ञान एव चिन्तन मनन की विभूति, वाणी मे मधुरत्त्व, भापा एव भावो की मौलिकता ! ये कुछ ऐसी विशेषताए है—मुनि मधुकरजी मे । जो श्रोताओ को सहज ही अपनी ओर आकृप्ट कर लेती है ।

गत वर्ष माध्यमिकशाला-कुचेरा मे आपका प्रवचन हुआ था । मैं तो क्या, सभी अध्यापक वन्धु एव छात्र वर्ग आपके प्रवचन से प्रभावित थे ।

३१ दिसम्बर १९७२, वर्ष का अन्तिम दिन ! रविवार का अवकाश ! और मैं मधुकरजी के दर्शनार्थ स्थानक पहुचा !! आग्रह किया—शाला मे प्रवचन के लिए । सहजभाव से मुनि श्री ने उत्तर दिया—"स्वास्थ्य ठीक नही--मैं तो यदा कदा इधर विहार करता ही रहता हू—फिर कभी !!

मैं वैठ गया । महाराज श्री लेखनकार्य मे व्यस्त थे । मैंने सकुचाते हुए कहा—ये कुछ प्रश्न हैं मेरे—जिनके उत्तर आपसे चाहता हू ।

मुनि श्री के सौम्य चेहरे पर मुस्कराहट आगई—हसते हुए वोले—"क्या छात्रो की भाति आज मेरी भी परीक्षा लेने का इरादा है ?"

मैंने कहा—घवराइये मत ! सम्पूर्ण जीवन एक परीक्षा ही तो है—और आप तो सयमरूपी कठिन परीक्षा मे भी सफलता की चरम सीढी पर है । और इतना कहकर मैंने पहला प्रश्न कर ही डाला—"वैराग्य का क्या अर्थ है ?"

गम्भीर प्रशान्त वाणी मे मधुकरजी का उत्तर था–वैराग्य का अर्थ–भोगो के प्रति अनभिरुचि'।

मैंने कहा—ठीक है—तो फिर आपने अचानक वैराग्य क्यो धारण कर लिया ? उत्तर था—"माताजी की सद्प्रेरणा के कारण ।"

मैंने तुरन्त अगला प्रश्न किया—अधिकतर साधुओ के सान्निध्य मे रहने का मुझे मौका मिला है ! प्राय मैंने पाया है, वे श्रमण जीवन से ऊव गये हैं । क्या कारण है ? आप तो ऐसा कुछ अनुभव नही करते ? उत्तर मे मुनि श्री ने स्पष्ट किया—"साधुओ मे सयम के प्रति निष्ठा का अभाव ! परन्तु मैं तो अपने सयमी जीवन से पूर्णत सन्तुष्ट हू ।"

क्या आप मानते है कि अपके सुदीर्घ साधना पथ से किसी का गहरा सम्पर्क रहा है, तथा आपने उनसे कुछ पाया है ?

मधुकर जी ने फरमाया—"हा ऐसा तो है ही। स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एव अभी विराजित परम श्रद्धेय कविवर श्री अमरचन्दजी महाराज साहब, जिनसे मैंने बहुत कुछ पाया है।"

तो महाराज साहब अब बताइये—कि कौन सी वह गुत्थी है जो मानव को लोक कल्याण मे नही लगने देती ? जन साधारण को यह भ्रम हो गया है कि जैन साधु अपना कल्याण चाहते हैं, दूसरो का नही। क्या यह सत्य है ?

मुनि श्री कुछ विराम के बाद बोले—"स्वार्थवृत्ति ही मानव को लोक कल्याण मे नही लगने देती। रही जैन साधु की बात - सो आज तक का इतिहास साक्षी है—जैन श्रमणो ने अपनी आध्यात्मिक साधना के आधार पर अधिकतम लोकोपकार ही किया है। उनके लोकोपकार का माध्यम सदा से उपदेश देना रहा है। आज भी जैन श्रमण पदयात्रा द्वारा स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अन्य साधको की अपेक्षा अधिक लोकोपकार करते हैं।"

मेरा अगला प्रश्न था—कुप्रथाए समाज मे सडाँध फैलाती है। समाज का ही दूपित वर्ग राष्ट्रोन्नति की गति अवरुद्ध करता है। इसी सन्दर्भ मे दहेज प्रथा, वृद्ध विवाह, मानव का येन केन प्रकारेण शोषण आदि आदि—मानवता के लिए कलक है। क्या कभी श्रमण वर्ग ने इन दुष्प्रवृत्तियो की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया है ?

मधुकर जी के भव्य ललाट पर चिन्तन की रेखायें स्पष्ट होगई। वे-बोले—"हा—साधु वर्ग को इस ओर ध्यान देना अतीव आवश्यक है। सुसस्कृत साधुजन इस क्षेत्र मे अपना पदार्पण सजगता से करते भी हैं। परन्तु जब तक प्रत्येक साधु अपनी मर्यादा के अनुसार इस ओर अपने को नही जुटा सकेगा, तब तक जन-जन मे ऐसे सुधारो के होने की सम्भावना नही है।"

मैंने स्वीकृति मे सिर हिलाया, बोला—सही है। महावीर, बुद्ध, गाधी आदि ने हिंसा का तीव्र विरोध किया था—आज भी किया जा रहा है। क्या हिंसा घटी है ? मेरे विचार से तो 'मर्ज बढता गया ज्यो ज्यो दवा की।—'

महाराज श्री ने कहा—"तत्कालीन महान्-पुरुषो की उत्क्रान्ति का प्रभाव अपने-अपने समय मे जन साधारण पर अवश्य पडा है। इधर जन-समाज मे जो कुछ भी एक दूसरे के अधिकारो के सरक्षण की भावना जागृत हुई है - यह गाधी युग की अहिंसा की देन है। जन जन मे स्वार्थान्धता एव वितृष्णा अत्यधिक तीव्र गति से बढ रही है। ऐसी विषम स्थिति मे क्रान्तिकारी कदम के उठाये विना हिंसा का मर्ज मिटना सभव नही है।"

मैंने कहा—आपका उत्तर तथ्यपूर्ण हो सकता है—परन्तु मैं तो यह दोष वर्तमान धर्माचार्यो का ही मानता हू। क्योकि वे अपनी वाणी का यथेष्ट प्रभाव जनसाधारण पर नही डाल सके हैं। खैर—यह अपने स्वतन्त्र विचार हैं। अब आप यह बताइये—कि आपने आचार्य का गरिमापूर्ण पद पाकर भी त्याग दिया। निस्सन्देह आप पदलोलुप नही है। आपमे यश के प्रति अनिच्छा है। अब श्रमण सघ अगर आग्रह करे और इस पद पर आपको पुन आसीन करे तो सघ एकता के लिए आप क्या प्रयास करेंगे ?

मधुकरजी की वाणी मे दृढ़ता थी—वे बोले—"अभी तक मेरी यह मनोभावना ही नही है; फिर भी यदि अकस्मात् मेरे लिए ऐसा प्रसग उपस्थित हो जाय, तो मेरी ओर से सघ एकता के लिए भी सभव प्रयास अवश्यमेव किये जायेंगे। सघ एकता के लिये अब तक अनेक प्रयास किये गये—परन्तु उनमे वस्तुत असफलता ही हाथ लगी। इससे मेरी यह धारणा बन गई है कि संघ एकता आना फिलहाल सभव नही है।"

प्रत्येक व्यक्ति धर्म-धर्म चिल्लाता है—आप यह स्पष्ट कीजिये कि धर्म क्या है? राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का हल धर्म को आधार मानकर किया जा सकता है?

मुनिश्री पुन विचारमग्न हो गये। स्थिर होकर बोले—"धर्म का अर्थ है—कर्त्तव्य पालन एव अपने-अपने उत्तरदायित्व को पूर्णत निभाना! यही वह सूत्र है, जिससे राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओ का निराकरण सभव है। इससे राष्ट्रोत्थान की गति भी तीव्र होगी।"

मैंने अगला प्रश्न किया—स्वतन्त्रता प्राप्ति के २५ वर्षो के पश्चात् भी देश के नागरिकों मे राष्ट्रीयता की कमी है। विशेषत छात्र वर्ग मे अनुशासनहीनता बढ रही है। क्या कारण है? कुछ ऐसे विन्दु बताइये— जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वशासन सीखे एव राष्ट्रीयता का विकास हो?

जीवन के सुदीर्घानुभव के बल पर मुनिश्री ने समझाया—"कि जब तक शासन व्यवस्था सुन्दरतम नही होगी, तब तक नागरिको और छात्र वर्ग मे अनुशासन प्रियता कभी नही पनप सकेगी। यथा राजा तथा प्रजा। तो अनुशासन मे रहने के मुख्य विन्दु है—सेवा, सयम, स्नेह, सहयोग, सदाचार, सुसस्कार एवं विनम्रता! इन्ही से राष्ट्रीयता का विकास भी सभव है।"

मधुकरजी महाराज साहब कुछ थकान महसूस कर रहे थे। मैं चौंका! समयावधि सीमा लाघ रही थी। क्षमा कीजिये, मुझे आपकी अस्वस्थता का ध्यान ही नही रहा। मैंने सविनय कहा। मुनिश्री बोले—"कोई बात नही—वैसे ही पिछले दिनो कुछ जुखाम था—पूछिये और कुछ?

और मुनिश्री के इस कथन के बाद मैंने चलते-चलाते अन्तिम प्रश्न रख ही दिया—वादो का युग है। इधर कई नये वाद जन्म ले रहे है—यथा—समाजवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद, गाधीवाद आदि! भारतीय सभ्यता एव सस्कृति मे कौनसा वाद उपयुक्त है?

महाराजश्री ने बतलाया—"जिन वादो मे मूलत सत्य की गु जाइश हो उनके प्रति अपने दिल मे आदर की भावना रखना आवश्यक है। यह समन्वय की दृष्टि से ही सभव है। अत जैनदर्शन समन्वयवाद को ही उत्तम मानता है।"

ये कुछ प्रश्न मेरे और सटीक उत्तर मधुकरजी के। जी चाहता था—कि मैं प्रश्न करता रहू और मुनिश्री उत्तर देते रहे। वन्दन के पश्चात् मैं घर की ओर रवाना हुआ—यह सोचता हुआ कि साक्षात्कार के वे मधुर क्षण जीवन मे कभी विस्मृत हो सकेंगे?

निस्सन्देह मधुकरजी महान त्यागी है, समाज के सजग प्रहरी और है सद्साहित्य के प्रणेता! ऐसे आधार स्तम्भ श्रमणरत्न पर जन-जन को गर्व है और आशायें!!!

●●

चिन्तनशील प्रवक्ता श्री मधुकर मुनि

डा० (कु०) ज्योति साकले एम.बी.बी.एस

चीनी भाषा के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ ताओ-उपनिषद् मे एक जगह कहा है— 'हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नही होते, और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास लायक नही होते ।'

हृदय की गहराई से जो वाणी निकलती हैं, उसमे स्वाभाविकता होती है, सहजता होती है। जैसे कुएं की गहराई से निकलनेवाले पानी में शीतलता भी सहज होती है, उष्मा भी सहज होती है और निर्मलता भी। सहजता के साथ व्यक्त होने वाली वाणी ही सहज रूप मे प्रभावशील होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है, वह आत्मा को छूता है, जो सिर्फ जीभ से निकलता है, वह कानो तक पहुचता है, और ज्यादा प्रभावशील हुआ तो लोगो की जीभ तक, पर जीभ से निकला वचन, हृदय तक नही पहुच पाता, वह हृदय को छू नही सकता, वेध नही सकता, क्योकि उसके पीछे चिन्तन, भावना और आचार का वल जो नही है।

वचन और प्रवचन

हम साधारण वाणी को वचन कहते हैं, और सतो की, विचारको की वाणी को प्रवचन। ऐसा क्यो? यही तो कारण है कि उनकी वाणी मे भावना, विचार, चिन्तन और जीवन का दर्शन होता है। वे जो बोलते हैं, वह निरर्थक बकवास नही होती, उसमे अर्थ होता है, तीर-सी वेधकता होती है।

प्रसिद्ध जैन आचार ग्रन्थ बृहत्कल्पभाष्य मे कहा है—

गुणसुट्ठियस्स वयण घय परिसित्तुव्व पावओ भवइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जहपईवो ।[१]

गुणवान व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी एव पथदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित (तैल शून्य) दीपक की भाति निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण !

प्रसिद्ध जैनसन्त श्री मधुकर मुनिजी की भाषणशैली, प्रवचनकला पर विचार करते हुए हम यह स्पष्ट देखते हैं कि उनके प्रवचनो मे जीवन का गहरा चिन्तन है, मनन है, और अपने ही अनुभवो का, सदाचार का सुदृढ पृष्ठबल है। उनका नाम मधुकर है, मधुकर अर्थात्—भ्रमर ! भ्रमर की गुणरसिकता तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु उसके गुन्जन की मधुरध्वनि भी कम चित्ताकर्षक नही होती। इसीप्रकार श्री मधुकर मुनि के प्रवचनो मे, गुणज्ञता, चिन्तनशीलता के साथ-साथ माधुर्य भी है। नदी की धारा की भाति उसमे गति है, और अग्नि की ज्वाला की भाति उसमें विचार-आचार का तेज व प्रकाश भी परिस्फुट होता है। उनके प्रवचन-साहित्य के अध्ययन के आधार पर मैं इन तथ्यो को सोदाहरण प्रस्तुत करती हू।

श्री मधुकर मुनिजी का प्रवचन साहित्य अभी अधिक मात्रा मे प्रकाशित नही हुआ है। ५-६ पुस्तकें उनके प्रवचनो की तथा कुल ६-७ पुस्तकें कथा-कहानियो की प्रकाशित हुई है। प्रवचन साहित्य मे उनके चिन्तनशील मस्तिष्क का स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है।

मुनि श्रीजी के प्रवचन साहित्य के विषय मे अपना अभिमत व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध विचारक सत उपाध्याय श्री अमरमुनि जी लिखते हैं –

"मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' का 'साधना के सूत्र' के रूप मे प्रवचन सूत्र मेरे समक्ष है। देखता हू कितने सुन्दर भाववाही प्रवचन हैं, मन को सहसा छू लेते हैं, छू ही नही लेते, अन्तर मे काफी गहरे उतर जाते हैं। मुनि श्री का अध्ययन विशाल है, चिन्तन गहरा है, दृष्टि उदार एव व्यापक है, प्रवचन शैली सहज है, सुबोध है, मधुर भी है। काफी दूर तक श्रोता को साथ लिए चलते है और उसके अन्तर्मानस मे एक ऐसी प्रेरणा छोड जाते है जो उसके जीवन मे अनुगु जित रहती है, समय के लम्बे प्रवाह तक।"[२]

उपाध्याय श्री अमरमुनि जी की यह समीक्षा यथार्थ है।

अन्तर की ओर शीर्षक से उनके प्रवचनो के दो भाग मेरे समक्ष है। और **साधना के सूत्र** (प्रवचन) भी। इनके अध्ययन-अनुशीलनसे मुझे लगा—इस मधुर प्रवक्ता सत की वाणी मे तेज और माधुर्य एक साथ छलक रहा है। भाषा मे चुटीलापन भी है और विचार प्रवणता भी। उनके प्रवचनो के कुछ अश देखिए—उन्ही की भाषा मे।

हृदय की पवित्रता

जब तक हृदय पवित्र नही होता, तब तक जीवन मे पवित्रता कैसे आयेगी ? और जब तक जीवन मे पवित्रता नही आई, तब तक धर्म का आचरण कैसा ? मलिन एव अपवित्र हृदय से किये गये

---

१ बृहत्कल्प भाष्य २४५

२ साधना के सूत्र की भूमिका पृ० ६

हजारो क्रियाकाण्ड, लाखो सामायिक एव प्रार्थनाए जप-तप सभी बेकार हैं **'भस्मनिहुतं'**—अर्थात् राख मे घी डालने जैसा है। घर के एक कोने मे यदि गन्दगी का ढेर पडा सड रहा है तो वहा चाहे जितनी अगरबत्तिया जला दे, सुगन्धी महक नही सकती, बदबू ढक नही सकती। यही स्थिति जीवन की है। यदि मनमे, जीवन मे मलिनता है, अशुद्धि एव अपवित्रता है तो पहली बात तो धर्म उस जीवन को स्पर्श भी नही कर सकता। और यदि कोई धर्म का दिखावा भी करे तो धर्म का तेज उस जीवन मे प्रकट नही हो सकता। मन की अपवित्रता धर्म की तेजस्विता को दबा देती है।"[१]

सरलता

हृदय की पवित्रता जब होगी तब जीवन मे स्वय ही सरलता की पावन धारा बहने लगेगी। सरलता पूर्वक क गई सभी धर्म क्रियाए मफल होती है, इस विषय मे वे कहते हैं—

—"शुभ क्रियाए स्वर्ग के दरवाजे की अदृश्य चाबियाँ है। साधक अपनी साधना को सफल बनाने के लिए जो-जो क्रियाए करता है, वे सम्यक् तभी कहलाती हैं जब उन्हे शुद्ध मन से और शुद्ध श्रद्धा के साथ किया जाय। साधना करते समय यदि मनोबल कमजोर होगया और मन की पवित्रता मे कलुषता घुलगई तो साधना दिखावा ही रह गई, सारा गुड-गोबर हो जाता है।"[२]

साहस व उत्तरदायित्व की मात्रा

साहस मे ही श्री—एव शक्ति का निवास है, इस तथ्य को उजागर करते हुए मुनि श्री कहते हैं—

"हिम्मत हार जाना असफलता की निशानी है, निराश तथा साहसहीन व्यक्ति न तो शरीर सम्बन्धी और न आत्मा सम्बन्धी किसी भी क्षेत्र मे प्रगति नही कर सकता है।"[३]

साहस के साथ उत्तरदायित्व निभाने की बात भी आती है। सामाजिक व्यक्ति समाज से किनारा-कसी करे तो वह अपनी भी नाव डुबोता है और समाज की नाव को भी धक्का देता है। इस बात को मुनि श्री जी यो स्पष्ट करते हैं—

"सद्गृहस्थ का जीवन एक महावृक्ष की तरह माना गया है, जिसकी डालियो पर हजारो प्राणी अपना घोंसला बनाए जीवन गुजारते हैं, सैकडो हजारो प्राणियो का आधार होता है, और उसकी छाया मे प्राणियो को जीवन मिलता है। वह वृक्ष यदि यह सोचे कि ये डालिया, शाखाए, पत्तिया और फल-फूल निरे भार हैं इनसे मुझे क्या करना है, मैं तो अकेला नगा खडा रहूगा तब भी अपना जीवन गुजार लूगा तो? इससे न उन प्राणियो को आश्रय मिलेगा और न वृक्ष की शोभा बढेगी! वृक्ष का वृक्षत्व इसी मे है कि वह अपने फल-फूल शाखा-प्रशाखाओ का विस्तार करके हजारो जीवो को आश्रय देता रहे।"

इसी प्रकार हमारा जीवन है, जो स्वय का विकास करता हुआ दूसरो के विकास मे सहायक बने। निराश्रितो को आश्रय दे, शक्ति हीनो को शक्ति दे, और जिन्हे पोषण की आवश्यकता है, छाया की जरूरत है उन्हे सपोपण एव शीतल छाया से रक्षित करें।"[४]

---

१ साधना के सू पृ० ३। २ अन्तर की ओर भा० १।पृ० ३। ३ अन्तर की ओर भाग १।पृ० १०७।
४. साधना के सूत्र पृ० ३३७

करे सेवा : पावे मेवा

सेवा मनुष्य जीवन का धर्म है। पर मनुष्य इसे भूलकर सेवा के क्षेत्र मे भी सिर्फ वाते वनाने लग गया है। आज सेवा का उपदेश, प्रोपेगण्डा तो वहुत होता है, किन्तु वास्तविक सेवा वहुत कम हो पाती है। मुनि श्री कहते हैं—सेवा करो, सेवा का व्यर्थ उपदेश करना छोड दो। "प्राय देखा जाता है कि किसी बीमार या पीडित व्यक्ति को देखकर लोग या तो उससे दूर भागते है, या फिर उसे उपदेश देते हैं—घवराओ मत ! यह तो कर्मों का भोग है, तुमने जो कर्म किए हैं, उन्हे भोगना ही पडेगा, धीरज रखो ! शुभ कर्म उदय मे आयेंगे तो अपने-आप ठीक हो जाओगे !" आपका उपदेश तो ठीक है, पर सोचिए, यही उपदेश बीमारी के समय या सकट के समय कोई आपको दे तो ? आप क्या कहेगे—उपदेश तो मैं भी जानता हू पर मुझे तो इस समय उपदेश की नही, चिकित्सा, दवा और डाक्टर की जरूरत है। सेवा और सहयोग की जरूरत है। जहा सेवा की जरूरत है वहा कोरे उपदेश से काम नही चल सकता।"[1] धर्म का प्रचार उपदेश से उतना नही होता, जितना सेवा से होता है। सेवा करनेवाला सब का प्रिय होता है।"[2]

मधुर वाणी

मुनि श्री जी स्वय तो मिष्टभाषी है ही, किन्तु समाज को भी सदा मधुर-मिष्ट-शिष्ट बोलने की प्रेरणा देते हैं—

'वचन एक मूल्यवान रतन है, इसका प्रयोग वहुत ही विचारपूर्वक करना चाहिए। वचन ऐसा वोलना चाहिए जो मिष्ट हो, शिष्ट हो ! सुननेवाले का हृदय प्रफुल्लित हो उठे और वह आपकी वात से तुरन्त सहमत हो जाये।"

इसी प्रसग पर मुनि श्री जी एक लोकउक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

वडे वर ने कहा —कानी भाभी ! पानी पिला।

भाभी गुस्से मे आकर वोली—काले कुत्ते को पिलादू गी, पर तुझे नही पिलाऊंगी।

तभी छोटा देवर आया और वोला—रानी भाभी ! पानी पिलाओगी ?

भाभी हसती हुई उठी—मेरे देवर राजा ! पानी नही, तुझे वादाम का शर्वत पिलाऊगी।

वाणी की सभ्यता और असभ्यता का यह परिणाम हमारे दैनिक जीवन मे रोज अनुभव किया जाता है, असत्य वाणी से पद-पद पर अपमान मिलता है, द्वेष मिलता है, सभ्यवाणी से प्रेम और सन्मान।"

हा, सिर्फ मीठी वात के नाम पर मुहरखी या चापलूसी नही होनी चाहिए। बात मीठी भी हो, सारपूर्ण भ।

जो वात कहो, साफ हो, सुथरी हो, भली हो।
कड़वी न हो, खट्टी न हो, मिसरी की डली हो।[3]

सदाचार और नैतिकबल

समाज मे सदाचारी व्यक्ति आदर्श होते हैं, उनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन भी होता है, और गौरव भी वढता है। इस वात को, ईसामसीह की प्रसिद्ध उक्ति के सन्दर्भ मे मुनि श्री जी यो व्यक्त करते है—

---

१ साधना के सूत्र पृ० ३६१-३६२। २ वही, पृ०-३६३। ३ साधना के सूत्र पृ० ७२।

'सदाचारी मनुष्य इस विशाल पृथ्वी पर भले ही थोडे हो, किन्तु वे नमक की तरह समूची पृथ्वी का स्वाद बदल सकते है, समाज का वातावरण बदल सकते है।'[१]

सदाचारी व्यक्तियो द्वारा समाज का नैतिक वल प्रखर होता है। मुनिश्रीजी की भापा मे—

"जंसे दूध मे मिस्री मिलाने से, खिचडी मे घी मिलाने से, उसका स्वाद एव गुण वढ जाता है, वैसे ही शिष्ट व्यक्ति समाज मे रहते है तो समाज की ख्याति एव गौरव ऊचा उठता है। समाज का गौरव जव ऊचा उठाता है तो धर्म की प्रभावना भी होती है, राष्ट्र का नैतिक वल एव गौरव भी ऊचा उठता है।"[२]

सदाचार की प्रतिष्ठा

आज व्यक्ति सदाचार को श्रेष्ठ तो मानता है, पर समस्या यह है कि उसके सामने सदाचार को नहीं, भ्रष्टाचार को प्रतिष्ठा मिल रही है। जय राम की वोली जा रही है, और पदासीन रावण को किया जा रहा है, इसीस्थिति ने समाज मे सदाचार का मानदड गिराया है, उसकी प्रतिष्ठा कम की है। इस स्थिति को वदले विना, देश और समाज की उन्नति सभव नही है। मुनिश्री जी कहते है—

"समाज का वहुसख्यक वर्ग गतानुगतिक होता है, देखा-देखी करने वाला होता है। यदि पापी को, दुराचारी को, भ्रष्टाचारी को समाज के ऊचे पद पर बैठा देखेगे तो सहज ही लोगो के मन मे यह धारणा वन जायेगी कि देखा, भ्रष्टाचार व पाप करने से ही प्रतिष्ठा मिलती है। और वे कहने लग जाते हैं—**'रोटी खाणी शक्कर से दुनिया ठगणी मक्कर से'** तो इस प्रकार के विचार, व्यवहार एव धारणा से समाज मे अन्याय की, भ्रष्टाचार की वृद्धि होती है, दुराचार को प्रोत्साहन मिलता है और समाज धीरे-धीरे रसातल मे पहुच जाता है।"[3]

अनीति का धन

मुनिश्री समाज मे नीति और सदाचार की प्रतिष्ठा पर अधिक वल देते हैं। जैन गृहस्थ का आदर्श अकिंचनत्व या सर्वथा त्याग नही, किन्तु इच्छाओ एव आवश्यकताओ को सीमित करना तथा नीति-पूर्वक अर्थार्जन करना है। गृहस्थ को इसीलिए **'धम्माजीवी'** कहा है—अर्थात् वह धर्म (न्याय) पूर्वक अपनी जीवनचर्या करता है। इस जैन आदर्श को मुनि श्री की ही भाषा मे पढिए—

"जैनधर्म यह नही कहता कि गृहस्थ को धन नही कमाना चाहिए, भिखारी और दरिद्र बने रहने की वात भी जैनधर्म नही सिखाता। वह कहता है, धन भले ही कमाओ! पर अन्याय से मत कमाओ! गृहस्थ जीवन के लिए अर्थ और काम आवश्यक है, पर, दोनो पर न्याय और नीति का, धर्म और अध्यात्म का नियत्रण रहना चाहिए।"[४]

अनीति से कमाये हुए धन को असारता वताते हुए विचारक मुनिजी कहते हैं—

"अनीति से अर्जित धन अपने साथ अनेक विपत्तिया लाता है। बीमारी, सकट, कलह और वैमनस्य से जीवन को दुखमय ही बनाता है। मैंने वहुत से व्यक्तियो को कहते सुना है—"महाराज! धन तो कमाया है, पर सुख नही मिला। साल मे हजारो रुपये तो डाक्टर ले जाते हे, हजारो ही वकील की जेव मे चले जाते हैं। कभी कचहरी, कभी अस्पताल! वस, रात-दिन इन्ही का चक्कर रहता है।"

---

१. वही, पृ० ५१। २. साधना के सूत्र पृ० ४६। ३ वही पृ० ५०। ४ साधना के सूत्र पृ० २३।

७

मैं पूछता हू—जीवन मे धन तो आया, पर इसके साथ सुख क्यो नही आया ? आपने कभी सोचा इस बात पर ? घर मे बढिया डनलप का पलग व गद्दा आ गया, पर आखो की नीद कहा हराम हो गई ? घर मे बिस्कुट, दूध, फ्रूट, मक्खन आदि की भरमार है, पर स्वास्थ्य चौपट क्यों हो रहा है ? यहा आपके हृदय से आवाज उठेगी—नीति की कमाई नही है । पाप का पैसा है । बरकत नही करता ।"[1]

कल का प्रश्न, आज सुलझाइए

हमारे भारत मे अतीत को देखने की आदत है । लोग अपने पूर्वजो की बड़ाई तो करते है, अतीत की स्मृतिया ढोते है, किन्तु भविष्य को देखने—समझने का कष्ट कम करते है । मुनिश्री जी हमे भविष्य द्रष्टा बनने की सलाह देते है—"ज्योतिषी को लोग भविष्य द्रष्टा मानते हैं, पर सच्चा भविष्य द्रष्टा तो वह है, जो अपने जीवन, समाज एव धर्म का भविष्य देखकर उसका विकास करता है, उसे ऐसे मार्ग पर ले जा सकता है, जहा कल आने वाली आपत्तिया, सकट और दुर्भाग्य उस पर आक्रमण नही कर सके । और वह भविष्य मे पैदा होनेवाली नई-नई परिस्थितियो का शान के साथ मुकाबला कर सके ।"[2]

इस प्रकार श्री मधुकर मुनिजी के विचारो मे एक गहरी चिन्तनशीलता, विवेचन प्रवणता एव धर्म तथा नीति की जीवत प्रेरणा छिपी हुई है । उनके प्रवचनो मे बासीपन नही है, न विचारो मे, भावो मे और न भाषा मे ।

मुनिश्री जीवन मे व्यवहार को, धर्म के आचरण को मुख्यता देते हैं, न कि उपदेश को । आज हम लोगो की आदत है, बोलते है, पर करते नही, धर्म का उपदेश तो बहुत करते हैं, पर उसे जीवन व्यवहार मे नही उतारते । लोगो की इस आदत पर एक गहरा व्यग्य कसते हुए मुनि श्री कहते हैं—

"यदि क्रिया मे विवेक न हो तो वह क्रिया विक्रिया हो जाती है, और यदि ज्ञान के साथ क्रिया न हो तो वह ज्ञान अज्ञान की श्रेणी मे पहुच जाता है । आज लोगो के पास ज्ञान तो है, पर क्रिया की कमी है । लोग चाहते हैं, सिर्फ बातो से ही काम चलता रहे । आज की पद्धति है—

हमे कहना आता है, करना नहीं आता,
हमे बोलना आता है चलना नहीं आता ।
आचरण की एक पाई भी नहीं रोकड़ मे,
मगर बातो के चैको से चालू है खाता ।।[3]

श्री मधुकर मुनिजी के प्रवचन अभी मात्रा मे कम प्रकाशित हुए हैं । सकलित—अप्रकाशित प्रवचन काफी विशाल परिमाण मे है । उनका आधुनिक शैली से सपादन होकर प्रकाशन होना चाहिए । उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा, विचारशीलता और दीर्घदृष्टि से समाज को बहुत लाभ होगा ऐसा मुझे विश्वास है । ●●

---

१ वही पृ० २४ । २. वही पृ० ३४६ । ३ एक अप्रकाशित प्रवचन—'आज का जीवन दर्शन' से ।

मुनि श्री नेमिचन्द्र जी

प्राचीन कथा साहित्य को नया-
परिवेष देन को सबल सकल्प....

कथाकार

ससार मे जितने भी धर्म-सस्थापक, धर्म-प्रवर्त्तक या धर्म प्रचारक हुए हैं, सभी ने अपने प्रचार का सरलतम माध्यम कथाओ को वनाया है। इतिहास इस वात का साक्षी है कि तत्त्वज्ञान, दर्शन या सिद्धान्त की आचरणीय वाते आम जनता के दिमागो मे कथा-कहानी के जरिये ही ठसाई जा सकती हैं। अन्यथा, जनता शुष्क बाते सुनते-सुनते ग्रन्थो अथवा शास्त्रो को पढते-पढते ऊब जाती है। उनका मन उन कठिन वातो को सुनने या पढने से घबरा जाता है, जी उचटने लगता हैं, आँखो मे नीद की झपकी आने लगती है। परन्तु कहानी अपनी कोमलकान्त पदावली से जनमन नयन को सहसा आकर्पित कर लेती है। वालक से लेकर बूढे तक, अपढ ग्रामीण से लेकर धुरन्धर विद्वान तक, गृहकार्यों मे व्यस्त गृहिणी से लेकर राजनीति के दावपेचो मे उलझे रहनेवाले राजनेता तक को समानरूप से सलौनी, प्रिय, आकर्पक और सरलता मे हृदयगम हो जानेवाली तथा कभी नही ऊवाने वाली साहित्य की अगर कोई विधा है तो वह है—कहानी। यही कारण है कि मानव सभ्यता के अरुणोदय से लेकर मध्याह्नकाल तक कहानी जितनी लोकप्रिय और मधुर थी, आज भी वह उतनी ही लोकप्रिय है और मधुर भी। इसीलिए दर्शनकारो की अपेक्षा ईसप और विष्णुशर्मा आदि कहानी लेखक अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

महानदी की तरह जैनकथा साहित्य

कथा-कहानी की दृष्टि मे जैन साहित्य एक विराट महानदी रही है, जिसमे हजारो प्रकार की कहानियाँ विविध रस धाराओ के रूप मे चलती-वहती रही हैं। किसी कहानी मे वैराग्य की रसधारा

तो किसी मे वालक्रीडा एव मातृ-स्नेह की वात्सल्य रस धारा है तो किसी मे चरित्र की उज्ज्वल और शुभ्र तरगे है तो किसी कहानी मे नीति कुशलता की उर्मियाँ प्रवाहित हो रही है। कही बुद्धि की कौतुक क्रीडाओ की लहरें अठखेलियाँ कर रही हैं तो कही दया, अहिंसा आदि सिद्धान्तो की करुण रस धाराओं के रूप मे वह रही हैं। कही-कही पर वीररस की उछलती हुई कल्लोलें कल्लोल कर रही हैं।

परन्तु इतने विशाल जैनकथा साहित्य को यदि पुरानी क्लिष्ट और लवे-लवे समासवद्ध शव्दो से पाठक के मन को ऊवा देनेवाली भापा और शैली म ही रखा जाए तो वह या तो सिर्फ पडितजन-भोग्य रह जाता है या प्रकाशित होने पर ग्रन्थालय की अलमारियो की ही शोभा वढाता है। वह लोक-भोग्य सर्व सुलभ और हृदयगम नही हो पाता। ऐसे क्लिष्ट समासश्लिप्ट कथा-साहित्य मे आम जनता कोई लाभ नही उठा पाती। उन क्लिप्ट तथा दुर्वोध कथाओ से धर्म प्रचारको का कथा कहने का जो उद्देश्य है, वह सफल नही होता। ऐसा कथा-कथन केवल पाडित्य प्रदर्शन हो जाता है।

जैन आगमो, उनकी प्राचीन टीकाओ, भाष्यो, चूर्णियो एव विविध ग्र थो मे अगणित कथाएँ भरी पडी हैं, लेकिन है, वे सव प्राकृत या सस्कृत जैसी दुर्वोध-भापा मे या समासवद्ध क्लिप्ट शैली मे। आम जनता झटपट उन्हे समझ नही सकती।

अब तक के प्रयास

मध्यकाल मे कुछ आचार्यों और साधुओ ने उन्ही कथाओ के आधार पर लोकरजन के साथ सरस शैली मे उपदेश देने की दृष्टि से कुछ कथाए पद्यवद्ध की हैं, विविध मधुर तर्जो मे ढालें, चौपाइयाँ या गीतिकाएँ वनाई हैं। वह एक युग था, जव लोगो को वे पद्यवद्ध काव्यमय रचनाएँ अच्छी और रोचक लगती थी। परन्तु वर्तमान युग मे जनता गद्य शैली को ज्यादा पसन्द करती है और गद्य मे भी सरल और सरस भापा शैली को अपनाती है।

मैं समझता हू जैनकथा साहित्य के महानद मे से कई-सौ कथाएँ सर्वप्रथम उपदेशप्रासाद (भापान्तर सहित) के रूप मे सर्वप्रथम कई भागो मे प्रकाशित हुई है। उसके वाद मैंने वा० मो० शाह के द्वारा आधुनिक शैली मे लिखित जैन कथाएँ पढी। तत्पश्चात् प० धीरजलाल टोकरशी शाह द्वारा गुजराती भाषा मे नई सरल सरस शैली मे लिखी जैनकथाएँ करीव १०० पुस्तिकाओ के रूप मे देखी। हिन्दी भापा मे जवाहर किरणावली मे उदाहरण माला तीन भागो मे तथा सत्य हरिश्चन्द्र, सती राजीमती महासती चदनवाला, रुक्मिणी विवाह, पाडवचरित, रामवनगमन आदि पुस्तके सुन्दर और रोचक शैली मे प्रकाशित हुई, इसी प्रकार जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज, श्री चन्दनमुनिजी महाराज, राष्ट्र सत कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज की ओर से कथामालाएँ अत्यन्त रोचक और मधुर शैली मे प्रकाशित हुई हैं। इधर मे मुनि महेन्द्रकुमारजी (तेरापन्थी) ने भी जैन कहानिया २५ भागो मे लिखी हैं। इन सव लेखको की कलम से जैनकथा साहित्य ने एक नई करवट ली। अलकार समास आदि आभूपणो और घेरेदार लवे-लवे घघरे पहनी हुई कथारानी का प्राचीन आभूषणो और समासो के लवे घघरो को उतार कर नये सरस, सरल, रोचक और सादे-सीधे वेश-विन्यास और परिधान मे सजाने का इन सव कथाकारो ने प्रयास किया है।

नया परिवेष देने का सबल सकल्प

इसी सिलसिले मे श्रद्धेय मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज, 'मधुकर' ने अपनी कुशल कथा-शिल्पिता का परिचय दिया है। उन्होने प्राचीन जैनकथा साहित्य के जर्जर ढाचे मे नये प्राण फूकने का

काम किया है। श्रद्धेय मधुकर मुनिजी महाराज ने पुरानी कथाओ मे मानो मिश्री-सी घोलकर उन्हे वहुत ही मधुर और लोकभोग्य वना दी हैं। जिन कथाओ मे पुरानी क्लिष्ट कल्पनाओ से असगति-सी जान पडती थी, उनमे नई स्फूर्तिदायक, युगसगत या व्यवहारसगत कल्पनाओ के दीपक सजोकर उन्हे सजीव वना दी है। कथाओ मे यत्रतत्र वर्णित उपदेश भी इस सरसना से झकृत हो उठा है। अव तक उनकी लेखनी से निवद्ध जैनकथामाला के ६ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। लगभग ४० भागो मे जैनकथाओ को नया परिवेष देने का उनका शुभ सकल्प है। मुनि श्री मधुकरजी की लेखनी के जादूई स्पर्श से प्रत्येक कथा इतनी मुखर और मधुर हो उठती है कि पाठक इन्हें पढते समय ऊवता नही। वालक, युवक और वृद्ध वालिकाएँ, युवतियाँ और वृद्धाएँ सभी इन कथाओ को पढ कर जीवन मे सुन्दर प्रेरणा ले सकती हैं।

उदाहरण के तौर पर देखिए—जैन कथामाला प्रथमभाग मे वैराग्यमूर्ति सुन्दरी का चरित्र-चित्रण कितना सुन्दर वन पडा है। ' सौन्दर्य सदा सुखदायी ही नही, दु खदायी भी हो जाता है, यौवन मधुर ही नही, कटु भी हो जाता है। सुन्दरी को पहली वार यह अनुभव होने लगा। विचार ही विचार मे करवटें वदलते-वदलते उसे नीद की झपकी लग गई और वह विना कुछ खाये-पीये भूखी ही सो गई।' "सुन्दरी एक प्रकार से स्वतन्त्र थी। पर स्वतन्त्रता के साथ उसमे विवेक भी था। आजादी का उपयोग उसने भोग के लिए नही, किन्तु आत्मसाधना के लिए किया।" कितनी सुन्दर प्रेरणा है, इन पक्तियो मे। साथ ही आगे चलकर युग की प्रेरणा भी है—"सुन्दरी का सत्याग्रह सफल हुआ। उसकी आँखें अपूर्व उत्साह से चमक उठी।

इसी भाग मे घोर दु ख के समय धैर्य की देवी दमयती के साहस का कितने प्रेरक शव्दो मे ग्रन्थित किया है—" " " साहस को वटोरा—'भाग्य ने, पूर्व कर्मों ने, दु ख के दिन दिये है तो इन्हे रो-रो कर काटो, चाहे हस-हस कर, काटने तो होगे ही। फिर रोने-धोने से दु ख घटता नही, वढता ही है। मैं वीर-रमणी हू, धर्म और तत्व को समझा है तो अव उसको जीवन मे उतारना चाहिये। दु ख को हिम्मत से जीतना चाहिए।" इसी भाग मे महामाता कौशल्या के प्रकरण मे राजा दशरथ के मुँह से कितने सुन्दर उद्‌गार निकलते हैं—'अगर इस ससार मे स्वार्थ और ईर्ष्या के दो दोप नही होते तो ससार के इन स्वर्गीय सुखो को देवता भी नष्ट नही कर सकते। इन्ही दोषो के कारण ससार के सुख नष्ट हो गए। शान्ति की लता छिन्न-भिन्न हो गई, प्रेम और स्नेह की सरिताएँ सूख गई। काश ! मेरा परिवार इन दोपो से वच कर अपने कुलधर्म का पालन कर पाता।'

"माताजी ! राम जितना सुकुमार है, उतना ही कठोर भी है। वह आपका पुत्र है। आपके सस्कार ही उसके जीवन की नीव है। उसके लिए वन, उपवन और राजभवन समान है। आप कुछ भी चिन्ता न करिये। वस, एक आशीर्वाद का हाथ मेरे सिर पर रख दीजिए।"—राम की मातृभक्ति का कितना अनूठा परिचय दिया गया है, इन पक्तियो मे।

जैनकथामाला भाग दो मे कुन्ती के मातृत्व मे सुखो के प्रति अनासक्ति का कितना सुन्दर चित्रण है—"अव तक के इतिहास मे यह वडी अद्‌भुत वात थी कि एक राजमाता अपने पुत्रो के लिए इतना भयकर कष्ट उठाकर वारह वर्ष तक उनके साथ वन-वन मे घूमती रहे। पुत्र स्नेह के साथ ही कुन्ती के मन मे एक दूसरा विचार भी था जिसके कारण उसने वन-वन मे घूमने का निर्णय किया। उसके मन मे सुखो के प्रति आसक्ति न थी। वह सुख को वधन मानती थी। प्रभु स्मरण और आत्मसाधना के

मार्ग मे बढनेवाले को सुख छोडकर दुःख का कठोर मार्ग स्वीकार करना होता है। दुःख में ही सच्ची प्रभुभक्ति होती है, यह कुन्ती का विश्वास था।"

तीसरे भाग मे महासती सुभद्रा के कथाकथन मे बडे अनूठे उपदेशात्मक वाक्य हैं—"अपना मतलव साधने के लिए मनुष्य धर्म और भगवान् को भी धोखा दे सकता है।" सुभद्रा का मनोविश्लेषण देखिये–'बुद्धदास असहिष्णु तो इतना था कि किसी को अपनी धर्माराधना करते फूटी आँखो से भी नही देख सकता। जिसे सोना समझा, वह मिट्टी निकला। जब पति की यह स्थिति तो ननद और सास की तो बात ही क्या ? स्त्री जितनी धर्मपरायणा होती है, उतनी ही परधर्म-असहिष्णु भी।" "सुभद्रा ने भी दृढ निश्चय कर लिया था, चाहे जो हो जाये, वह धर्म को नही छोडेगी। मनुष्य को सबसे प्यारी अपनी जान होती है, किन्तु जान से भी प्यारा ईमान (धर्म) होता है।" विपत्ति और संकटो से मुकाबला करने की हिम्मत उसने अपने धर्म-गुरुओ से पाई थी। चौथे भाग मे भ० ऋषभदेव के मुख से अपने पुत्रो को उपदेश देने के प्रसग मे तो कमाल का चित्रण है—"पुत्रो ! जब पेट मे दाह लगी हो, गला सूख रहा हो, उस समय स्वप्न मे पानी पीने से क्या किसी की प्यास बुझती है ? और जो प्यास सरोवरो और सागरो से भी तृप्त नही हुई, क्या वह गीले घास को निचोड कर उसकी दो-चार बूद पी लेने से भी तृप्त हो सकती है ? इसी प्रकार ससार मे तृष्णा की यह विडम्बना है।"

इसी कथामाला के पाचवें भाग मे भगवान् वासुपूज्य के द्वारा परम्परा के हूबहु पालन का कितना मधुर विरोध है ?—"पिताजी, क्या यह आवश्यक है कि पूर्वजो ने जैसा किया, वैसा ही करना। उससे भिन्न नवीन कुछ भी नही करना ? बुद्धिमान पुरुष लकीर के फकीर नही होते "

भाग ६ मे भगवान् महावीर के नयसार के भव के प्रसग चित्रण को एक नया मोड दिया है— "भाई ! भोजन करने से पहले मे अतिथि को कुछ खिलाया करता हू। अतिथि देवता होता है। अत उसको खिलाकर खाना ही मेरा धर्म है।" मुनियो पर नयसार की भावभक्ति का असर और उनके हृदय के आशीर्वचन कथाकार के शब्दो मे देखिये—"यह गाँव का भावुक भक्त बडा ही प्रसन्न है। उसकी आँखो मे कितनी सरलता और कितनी विनम्रता है ? कितना महान है इसका सेवाभाव ? ऐसे हृदय मे तो धर्म सहज रूप मे रहता ही है। मानसभूमि तो पवित्र है, सिर्फ ज्ञान—बोध का बीज अपेक्षित है।"

ये और इस प्रकार के सरस, सुन्दर, सरल और अनुपम शब्दो का चयन करके कथालेखक श्री मधुकर मुनिजी ने अद्भुत कलम कौशल का परिचय दिया है। वास्तव मे इन सब कथाओ को नया रूप, नये वेश देने मे मधुकरजी म० ने कलम तोड दी है। कथाओ की भाषा मुहावरेदार और प्रसगवश कहावतो से परिपूर्ण है। मुनिश्री कथाओ पर कलम की पैनी नोक से काट-छाट करने मे तथा प्रसगवश नई कलम लगाने मे काफी सफल हुए हैं।

वास्तव मे मुनिश्री मधुकरजी सस्कृत-प्राकृत भाषा के तथा आगमो के गभीर विद्वान् है, विचारक हैं। जैन कहानी-साहित्य के वे पुराने अध्येता एव उपदेशक रहे हैं, इसलिए कथामर्मज्ञता उनके अन्तस्तल मे उतर गई है। यद्यपि सभी कहानियाँ बहुत पुरानी और जैनजगत् मे काफी प्रसिद्ध भी है, फिर भी उन सबको मौलिकता के साथ नवीन भाषा शैली मे आधुनिक मुहावरेदार हिन्दी मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न जो किया है, इसके लिए मुनिश्रीजी म० बधाई के पात्र हैं। आशा है, अपनी कलमकला-कौशल से वे भविष्य मे भी इसी तरह प्राचीन कथा साहित्य को नई पोशक सजा कर जैन समाज के सामने प्रस्तुत करते रहेगे, मधुकर की तरह श्री मधुकर मुनिजी शब्द पुष्पो का चयन करने मे तो सिद्धहस्त है ही।

जैन कथा साहित्य को श्री मधुकर मुनिजी का योगदान

—डा० बशिष्टनारायण सिन्हा, एम ए पी-एच डी
दर्शन विभाग, काशी विद्यापीठ

कथा हमारे जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इससे आनन्द प्राप्त होता है। पर कहा जा सकता है कि सभी कथाएँ सुखान्त ही तो नही होती। कथाएँ दु खान्त भी होती है। हाँ ! ऐसा कहना भी कुछ गलत नही है। कथा से सुख प्राप्त होता है अथवा दु:ख यह तो एक पक्ष है। इसका जो अन्य पक्ष है, वह है किसी विपय को हमारी समझ के अनुकूल वनाना। पठन-पाठन अथवा लेखन के क्षेत्र मे दो चीजे प्रधान हैं—विषय और विषय का प्रस्तुतीकरण। विषय कितना भी कठिन क्यो न हो, यदि उसके प्रस्तुत करने का ढग मनोरजक है तो वह सहल हो जाता है, पाठक अथवा श्रोता उसे आसानी से समझ लेता है। कथा वही सहल मार्ग है जिसके द्वारा कठिन से कठिन विषय भी रुचिकर वन जाता है। इसी वजह से कथा ने सभी सस्कृतियो से सभी साहित्यो मे अपना विशेषस्थान वना लिया है। साहित्य प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन, उसमे कथा-साहित्य तो होता ही और यदि ऐसा नही है तो निश्चित ही वह साहित्य अधूरा है। वैदिक साहित्य के वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि मे अनेक कथाएँ मिलती हैं। बौद्ध साहित्य की जातक कथाओ का तो कहना ही क्या। ऐसे ही जैन ग्रन्थो मे भी कथाओ का एक अनुपम भडार दिखाई पडता है। ज्ञाता धर्मकथा, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन-सूत्र, विपाकश्रुत आदि मे नाना प्रकार की कथाएँ पाई जाती हैं।

जैनकथा साहित्य को भाषा की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—प्राकृत-कथा-साहित्य तथा सस्कृत-कथा-साहित्य। ऐसे समराइच्चकहा मे हरिभद्रसूरि ने कथा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए उसे चार भागो मे विभाजित किया है—अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और सकीर्णकथा। वे कथाएँ जो अर्थोपार्जन के लिए प्रेरित करती हैं उन्हें अर्थकथा की कोटि मे रखते है। जिन कथाओ के सुनने अथवा पढने से वासना जागृत होती हैं, उन्हे कामकथा की सज्ञा दी जाती हैं, जिन कथाओ से व्यक्ति का धार्मिक सस्कार जाग उठता है, उन्हे धर्मकथा के नाम से सबोधित करते है। जिन कथाओ मे अर्थ, काम, धर्म का प्रतिपादन हो, जिन्हे लौकिक प्रसिद्धि प्राप्त हो वे सकीर्ण कथा की कोटि मे रखी जाती हैं। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला मे प्रधान तौरसे कथा के तीन ही प्रकार वताए हैं—अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा। लेकिन, आगे चलकर धर्मकथा को उन्होने चार भागो मे विभाजित किया है—आक्षेपिणी, विक्षेपिणी. सवेदनी तथा निर्वेदनी। इस प्रकार कथाओ का यह विभाजन उनके प्रधान लक्षण को देखते

हुए किया गया है। किन्तु हरिभद्रसूरि ने अपने विभाजन मे चौथे प्रकार की सज्ञा 'सकीर्ण कथा' दी हैं जवकि सकीर्ण कथा मे उन्होने अर्थ, काम और धर्म तीनो ही लक्षणो अथवा उद्‌श्यो का समावेश दिखाया है, यह वात समझ मे नही आती। यदि चौथे विभाग का नाम 'सकीर्ण कथा' न देकर वे 'विस्तृत कथा' देते तो ज्यादा अच्छा होता। आचार्यप्रवर ने कथाओ पर विचार करते हुए श्रोताओ के भी तीन वर्ग वनाए हैं—अधम, मध्यम और उत्तम।

काल के दृष्टिकोण से प्राकृत कथासाहित्य का समय करीव-करीव ईसा की चौथी शताव्दी से सोहलवी-सत्रहवी शताव्दी तक माना जाता है जिनमे कथाओ के वहुविध रूप सामने आते है। अभी जिन रूप अथवा विभागो की चर्चा हुई है वे तो मात्र कुछेक आचार्य के अनुसार है। वास्तव मे देखा जाए तो कथाओ के अन्य भी विभिन्न रूप मिलते हैं, जैसे कथा, अन्तर्कथा आख्यान, आख्यानिका, उदाहरण, चरित आदि। जैनकथाओ मे प्रेमाख्यानो को भी स्थान मिला है, जिससे उनकी लोकप्रियता काफी वढ गई है। जैनविद्वानो का मत है कि जव ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थो से प्राप्त कथाओ से समाज का मन भरगया और लोग उनमे अरुचि दिखलाने लगे तव जैनाचार्यों ने वैसी कथाओ का सृजन किया जो लोगो को अपनी तरफ आकर्षित करने मे सवल एव सफल सिद्ध हुई। उन कथाओ मे ऋतु, प्राकृतिक छटाए, ज्लक्रीडा, सामाजिक आचार-व्यवहार, जैसे जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, यहाँ तक कि स्त्रीहरण, साथ ही धार्मिक गतिविधियो, जैसे मुनियो का नगर मे पधारना, सामान्यजन का दीक्षा लेना आदि के मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किए जाने लगे। इतना ही नही वल्कि चरित्र-चित्रण के रूप मे राजा, मत्री, सेनापति सारथी आदि के भी वर्णन कथाओ मे समावेशित हुए। इन कारणो से जैन कथा साहित्य का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ जिसके प्रमुख स्तम्भो मे भद्रवाहु, जिनदासगणि, अभयदेव, शीलाक, भावविजय, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के नाम आते हैं।

किन्तु आज जैन कथा साहित्य का यह भव्य प्रासाद ध्वस्त प्राय है ऐसा कहा जाए तो कोई अनुचित न होगा। क्योकि समय के प्रवाह मे वहुत सी कथाए एव कथासग्रह लुप्त हो गए। जो अभी प्राप्त है वे भी जन जीवन से दूर है। क्योकि वे प्राकृत अथवा सस्कृत मे हैं, जिन्हे पढकर आनन्द लेना अथवा किसी प्रकार का ज्ञान अर्जित करना सामान्यजन के लिए असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। अत समय की माग है कि उन कथाओ को जो ज्ञान के गम्भीर सागर और आनन्द के निश्छल निर्झर की तरह हैं, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगु आदि जनभाषाओं मे प्रस्तुत किया जाए। इस कार्य मे आज के कतिपय जैन विद्वान तन-मन-धन से रत हैं। उदाहरण स्वरूप मुनि महेन्द्रकुमारजी ने जैन कहानियो के रूप मे पच्चीस भाग प्रकाशित किए है, उपाध्याय अमरमुनिजी ने जैन कथाओ के पाँच भाग प्रस्तुत किए हैं। यह कार्य निश्चित ही वडे महत्व का है। इससे जैन कथासाहित्य का अस्तित्व कायम रह पाएगा, उसकी जड दृढ होगी। इससे जैन साहित्य का उद्धार तो होगा ही, सामान्य जन को भी आनन्द का एक अच्छा साधन उपलव्ध हो सकेगा। इस तरह जैन कथा साहित्य का पुनरुद्धार करने वालो मे श्रीमधुकरमुनिजी मूर्धन्य हैं। इन्होंने सम्पूर्ण जैन कथा साहित्य को हिन्दी मे प्रकाशित करने की योजना वनाई है, जो अनुमानत पच्चीस मे चालीस भागो मे सम्पन्न होगी। अव तक इस योजना के अन्तर्गत छ भाग प्रकाशित हो चुके है, जिनमे महासतियो तथा तीर्थङ्करो के चरित्र प्रस्तुत किए गए है, जो इस प्रकार है—

प्रथम भाग

१ भगवती ब्राह्मी
२ वैराग्यमूर्ति सुन्दरी
३ धैर्य की देवी दमयन्ती
४ महामाता कौशल्या
५ महासती सीता
६. महासती राजीमती

द्वितीय भाग :

१ महासती कुन्ती
२ महासती द्रौपदी
३ महासती पुष्पचूला
४ महासती प्रभावती
५ महाती पद्मावती
६ महासती मृगावती
७ महासती चन्दनवाला

तृतीय भाग

१ महासती शिवा
२ महासती सुलसा
३ महासती सुभद्रा
४ महासती अजना
५ महासती मदनरेखा
६ महासती चेलना
७ महासती शीलवती

चतुर्थ भाग .

१ भगवान ऋषभदेव
२. भगवान अजितनाथ
३ भगवान सभवनाथ
४ भगवान अभिनन्दन
५ भगवान सुमतिनाथ
६ भगवान पद्मप्रभ
७ भगवान सुपार्श्वनाथ
८ भगवान चन्द्रप्रभ
९ भगवान सुविधिनाथ
१०. भगवान शीतलनाथ

पंचम भाग :

११ भगवान श्रेयासनाथ
१२ भगवान वासुपूज्य
१३ भगवान विमलनाथ
१४ भगवान अनन्तनाथ
१५ भगवान धर्मनाथ
१६ भगवान शान्तिनाथ
१७ भगवान कु थुनाथ
१८ भगवान अरनाथ
१९ भगवान मल्लिनाथ
२० भगवान मुनिसुव्रत
२१ भगवान नमिनाथ
२२ भगवान नेमिनाथ

षष्ठ भाग

२३ भगवान पार्श्वनाथ
२४ भगवान महावीर

प्रस्तुत कथाओ के माध्यम से मात्र महासतियो तथा तीर्थङ्करो के जीवन के विषय मे ही जानकारी प्राप्त नही होती है, वल्कि इनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि विभिन्न नैतिक एव धार्मिक विधाओ पर प्रकाश पडता है और इन चरित्रो को पढकर पाठक तप, त्याग आदि के साधना-पथ पर चलने को प्रेरित होता है। इन कथाओ को इनके विषय के अनुसार 'धर्म कथा' की श्रेणी मे रखा जा सकता है। इनकी भाषा इतनी सरल और सरस है कि इन्हे पढते समय पाठक स्वभावत आगे वढता जाता है। जिस प्रकार तैलयुक्त धुरी से लगा हुआ चक्र विना किसी रुकावट के नाचता जाता है अथवा जिस प्रकार सुरम्य छटाओ के वीच से गुजरनेवाले पथिक का मार्ग सुगम हो जाता है वैसी ही वात इन कहानियो तथा इनके पाठको के साथ है। पाठक चाहे वहुत वडा विद्वान हो अथवा सामान्य प्रचलित शब्दो तथा वाक्यो को समझकर अपना काम चलानेवाला व्यक्ति, सवका मन इन कथाओ को पढने के समय समान ढग से आगे फिसलता जाता है। जैन कहानिया भी मैंने पढी है, किन्तु भाषा, शैली की रम्यता, प्रवाहपूर्णता और कथातत्त्व का जीवनस्पर्शीरूप जो मुनिश्री मधुकरजी की जैन-कथामाला मे निखरा है, वह अभी तक किसी अन्य जैन मुनि की कहानियो मे देखने को नही मिला। और भला ऐसा हो भी क्यो नही, जवकि इन कहानियो को मुनि मधुकरजी का माधुर्य और श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' की सरसता प्राप्त है। मधु तो सहज ही सरस होता है और उसमे अलग से एक अनोखी सरसता उडेल दी जाए तव तो कहना ही क्या। इन कथाओ का रसास्वादन जव पाठक करना प्रारम्भ कर देता है तो वह पढता जाता है, पढता जाता है पर उसका मन नही अघाता। सच कहा जाए तो यही किसी कहानी अथवा कहानीकार की उत्कृष्ट भाषा एव शैली है, भले ही कोई साहित्यिक मापक उसे अपनी माप के अनुसार कुछ और सज्ञा दे। मुनिमधुकरजी जैन वाङ्मय के मर्मज्ञ तथा जैन सत समाज के निष्ठावान साधक और प्रभावशाली धर्म प्रसारक है, किन्तु इन कहानियो मे इन्होंने निश्चित ही अपने को एक सफल एव सिद्ध-हस्त कहानीकार सावित किया है। इतना ही नही, वल्कि मुनिजी ने इस कार्य से अपने नाम को भी सार्थक किया है। जिस प्रकार मधुकर कठिन डालियो पर लगे हुए विभिन्न पुष्पो से पराग एकत्रित करके मानव समाज को एक अद्भुत सुखकारी वस्तु मधु प्रदान करता है वैसे ही मुनिजी ने विभिन्न कठिन शास्त्रो से कहानियो का सग्रह करके समाज का वहुत वडा उपकार किया है। मुनिश्री के कथासाहित्य की एक विशेषता यह भी है कि अव तक जिन कथाओ को अन्य लेखको ने भाषा का नवस्पर्श नही दिया था, मुनिजी ने उन्ही कहानियो को प्राणवती भाषा मे नवजीवन दिया है। लगता है वे पिष्टपेषण नही करते किन्तु कथा-कहानियो के माध्यम से समाज व साहित्य को कुछ नया, कुछ मौलिक विचार-चिन्तन देना चाहते हैं। भविष्य मे कथा साहित्य मे उनके द्वारा अव तक अछूती अप्रकाशित कहानियो का पुनरुद्धार होगा और—आशा है इनका योगदान अपने सफल समापन के वाद जैन कथासाहित्य के लिए एक अनुपम देना होगा।

*

'अप्पा अप्पम्मि रओ' के मूर्त्तिमान् आदर्श

—पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

चार दशक वीत गए। शनै शनै किन्तु अजस्रगति से काल चला जा रहा है, भविष्यत् वर्तमान और वर्तमान भूत वनता जा रहा है और दुनिया को जैमे खवर ही नही ! इस वीच कितनी छोटी-मोटी घटनाए घटित हुई । कैसे-कैसे प्रसगो ने जीवन को भिन्न-भिन्न रगो मे रग दिया ! मगर वह घटना मानो आज भी ताजा है।

ई० सन् १९३२ की वात है। मैं व्यावर जैन गुरुकुल मे धर्माध्यापक के पद पर नियुक्त होकर वहा पहुचा था। एक सप्ताह भी न वीता था। व्यावर के एक वयोवृद्ध, जीवदया के अनन्य अनुरागी, सेवाव्रती और सघ तथा सतो के परमोपासक सेट मूलचदजी मोदी गुरुकुल मे आये और मुझसे मिले। यो तो व्यावर के कितने ही भाई गुरुकुल के प्रति गहरी प्रीति रखते थे और मोदीजी उन्ही मे से एक थे और अकसर गुरुकुल की सार-सभाल करने आते-जाते हो रहते थे, किन्तु उस दिन वे विशिष्ट उद्देश्य से ही मिलने आए थे।

मुनिश्री हजारीमलजी महाराज, श्री ब्रजलालजी महाराज और श्री मिश्रीमलजी महाराज (उस समय आपका 'मधुकर मुनि' उपनाम प्रसिद्धि मे नही आया था) के साथ व्यावर मे ही विराजमान थे और वालियाजी के वगले मे ठहरे थे। मधुकर मुनिजी का अध्ययन उन दिनो चालू था। मोदीजी ने मुनिश्री का परिचय दिया और मिलने की प्रेरणा दी। मैं वालियाजी का वगला जानता नही था। उन्होने दिशानिर्देश करते हुए वतलाया कि पाच मिनिट का रास्ता है !

मुनिश्री की सेवा मे गया तो चलते-चलते दस मिनिट हो गए, फिर पन्द्रह मिनिट हो गए, तव कही वह वगला मिला। वाद मे पता चला कि पाच मिनिट से मोदीजी का अभिप्राय था—थोडा—समय ! प्रथमवार उसीसमय उक्त 'त्रिमूर्ति मुनित्व' के दर्शन हुए। उक्त तीनो मुनियो के पारस्परिक सम्वन्ध जितने सात्विक, मधुर और प्रशस्तवात्सल्य से परिपूर्ण रहे है, उसे देखते हुए उन्हे त्रिमूर्ति मुनित्व की सज्ञा से ही अभिहित किया जा सकता है। मुनित्व इसलिए कि साधुता उनमे साकार दृष्टिगोचर होती थी और त्रिमूर्त्ति इस कारण कि उनके पारस्परिक सम्वन्ध आत्मीयता से परिपूर्ण थे। खेद है कि आज वह त्रिमूर्त्ति खण्डित है और उपप्रवर्त्तक श्री ब्रजलालजी महाराज तथा प० प्रवर श्री मधुकरजी महाराज ही हमारे मध्य मे हैं। उन्हे उपर्युक्त अभिप्राय से 'द्विमूर्त्ति' कहा जा सकता है। विगत चालीस वर्षों का निकट और गाढ सम्पर्क मेरी इस धारणा को ही परिपुष्ट करता है। वास्तव मे दोनो मुनियो मे जो सौमनस्य दिखाई देता है वह अन्यत्र विरल-अतिविरल है और उनकी उदारता भद्रता एव सहज आचार का परिचायक है !

अनेकोंवार सुनना पडता है कि अमुक साधु का अमुक साधु के साथ मेल नही बैठता—प्रकृति नही मिलती। तभी हृदय कह उठता है—यह भी कोई साधुता है !

मुनिश्री व्रजलालजी महाराज को श्रमणसघ ने उपप्रवर्त्तक पद से विभूषित किया, यह उनकी आचारनिष्ठा का द्योतक है। वे जैनतत्वज्ञान के साथ ज्योतिष विषय के विशेषज्ञ हैं। अपने आपमे मग्न रहनेवाले, अल्पभाषी और कोमल तथा सरल हृदय के धनी हैं। मुनियो के लिए आगम मे आनेवाला **'अल्लीणे गुत्ते'** विशेषण उनके लिए सर्वथा उपयुक्त है। इधर-उधर के प्रपचो से विलग रहना उनकी प्रकृति का अग है। अनेको वार के अनुभव ने वतलाया है कि मधुकर मुनिजी के प्रति उनका अनन्य धर्मानुराग है।

श्री मधुकर मुनि व्याकरण, साहित्य, दर्शन, आगम आदि विषयो के विशिष्ट विद्वान् सन्त हैं। लेखक भी है, विद्वान् भी है। उनके हृदय और मन मे किसी प्रकार की दुविधा नही। जैसे हृदय नवनीत-सा कोमल उसी प्रकार मन भी पवित्र विचारो के सौरभ से सरावोर !

प्रचुर परिचय के आधार पर निस्सकोच कहा जा सकता है कि समग्र स्थानकवासी समाज मे मधुकर मुनि जैसे विद्वान् अगुलियो पर गिनने योग्य भी नही हैं। फिर भी उनकी विश्रुति-ख्याति जितनी व्यापक होनी चाहिए उतनी नही है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि उनका विहारक्षेत्र बहुत सीमित रहा है। द्वितीय और प्रधान कारण है कीर्त्ति के प्रति उनका घोर उपेक्षाभाव। वे अल्प-सन्तोषी है, महत्वाकाक्षी नही। ख्याति और कीर्त्ति मानो उनके लिए आधि और व्याधि हैं !

एक घटना मेरी स्मृति मे अव भी ताजा है। मधुकर मुनिजी श्री जयमलगच्छ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किये गए थे। यह चुनाव, जहा तक मेरी जानकारी है, सर्वसम्मत था। किन्तु अपने पूर्वोक्त निस्पृहभाव के कारण वे उस पद पर अधिक समय तक नही रहे। पदवी को व्याधि समझकर उन्होने वडी नम्रता और सहजवृत्ति के साथ श्री सघ को अर्पित कर दिया—'त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते।' भगवन् ! अपनी वस्तु आप ही सभालो।

व्यावर से कुछ भाई आचार्यपद न त्यागने का अनुरोध करने के लिए आपकी सेवा मे तिवरी ग्राम गए। मैं उनका कुछ काल तक अध्यापक रहा हू अत मेरे होने से उनका अनुरोध प्रवल होगा, इस विचार से वे मुझे भी साथ ले गए। सच यह कि मैं स्वय भी यही चाहता था कि वे इस सम्मान्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। वहुत कुछ कहा गया, दवाव डाला गया पर मधुकरजी महाराज टस-से-मस न हुए। **'लहुभूयविहारिणो'** (हल्का होकर रहना) यह भावना उनकी रग-रग मे गहराई के साथ व्याप्त हो चुकी है। यही कारण है कि वे जिन-शासन की प्रभावना भले करते हो, पर अपने व्यक्तित्व की प्रभावना नही कर सके।

कभी-कभी गुण और दोष मे भेद करना वडा ही कठिन हो जाता है। कोई गुण जव तक अपनी परिधि मे रहता है, गुण कहा जाता है और परिधि से वाहर चला जाते ही दोष वन जाता है। उदारता की अति, उडाऊपन और मितव्ययिता की अति, कृपणता कहलाती है। मधुकरजी के निस्पृहाभाव को, कीर्ति के प्रति अकामभाव को और लोकैषणा के प्रति विरक्तिभाव को साधुता की दृष्टि से वडा से वडा गुण कहा जा सकता है पर लौकिक दृष्टि से क्या कहा जाय ! (शेष पेज ५७ पर)



लोकोत्तर पथ-प्रदर्शक

● **वैद्य रघुवीरसहाय शर्मा** (श्री जिनेश्वर औषधालय, कुचेरा)

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की सस्कृति ने आध्यात्मिक महान पुरुषो को सर्वदा पूज्य माना है। सम्राटो के राजमुकुटो व वडे-वडे धनपतियो से लेकर साधारण गृहस्थो तक ने सन्तो की चरण धूलि से अपने को पवित्र व सौभाग्यशाली समझा है।

सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है। वह ससार के सभी प्रलोभनो तथा सासारिक सुखो को तृणवत् त्यागकर अपने जीवन को तपस्या, सद् उपदेश, आत्मसाधना, व जन कल्याण के लिए अर्पित कर देते हैं। आत्मा की चरम उन्नति—काम, क्रोध, लोभ इत्यादि शत्रुओ को पराजित कर जीवन को तपस्या से पवित्र वनाना सन्तो के जीवन का प्रधान लक्ष्य होता है। समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के समान समझने का उच्चतम भाव सन्त हृदय मे ही होता है। इन्ही विचारो से प्रेरित होकर सन्त-जन प्राणी मात्र के कल्याण कार्य मे जुटे रहते हैं।

सन्त, लोकोत्तर पथ-प्रदर्शक ही नही, प्रत्युत्त सासारिक—काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि बुरी भावनाओ को अपने सदुपदेशो से मोड देकर सुमार्ग पर लाने का कार्य भी करते है।

आजकल की भौतिक उन्नति तथा आर्थिक होड की चकाचौंध को युग मे विलुप्त होती हुई जो भी मानवता यत्र-तत्र-दृष्टि गोचर होती है उसका श्रेय भी सच्चे साधुओ को ही है।

सन्तो की आराधना, उपासना तथा उनका गुणगान करने से जीवन पवित्र होता है। तथा राजस् तामस् भाव दूर होकर चित्त मे सात्विक उदात्त और आध्यात्मिक दिव्य भावनाओ का आविर्भाव होता है। मुनिद्वय की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती का आयोजन भी इसी भावना का प्रतीक है।

पृष्ठ ५६ का शेष —

क्या विश्रुत व्यक्तित्व किसी भी 'मिशन' को अग्रसर करने मे सहायक नही होता ?

जो कुछ हो, मधुकर मुनिजी एक सच्चे सन्त की तरह कीर्त्तिकामना से सर्वथा मुक्त है, लोकैषणा उनसे दूर रहती है और वे **'अप्पा अप्पम्मि रओ'** – अपने आपमे लीन रहनेवाले हैं। साधुवाद है व्यावर-सघ को, जिसने उन्हे अभिनन्द स्वीकार करने को मना लिया।

हार्दिक कामना है—मुनियुगल चिरकाल तक साधुता की निर्मल ध्वजा को ऊची रक्खे और सघ तथा शासन के गौरव की वृद्धि करते रहें।

श्वेताम्बर स्थानकवासी सन्तो के आचार्य श्री जयमलजी महाराज के सम्प्रदाय के समुज्ज्वल रत्न मुनिद्वय उच्चकोटि के शान्त, दान्त तपोधन अध्यात्मनिष्ठ, सरल एवम् त्यागी महात्मा है। ससार से पद्मपत्रवत् पूर्ण निर्लिप्त तथा विरक्त रहते हुए सम्पर्क मे आनेवाले विशेष तथा साधारण सभी व्यक्तियो से उनकी सुख-सुविधा के विषय मे साधारण सतोषजनक वार्तालाप कर सबको शान्ति का उपदेश देना मुनिद्वय की विशेषता है।

पूज्य स्वामी श्री वृजलालजी महाराज साहब तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध महात्मा है। आपने अल्प वयस् मे ही बाल ब्रह्मचारी के रूप मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षोपरान्त जैनशास्त्र, तथा अन्य शास्त्रो का सागोपाङ्ग अध्ययन किया और शास्त्रो की शिक्षा को जीवनचर्या मे परिणत किया।

मोती जैसे सुन्दर सुलेख के लिए साधु समाज मे आपकी प्रसिद्धि है। आपके श्रीमुख पर ब्रह्मचर्य का देदीप्यमान तेज तथा सच्चे साधुत्व की आभा है। आकाक्षा रहित सन्त सेवा आपके जीवन की परम विशेषता है। आपके सहयोग, सेवा, सत्प्रयास एवम् अनुग्रह पूर्ण भावना से ही मुनि श्री 'मधुकर' जी महाराज ने उच्चकोटि का अध्ययन और मनन करके अपने जीवन का निर्माण किया है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' जी का जीवन बाल्यकाल से ही वैराग्य की ओर अग्रसर हुआ। फलस्वरूप लगभग दस वर्ष की अल्पायु मे ही आपने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षोपरान्त आपने जैन शास्त्र, प्राकृत सस्कृत, व्याकरण, साहित्य दर्शन, इत्यादि का उच्चतम अध्ययन किया। आप हिन्दी के अधिकारी विद्वान है कविता मे भी आपकी अच्छी गति है। आपने न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ इत्यादि कई परीक्षाये उत्तीर्ण की है। कई जैन ग्रन्थो का सकलन तथा 'जयवाणी इत्यादि' का सुन्दर सम्पादन भी किया है। 'अन्तर की ओर' आदि आपके प्रवचनो के कई सग्रह पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुए हैं, जो मानवजीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड देने मे सहायक है। इसके अतिरिक्त पच्चीस से ऊपर अन्य धार्मिक पुस्तकें भी लिखी है जिनमे 'साधना के सूत्र' एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जो जैन समाज के ही लिए नही, अपितु सभी धर्मावलम्बियो के लिए समान रूप से पठनीय विचारणीय व उपादेय है। आपकी लेखनी मे प्राचीन ग्रन्थो के सार के साथ नवीन विचारो की पुट है। जो चिन्तन मे नवीनमार्ग दर्शन करती है।

"मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ' जैसे विराट ग्रंथराज का निर्माण भी मुनिद्वय (श्री वृजलालजी महाराज साहब व आप) की सुप्रेरणा तथा सहयोग से ही पूर्ण हुआ।

मुनिद्वय, (स्वामी वृजलालजी महाराज साहब एवम् पडित प्रवर मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर') की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसग पर ऐसे त्यागी तपस्वी, साधुत्व भावना से ओत-प्रोत सरल मानस सतो के श्री चरणो मे भावभीनी श्रद्धाञ्जली तथा कोटिश वदन।

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी एवं श्री मधुकर मुनि जी के वर्षावास की सूची

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज के वर्षावास वि० स० १९७१—पाली
१९७२—कुचेरा
१९७३—तिंवरी
१९७४—पाली
१९७५—कुचेरा
१९७६—ब्यावर
१९७७—तिंवर
१९७८—हरसोलाव
१९७९—ब्यावर[1]

मुनिद्वय के संयुक्त चातुर्मास—

वि० सं० ई० सन्	स्थान	विशेष विवरण	
१९८० (१९२३)	पाली	पूज्य गुरुदेव के साथ	
१९८१	नागौर	,,	,
१९८२	कुचेरा	,,	,,
१९८३	ब्यावर	,,	,,
१९८४	तिंवरी	,,	,,
१९८५	नागौर	,,	,,
१९८६	ब्यावर	स्वामी श्री हजारीमलजी के साथ	
१९८७	तिंवरी	,,	,,
१९८८	कुचेरा	,,	,,
१९८९	ब्यावर	,,	,,
१९९०	जयपुर	,,	,,
१९९१	जोधपुर	,,	,,
१९९२	तिंवरी	,,	,,
१९९३	पाली	,,	,,
१९९४	कुचेरा	,,	,,
१९९५	ब्यावर	,,	,,
१९९६	मेड़ता	,,	,,
१९९७	पाली	,,	,,

नोट—वि० स० १९८० से मुनिद्वय के चातुर्मास साथ ही होते रहे हैं, अत उनकी सूची साथ मे ही समझे।

वि० स०	स्थान	विशेष विवरण	
१९९८	कुचेरा	स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज के साथ	
१९९९	व्यावर	"	"
२०००	जोधपुर	"	"
२००१	कुचेरा	"	"
२००२	नागौर	"	"
२००३	डेह	"	"
२००४	कुचेरा	"	"
२००५	भोपालगढ	"	"
२००६	तिवरी	"	"
२००७	व्यावर	"	"
२००८	व्यावर	"	"
२००९	विजयनगर	"	"
२०१०	अजमेर	"	"
२०११	कुचेरा	"	"
२०१२	जयपुर	"	"
२०१३	नोखा	"	"
२०१४	जोधपुर	"	"
२०१५	तिवरी	"	"
२८१६	व्यावर	"	"
२०१७	मेडता	"	"
२०१८	कुचेरा	"	"
२०१९	नागौर	स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज के साथ	
२०२०	महामदिर	"	"
२०२१	रायपुर	"	"
२०२२	पुष्कर	"	"
२०२३	व्यावर	"	"
१०२४	कुचेरा	"	"
२०२५	जोधपुर (मारवाड)	"	"
२०२६	अजमेर	"	"
२०२७	जयपुर	"	"
२०२८	पाली	"	"
२०२९	गोठन	"	"

संदेश

शुभ कामनायें

अभिनन्दन

संदेश • शुभ कामनाएं • अभिनन्दन

स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज तथा मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज अपनी सयम साधना के क्रमश उनसठ (५६) वर्ष व पचास वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, यह प्रसन्नता का विषय है। मुनि-द्वय का अनेक प्रसगो पर मिलन होता रहा है और श्रमण-सघ सम्बन्धी विचार-विमर्श मे भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका सौम्य एव सरल स्वभाव, ज्ञान, साधना एव श्रुत-सेवा की उत्कट भावना, सयम का अनुराग तथा श्रमण सघ के प्रति उनकी निष्ठा प्रशसनीय है। उनके साधनामय जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर समाज ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की साधना मे प्रगति करें इसीमे समारोह की सार्थकता होगी।

मुनिद्वय अपने ज्ञान, दर्शन एव सयम मार्ग मे निरन्तर आगे वढते रहे और समाज को युगो तक उनसे मार्गदर्शन मिलता रहे यही मगल भावना है।

—आचार्य श्री आनन्द ऋषि

(श्रीव०स्था०जैन श्रमण सघके महामहिम आचार्य)

जैन मुनि का जीवन ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना का जीवन है। ऐसा जीवन जीना ही जीवन की सार्थकता है। जैन शासन ने अनेक गुणी व्यक्तियो को उत्पन्न किया है। जैन धर्म गुणप्रधान है। उसने प्रमोद भावना को महत्व दिया है। गुणी व्यक्ति के गुण का समर्थन और प्रकटीकरण सचमुच प्रशस्त कार्य है। इस दृष्टि से मैं मुनिद्वय के अभिनन्दन - माध्यम को ज्ञान - दर्शन - चारित्र के गुणोत्कीर्तन का प्रसग मानता हू।

—आचार्य श्री तुलसी

RAJ BHAVAN
Madras-22
11th January 1973

I am glad to know that an Abhinandan Granth is proposed to be released to commemorate the services of Swami Sri vrajalalje and Muni Sri Misrimalji 'Madhukar' to Jainism I offer my pranams to them on the occasion

—K K Shah
(Governor of Tamil Nadu)

शत-शत अभिवन्दना !

उप प्रवर्तक स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज साहव व पण्डितरत्न मुनि श्री मधुकर जी महाराज साहव का दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती अभिनन्दन समारोह व्यावर मे श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ के सानिध्य मे मनाया जा रहा है—यह जानकर मुझे प्रसन्नता है—अतीव प्रसन्नता है।

दोनो मुनिराजो के साथ मेरा गुरु-परम्परा का एक विशिष्ट सम्वन्ध है। इस नाते मैंने उन्हे निकटता से देखा है—परखा है।

वचपन से लेकर इस अवस्था तक उनकी सेवा करने का लाभ मुझे अनेक वार मिला है। दोनो मुनिराजो का सयमी जीवन विशुद्धतम है। ज्ञान की गरिमा व क्रिया-निष्ठा मे दोनो मुनिराजो की गुरु-परम्परा सदा से अति उत्तम रही है। मुनिद्वय ने उसमे चार-चाद लगाए—जैन जगत् के लिए यह एक अनुकरणीय वात है।

दोनो मुनिराजो का आदर्श जीवन जैसा अव तक रहा है, वह सदा वना रहे, रत्न त्रयमे अभिवृद्धि करते रहे और उनके विशुद्ध सयमजीवन से लाभ उठाकर जन-मानस आचार-विचार मे निरन्तर अग्रसर वने—यही मेरी हार्दिक कामना है।

(पद्मश्री)—मोहनमल चौरड़िया
अध्यक्ष श्री अ० भा० स्था० जैन कान्फ्रेंस

मुनिश्री व्रजलालजी महाराज एव मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' जी के दीर्घचारित्र पर्याय एव श्रुत सेवा के उपलक्ष मे अभिनन्दन ग्रन्थ निकाल रहे है यह जानकर प्रसन्नता हुई। आपका यह कार्य अत्यन्त सराहनीय है। दोनो मुनिवर, त्यागी, वैरागी एव विद्वान है। दोनो महापुरुपो का जीवन अनुकरणीय है। ऐसे तपस्वी वदनीय महापुरुपो का जितना अभिनन्दन किया जाय, उतना थोडा ही है।

श्रमण सस्कृति के उन्नयन मे आप विमल विभूतियो ने जो सहयोग प्रदान कर उसके सरक्षण-सवर्द्धन मे कारणीभूत वने हैं, वह विस्मृत नही किया जा सकता।

मैं इस कार्य की हार्दिक सफलता चाहते हुए मुनिद्वय के पुनीत पादपद्मो मे हार्दिक वन्दन-अभिनन्दन करते हुए श्रद्धा के सुमन समर्पित कर रहा हू।

—(सेठ) अचलसिंह एम पी.

श्रमण सघीय उप-प्रवर्तक वयोवृद्ध स्वामी श्री १००८ श्री व्रजलालजी महाराज साहव की सेवा का जोधपुर मे तीनो ही चातुर्मास मे जो मुझे सौभाग्य प्राप्त हुवा था उसमे मैंने मुनिश्री की रुचि तथा दिनचर्या साधुपणा सग्रह करनेवाली पाई है। मुनिश्री ज्ञान, दर्शन और चारित्र के धर्मी है। मुनिश्री की कठकला वहुत सुन्दर है और भजन, वाणी, जीवन मे आध्यात्मिक रस उत्पन्न करने वाली है।

ऐसे मुनिराज को मेरा वार-वार अभिनन्दन है।

—माधोमल लोढा
मत्री श्री व० स्था० जैन श्रावक सघ, जोधपुर (राज०)

द्वय मुनि-अभिनन्दन !

● प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

सवैया

मन मोहन माधव मोद भरी ब्रज मंडल को विकसाय दियो।
शिशु खेल सुमेल किये कितने लखि भक्त हिये हर्षाय रियो।
नर रूप विरूप कियो तिन को मद मार महायश पाय लियो।
ब्रजलाल गुनि मुनिराज बनी वह नाम यथारथ सिद्ध कियो ?

दोहा

वह रागी ब्रजराज था, यह त्यागी ब्रजलाल।
यदुवशी ब्रजराज है, ये जय गच्छ ब्रजलाल ॥२॥
वह ब्रज कमला के पति, यह ब्रज करुणानाथ।
उन कर बंशी हाथ थी, इनके लेखन हाथ ॥३॥
वह ब्रज गौ प्रतिपाल था, यह प्राणी रिछपाल।
वह त्रिजग का ताज था, यह संयम मे लाल ॥४॥
तेज बस्यौ ब्रज लाल तन, हेज ग्रह्यो मिसरेज।
ज्ञान-क्रिया को रूपधर, सारद सग हमेश ॥५॥
मिश्री ज्यो मधुमय बनै, बने सुकाव्यन वीर।
मल्ल होय सार्थक किया, नाम वाह मति धीर ॥६॥

छप्पय

ले 'तिवरी' अवतार, भला तीनो गुण पाया,
सयम रू समभाव, शातता वर सरसाया।
मन वच तन त्रय योग, बरी बस माल कमाया
सब दर्शन से प्रेम युक्ति, युत कर समझाया।
कृति कला साहित सरस, ललित लिपी मन हारनी,
जन्म देय माता बनी, रत्नकुक्ष की धारणी ॥७॥
क्रोध गयो कुमलाय, मान विलखानन होगो,
माया रही मुरजाय, लोभ सारो सुख खोगो।
विकथा ह्वी बेमार, चुगल बनग्यो ना-जोगो,
निंदा गिरी निराहट, इर्षा भूलि छोगो।
मिश्री मुनि की शातता, पेखी कुमता भाग की,
किम ठहरे खलदल बठे, ज्योति जग रही त्याग की ॥८॥

दोहा

चारित्र बल से वन प्रबल, बने चिरायु राज।
'मिश्री' ब्रज-मिश्री प्रति, चाहत सर्व समाज ॥ ● ●

मधुकर जी री कई केणी ?

● प्रवर्तक मुनि श्री अम्बालालजी महाराज

मधुकर जी तो बस मधुकर जी है, मधुकर जी री होड कुण कर सके ?

सीधा सादा सरल, सिद्धान्त मे अटल, आचरण मे निर्मल, मधुकर जी साधु समाज मे जागती जोत है ।

घणा वर्षा मू मधुकर जी सू म्हारो सम्बन्ध है, नरी दाण साथे रेवा रो काम पड्यो, श्रमण सघ रा मामला मे नरी दाण चर्चा की और बात-चीत मे भी वणा ने समझवारो मोको मिल्यो । पण कदी भी म्हारा मन पर वणा रो ओछो प्रभाव नी पड्यो ।

म्हारी वणा रे प्रति जो उच्च धारणा है, वणी मे कदी भी फरक नी आयो । क्रोध की तो झलक ही नी देखी, पण वाणी मे कडकाई तक नजर नी आई । "साधु सोहत्ता अमृत वाणी" या उक्ति मधुकर जी मे हमेशा प्रकट मिली ।

हर वक्त, हर टेम मुलकतो-हसतो चेहरो, मीठी मीठी-वार्ता ने शास्त्रानुसार सुन्दर विचार ये खास विशेपता है जो म्हारे ध्यान मे आई ।

मधुकर जी रो व्यवहार बहुत उत्तम है, जो उत्तम निश्चय रो परिचायक है ।

आहार-विहार और दिनचर्या मे वणा रा अन्तर बाह्य साधु पणा रो पक्को सबूत मिले ।

मधुकर जी री सब सू वडी विशेपता मिलनसारिता है ।

मधुर वचन ने नम्र व्यवहार सू पराया ने आपणो वणावता अणा ने देर नी लागे ।

मधुकर जी महाराज दीखवा मे वडा भोला-भाला दीखे, पण असल मे अतरा भोला है नी जतरा लोग जाणे, आपणा ज्ञान दर्शन-चारित्र री साधना मे वडा सावधान है हिरिम पडिसलीणे हो वासू वणारा व्यवहार मे तूफान नी है, शान्ति है, सज्जनता है, यो ही वणारो भद्रपणो है ।

मधुकर जी री दृष्टि साफ और शास्त्रानुसार नजर आई, अणीज वास्ते वणा पर म्हारी वडी श्रद्धा है ।

वीतराग वाणी रा अभ्यासी श्री मधुकर जी महाराज वडा स्वाध्यायी, ग्रन्थकार ने अच्छा वक्ता है । पूज्य श्रीजयमलजी महाराज साहब की पवित्र परम्परा रा सपूत चमकता-दमकता हीरा श्री मधुकर जी महाराज वर्तमान साधु समाज मे महत्त्व पूर्ण चारित्रवान सन्त है, वणा री चारित्र पर्याय रा पचास वर्ष निरन्तर आध्यात्मिक उन्नति मे बीत्या या वडी हर्ष और प्रमोद री बात है । समाज वणा रो ऊणी अवसर पे अभिनन्दन करे यो ठीक ही है, मू भी हृदय सू सात्विक अभिनन्दन करतो थको आशा करू के श्री मधुकर जी महाराज घणा वर्षा तक जीवन्त सयम का प्रतीक वण ने जैन समाज और श्रमण सघ रो मार्ग प्रदर्शन करे । ●

उपाध्याय श्री अमरमुनि

कृपिप्रधान भारत का सस्कृति स्वरूप ऋपि-प्रधान रहा है। यहा सत्ता, वैभव एव ऐश्वर्य के उन्नत शिखर भी त्याग, वैराग्य एव साधना के चरणो मे झुकते रहे हैं। यहा सभ्यता के आदिकाल से जीवन का लक्ष्य सत्ता व ऐश्वर्य नही, किन्तु साधना व वैराग्य रहा है। भारतीय मस्तिष्क मूलत शान्ति का इच्छुक है, और उस शाति का उत्स त्याग व साधना है। यही कारण है, कि आत्म-साधना के पथ पर चलने वाला साधक ही भारतीय जीवन का आदर्श, श्रद्धेय और वन्दनीय माना जाता रहा है। साधको का वन्दन-अभिनन्दन मूलत त्याग-प्रधान जीवन दर्शन का अभिनन्दन है।

मुझे यह जानकर वहुत प्रसन्नता हुई है कि राजस्थान के दो प्रसिद्ध सत मुनि श्री व्रजलाल जी एव श्री मधुकर मुनि जी का सार्वजनिक अभिनन्दन श्रद्धालु जनता द्वारा आयोजित हो रहा है, दोनो मुनिवरो की सुदीर्घ दीक्षा पर्याय के पचास व तदधिक वर्षो की परिपूर्णता पर !

मैं इन दोनो मुनिवरो के निकट परिचय मे रहा हू निकट ही नही, वहुत निकट ! स्थविर शिरोमणि स्वामी व्रजलाल जी की सहज सरलता, दृढ सेवा निष्ठा और अनाविल आत्मीयता की मधुर स्मृतियाँ मुझे आज भी गद्‌गद कर देती है। अस्व-स्थता के दुर्दिनो मे वे मेरी स्वास्थ्य-चिकित्सा मे निकटतम सहयोगी रहे है और मैं उन्हे डाक्टर साहव के नाम से सम्वोधित करता था। कितने मीठे होते थे जीवन के वे क्षण !

मुनि श्री मधुकर जी वास्तव मे मधुकर वृत्ति के प्रतीक है। वे गुणग्राही, सेवा भावी और मधुर भापी होने के साथ ही एक अच्छे प्रवक्ता, कवि व लेखक भी हैं। अध्ययनशीलता व जिज्ञासावृत्ति ने उनकी प्रतिभा को अच्छा निखार दिया है। राजस्थान के महान् तपोधन, वहुश्रुत एव सुविश्रुत जैनाचार्य पूज्य श्री जयमल जी महाराज की प्राचीन सत परम्परा के वे सुयोग्य प्रतिनिधि सत है।

दोनो मुनिवरो के इस मगलमय अभिनन्दन प्रसग पर मेरा हार्दिक अभिनन्दन !

मगलमूर्ति मुनिद्वय तुम हो,
जैनजगत के शशधर, दिनकर।
युग-युग तक चिरकाल तुम्हारी,
स्वर्णाभा चमके मंगलकर ।।

प्रवर्तक मुनिश्री अम्वालालजी महाराज

परम आदरणीय वयोवृद्ध स्वामी जी श्री व्रज-लाल जी महाराज साहव रो समाज सार्वजनिक अभिनन्दन करे, ये समाचार मिल्या। श्री व्रजलाल जी महाराज म्हाणी साधु समाज मे वयोवृद्ध दृढ सयमी, उत्तम महापुरुष है। पुराणी साधु परम्परा रा नमूना है। कद सू छोटा पण, गुणा सू वहुत बडा है, अभिनन्दन रा अवसर पे म्हारो भी हार्दिक अभिनन्दन वन्दन मजूर करें।

मुनि श्री नथमलजी

सम्प्रदाय, वेष और आकृति मे जो है, वह स्थूल जगत् की प्रतिमा है। उसके भीतर जो है वह चिन्मय है, महतो महीयान् है। उसका मैं अभिनन्दन करता हू।

● प्रवर्तक श्री विनय मुनिजी—

जब राजस्थान प्रात मे हमारा विचरण हो रहा था उस समय सरलस्वभावी सौम्यमूर्ति स्वर्गीय श्री हजारीमलजी महाराज और उनके शिष्य रत्न श्री व्रजलालजी महाराज एव श्री मिश्रीलाल जी महाराज मधुकर से कई दफे मिलने के प्रसग प्राप्त हुए थे।

व्यावर मे रायली के वगले मे हम कई दिनो तक साथ मे भी रहे थे, उस समय उपप्रवंतक श्री व्रजलाल जी महाराज की सरलता सौजन्यता, एव सेवा भावना का परिचय हुआ था—ये निरभिमानी एव कर्तव्यनिष्ठ है।

श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर' शांत स्वभाव, प्रसन्नवदन एव विनयमूर्ति है।

दोनो मुनिवरो की सूर्य-चन्द्र जैसी अद्वितीय जोडी है।

श्री मधुकर मुनि जी मे सहज निस्पृहता वाणी मे मधुरता, गम्भीरता, गुणग्राहकता आदि गुणो का वास है।

आपने अल्प समय मे आगमो और अन्य ग्रन्थो का तलस्पर्शी ज्ञान सम्पादन कर लिया है और नवीन ज्ञान प्राप्ति मे भी सदैव अग्रसर रहते हैं।

आप मुनिद्वय जैन शासन के सतरत्न एव समाज के देदीप्यमान सितारे है।

शासनदेव से यह प्रार्थना है कि ये मुनि द्वय स्वस्थता एव दीर्घायुष्य प्राप्त करके दिन-दूनी एव रात्रिचौगुनी समाज, धर्म एव राष्ट्र की अधिकाधिक सेवा करके स्वपर कल्याण की साधना करे यही मगलमय शुभ कामना है।

●

● उपप्रवर्तक श्री मोहनलाल जी महाराज

यह जानकर वडी प्रसन्नता हुई कि स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज एव विद्वद् रत्न मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य मे उनका अभिनदन समारोह आयोजित किया जा रहा है।

दीक्षा के पचास वर्ष की पावन सम्पूर्ति, स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर उनके हार्दिक अभिनदन के साथ उनकी गौरवमय हीरक जयन्ती मनाने की मगल कामनाए।

●

वन्दन-प्रसूनाञ्जलिः

● प्रसिद्ध वक्ता श्री पुष्कर मुनिजी

कल्याणकाङ्क्षिन् ! करुणानिधान !
प्रशान्तसिन्धो ! सकलात्मबन्धो !
गुणिन् मनस्विन् मतिमन् सुविद्वन् !
वन्दे ऽनिश त व्रजलाल साधुम् ! १ !

लिपिं सुरम्यां भवता विलोक्य,
अतीतकालीनसतामृषीनाम्।
स्मृति मदीये हृदये प्रबुद्धा,
वन्देऽ निशं तं व्रजलालसाधुम्। २।

शान्तस्सुदान्तो व्रतिना वरेण्यः
प्रचण्डमोहद्विरदं विजेतुम्।
अयं मुनीन्द्रो मिसरीमलाख्यः
वन्दे मुनीन्द्रं तमह सुभक्त्या। ३।

विभिन्नभाषा· समधीत्य सम्यक्
जैनागमाब्धि गहन निमथ्य !
चास्ति प्रदक्षो ऽधतमं विदग्धं
वन्दे मुनीन्द्र तमह सुभक्त्या ! ४ !

●

प्रेरणात्मक वचन

✱ पूज्यवर स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज

विरले ही व्रजलाल से, शिष्य होय सुविनीत ।
गुरु, गुरु-भ्राता की करी, सच्चम सेव पुनीत ॥१॥

मिष्ट-गिरा मधुकर तणी बरसत अमिय-समान ।
महि-मडल मे करत हैं, सदा स्व-पर-कल्याण ॥२॥

मिसरी सू मीठी घणी, मधुकर तणी जबान ।
महत कार्य कीने कई जाने जैन-जहान ॥३॥

वसुरिया वत वचन मे, वारू विमल विवेक ।
मरुधर मे 'मधुकर' जिसा, कहिए सत कितेक ?४॥

● मुनि श्री प्रतापमलजी महाराज

जैनसमाज द्वारा महामनस्वी मुनिद्वय के आध्यात्मिक साधक जीवन का जो विशाल पैमाने पर अभिनन्दन समारोह मनाया जा रहा है यह जैन समाज के लिए ही नही, अपितु प्रत्येक विकासशील ममाज के लिए गौरव का प्रतीक है ।

मैं मुनिद्वय का हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ अपने आपमे गौरव का अनुभव करता हू । समाज को ऐसे विद्वद् साधक वृ द से अधिकाधिक मौलिक साहित्य उपलब्धि की आशा है ।

●

● श्री माधोमलजी लोढा

श्रमण सघीय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' की विशेप सेवा का जोधपुर के तीनो ही चातुर्मास मे मुझे सौभाग्य प्राप्त हुवा था । मुनि श्री के प्रवचन जैनधर्म के मौलिक तथा जैन धर्म को व्यवहार मे परिणत करवाने के सिद्धान्तो पर आधारित होते हैं । मुनि श्री के प्रवचन बडे रोचक, प्रभावशाली और जैनधर्म मे विश्वास उत्पन्न करानेवाले हैं । मुनि श्री अनाग्रही और सत्य के खोजी है ।

प्रात हर रोज सिंहपोल मे मुनि श्री के प्रवचन का लाभ उठाने के अलावा मैं हर दोपहर फिर सिंहपोल मुनि श्री की सेवा मे जाया करता था—दोपहर की सत सगत तो मेरे लिए जीवन-शुद्धि का एक वास्तविक साधन रहा ।

मुनि श्री मे अनुभूतियाँ जागृत है, जिनमे शील, क्षमा, सतोप और सेवाभाव की निर्मल ज्योति जल रही है । मेरे सामने हुई एक घटना है कि मधुकर मुनि पर एक महान् मुनिराज द्वारा कठोर शब्दो और वाणी के प्रहार किये जाने पर भी मधुकर मुनि का मुखारविन्द हसता ही दीखने मे आया और उनका शाति सतुलन भी ज्यो का त्यो कायम रहा । मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज मधुकर का जैसा नाम है, वैसी ही उनकी मधुर वाणी है और स्वभाव भी । ऐसे मुनिराज को मेरा बार-बार अभिवदन है ?

●

श्रद्धा सुमन-समर्पण

—मुनि श्री रूपचन्द्र जी 'रजत'

रग ना अनग मन-सग सत्य ग्रह्यो दृढ,
धाम-दाम, वाम-क्षण-भगुर विचार्यो है।
मात, तात भ्रात जात, ख्वाउ है खलक माहीं,
जान प्राण गुरु कज-"व्रज" मनवार्यो है॥
जयते जगत जस "जयमल" गच्छ स्वच्छ,
दच्छ वच्छ "फकीर" को जोरावर धार्यो है।
गुरुभ्राता "हजारी" के हाजरो मे हरपल,
नेकन सिकन भाल सेव सर सार्यो है॥१॥

व्रज मुनि लेखन दीपव्यो, तिमिर कटे तत्काल।
दर्श-पर्श-द्विधा मिटे, व्रज-रज ज्यो गोपाल॥
इक अक्षर मे वारते-विविध भान्ति का रत्न।
कंठाभरण समान है—ग्रहै कोई कर यत्न॥

करमे कलम करी-आखर तै मोति लरी,
धरी ना प्रमाद रूपै चूप सु लिखावे है।
क्रियावन्त कमनीय, सरल सुसंजमीय,
कमनीय मस्त आप, भावुकता भावे है॥
नर नाहर सो निडर निरभीख ह्वै आप,
स्पष्ट साफ तोल - वोल रोल ना सुहावे है।
वाल ब्रह्मचारी घोर, कौकिल सो कठकोर,
भोर मे भजन नित - चितसु सुनावे है॥२॥

उप अधिकारी आप है, श्रमण संघ मे सूर।
"ब्रज्जलाल" सुखमाल मुनि, भरियो गुण भरपूर॥
संघ सकल मिलके करे, अभिनन्दन उत्साह।
रजकण ज्यूँ "मुनिरजत"आ, करी भेट कविताह॥

●

जैन सुधा - निधि मे खिले, जैनागम अरविन्द।
धर्म विटपवर विज्ञका—मधुकर नित मकरन्द॥
सारभूत संसार मे, समदर्शी सत संत।
वरणे वैरिखानते, ता विच "मिश्री" तंत॥
पेख्यो पंडितपूर, शूर सत्य संयम सिरै।
हसित वदन हजूर, क्रूर कदाग्रे नाग मे॥

लेखक ललित ललाम, धाम-धर्म रो सद्गुणी।
शान्तदान्त अभिराम, नाम मधुर मन भावणो ॥
गयवर ज्यो गेरोह, पेहरो आतम रामरो।
सज्जन शिर सेरोह, मिहर विधा व्योम रो ॥

विज्ञ है विनोदी वारू, धिषणा को धाम धनी—
रीषणा को खर खोज—क्षमता से खोयो है।
परेच्छा लब्ध वन क्षुब्ध ना बन्यो है कभी—
सभी से सनेह साध ज्हान मन मोयो है ॥

यथा नाम तथा गुण, मिष्ट इष्ट शिष्टन को,
सयम गरिष्ठ 'रूप' वरिष्ठ गुण लोयो है ॥
आगम के अनुसार—साहित्य सृजन कर—
भव्यन के भाव भूवि-धर्म बीज बोयो है।
धन्य "मधुकर मुनि" नैन जैन कोयो है ॥

मधुकर चित्त मयूर ज्यो, हर हिरदय अहि हार।
सार-सूप-सभाल शिव-राखे चाखे प्यार ॥
मधुकर-मधुकरि ध्यानकर, मधुर तवत चाहेय।
मधु संचय मन मे भर्यो, मन मत अवगाहेय ॥

मुनिराजन मे मुनिराज महा, जिन स्वर्ण जयन्ति सम्मान गहा।
जिनके पद श्रावक सघ सदा, मुनि सघ सुमत्री सुतत्री कहा ॥
ज्रस जाहिर भारत देशन मे, लघुमत्तभणै "मुनि रज्जत" हा।
सनमान सु "ब्यावर" संघ मिली जुकरे "अभिनन्दन ग्रथ" अहा ! ॥

धीमन्त श्री मधुकर मुने, गुणगणसमूह के सदन हो।
श्रद्धायुत समर्पित करूँ, हार्दिक अभिनन्दन हो ॥

पच महाव्रत सद्गुरु से वर सस्कृत - प्राकृत को शुचि ज्ञाना।
ग्रन्थ लिखे निज लेखिन से जिन आतम शोधन को हित नाना ॥
"श्री मिसरी मुनि" को उपदेश लगे सबको मृदु मिश्री समाना।
या हित भेंट करे अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्विध संघ स-माना ॥१॥

शिशु गण यश गाते आपका एक नाद।
बुधजन सब देते, आपको साधुवाद ॥
"श्रमण रजत" याते-यो कहै निर्विवाद।
"मधुकर मुनि मिश्री-मल्ल" है पूज्यपाद ॥२॥



● श्री रतन मुनि

श्री स्वामी व्रजलालजी महाराज साहव एव मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज साहव 'मधुकर' की श्रुत सेवा एव सयम-साधना के क्रमश उनसठ (५९) व पचास वर्ष पूर्ण होने पर उनका अभिनन्दन किया जा रहा है यह एक शुभ प्रयास है। वस्तुत ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करनेवाला साधक अभिनन्दनीय होता है।

उनकी सयम-साधना और श्रुतसेवा ऐसी उच्च है, जिस पर समाज गर्व कर सकता है। उनके जीवन का प्रत्येक पृष्ठ इतना उज्ज्वल-समुज्ज्वल है कि जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आता है, उनके प्रति श्रद्धा से विनत हो उठता है।

सहस्र-सहस्रजनो के श्रद्धा केन्द्र होने पर भी जिन्हे गर्व छू नही पाया हो, जो पद और प्रतिष्ठा के व्यामोह से सर्वथा परे रहकर श्रमण सघ की एकता के प्रति पूर्ण समर्पित रहे हो, ऐसे सन्तजन सचमुच ही अभिनन्दनीय हैं।

जिनकी वाणी मधु के समान मिष्ट और हृदय नवनीत के समान सवेदनशील हो, उनके प्रति कौन श्रद्धावनत नही होगा ?

वाणी से सतोष देनेवाले तो जीवन मे अनेक मिल सकते हैं, किन्तु समय पर साथ देनेवाले विरले ही होते हैं। आपके द्वारा जो सहयोग का सम्वल मुझे मिला, वह मेरे जीवन का अविस्मरणीय अग वन गया है। आचार्यश्रीजी का वरदहस्त जो मुझे प्राप्त है, उसका श्रेय मुनिद्वय को ही है।

आपका साधनामय जीवन अनेक साधको के लिए आलोक वनकर युग-युग तक पथ प्रदर्शित करता रहे यही मगलकामना है। ●

● श्री कुन्दन ऋषि

सरलता साधना का प्राण है। धर्म सरल चित्त मे ही स्थित रहता है। स्थानाग सूत्र मे मानव-जीवन की प्राप्ति के लिये सरलता को आवश्यक माना गया है और ऐसी सरलता की प्रतिमूर्ति है स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० एवं मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज साहव 'मधुकर'।

श्रद्धेय मधुकर मुनिजी के पुनीत दर्शनो का प्रथम सौभाग्य मुझे सम्वत् २०२० के अजमेर सम्मेलन के कुछ दिन पूर्व व्यावर मे प्राप्त हुआ। नाटा कद, गेहुआ वर्ण और प्रसन्न मुख-मुद्रा जिस पर सौम्यता और सरलता सहज रूप से झलकती है। उस समय मेरी दीक्षा को डेढ वर्ष ही हुआ था। वन्दन करते समय स्नेहमयी वाणी मे पूछ वैठे—क्या नाम है ? अध्ययन क्या चल रहा है ? कितनी आत्मीयता एव सद्भावना थी उनके इस प्रश्न मे।

पुन आपके दर्शन का सुअवसर जैतारण (मारवाड) मे प्राप्त हुआ। आप सघ ऐक्य पर भाषण दे रहे थे। वहा मुझे आपकी वक्तृत्व शैली और विचार गाम्भीर्य का पता चला। साडेराव सम्मेलन के अवसर पर पुन आपसे मिलना हुआ। इस अवसर पर मुझे आपकी युवकों-सी कार्यक्षमता और अनुभवी वृद्ध सी समन्वय करने की योग्यता का परिचय मिला।

वे अपनी साधना के पचास वर्ष पूर्ण कर रहे हैं, यह हम सभी के लिये प्रसन्नता का विषय है। उनकी साधना का आलोक भावी पीढी के लिये प्रकाश स्तम्भ का काम दे, इसी सदभावना के साथ। ●

मुनि-द्वय के प्रति

—**चन्दनमल 'चांद'** एम ए. साहित्यरत्न
प्रवन्ध सम्पादक जैन जगत 'मासिक'

वन्दनीय है साधना, वन्दनीय है ज्ञान,
आत्म-साधना से सदा, मानव बना महान।

सरल, तरल, निष्कम्प है, स्वामी व्रज के लाल,
दूर रहे संकीर्णता, हृदय अगाध विशाल।
धन्य आपकी साधना, अद्भुत कौशल ज्ञान,
निर्भय, निर्मल, सन्त का, गाऊं मैं गुणगान।
'मिश्री' से 'मधुकर' बने, सरल, मधुर स्वभाव,
मग्न साधना में रहे, उर मे है समभाव।
लेखन, वाचन, काव्य में, सदा रहें जो लीन
आत्म-साधना में वही, सन्त वने प्रवीण।
नया पुराना जोड़कर, सेतु बने विशाल,
अमर रहेंगे सन्त वे, छू न सकेगा काल।

कलाकार को कवि हृदय, देता है सम्मान,
अभिनन्दन स्वीकार करें, ग्रहण करें बहुमान।

राजहंस की जोड़ी

—**श्री चन्दमुनि** (बरनाला)

जिनशासन का शांत-सरोवर लहराता शीतल-संयम जल !
शम-सवेग विनय की वीचि जहा उछलती रहती अविरल।
शोभित होते, मन को मोहते शुभ्र काति-सद्गुण मुक्ता दल,
राजहस सम द्वय-मुनि उसमें सयम-क्रीड़ा करते प्रतिपल॥

सेवा-समता-सरलता विनय-बुद्धि के धाम।
श्री व्रज मुनि के चरण में 'चन्दन' करत प्रणाम।
मधुकर मधुकरवृत्ति धर रहते सद्गुण लीन।
'चन्दन' श्रुत-सयम-निरत, मुनिवर वड़े प्रवीण।
चिरं जीवतु द्वयमुनि, करते जग उद्धार।
अमरकीर्ति गाता रहे, सुख-पाता ससार !

❋ असीम शुभ कामनाएँ ❋

परमज्योतिर्विद प०रत्न मुनिश्री
—कुन्दनमलजी महाराज साहब

जय वशावतश भव्यजनशरण्य, विद्वद्वरेण्य मुनिद्वय श्री १००८ श्री व्रजलालजी महाराज साहब एव सौम्यावतार श्री १००८ श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब 'मधुकर' के तपपूत साधक जीवन के रूप मे क्रमश ५९ एव ५० वसन्तो की सपूर्ति पर मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूं। विद्वद्वरेण्य श्री मिश्रीमलजी महाराज साहब का तो साधक जीवन मे प्रवेश ही शांत दांत विद्वद्वर्य गुरुदेव श्री धूलचन्द जी महाराज साहब एव स्वनाम धन्य सगठन के अग्रदूत प० रत्नगुरुदेव श्री पन्नालालजी महाराज साहब के नेतृत्व मे भिनाय क्षेत्र मे हुआ है, अत आपका तो विशेप तादात्म्य सम्बन्ध है।

मुनिद्वय का तपोमय जीवन अनुकरणीय एव प्रेरक रहा है तथा साहित्य सृजन मे आपका अनवरत, एकनिष्ठ सहयोग प्रशसनीय रहा है। इस अवसर पर पुन हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ, मैं यह कामना करता हू कि आप चतुर्विध श्री सघ को आध्यात्मिकता का अमृतरस-पान कराते हुए अमरत्व की ओर निरन्तर बढाते रहे।

श्रद्धा के शब्द-कुसुम

—श्री शादीलालजी जैन
अध्यक्ष—भारत जैन महामण्डल–बम्बई

स्वामी श्री व्रजलालजी एव मुनिश्री मिश्रीमलजी "मधुकर" के सुदीर्घ चारित्र पर्याय एव श्रुत-सेवा के उपलक्ष्य मे अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना नि सन्देह एक महत्वपूर्ण कार्य है। साधना और सेवा का उचित मूल्याकन होना ही चाहिए। हमारा जैन समाज महान तपस्वी साधु-साध्वियो एव आदर्श श्रावको से आज भी भरा-पूरा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम ऐसे रत्नो को न केवल जैन समाज के समक्ष बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करे।

यद्यपि प्रत्यक्षरूप से मुनि-द्वयो से मेरा कभी सम्पर्क हुआ हो ऐसा स्मरण नही, किन्तु उनके जीवन की साधना, सरलता और अध्ययन के सम्बन्ध मे प्राप्त जानकारी से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हू। साधक के लिए साधना जितनी अपेक्षित है, उतनी ही सरलता और हृदय की विशालता भी। अब वक्त आ गया है कि हम आपसी मतभेदो को भूलकर अनेकान्त के सिद्धान्त को सर्वप्रथम जैन समाज मे ही उतारे और विश्व के समक्ष प्रेम, बधुता, अहिंसा आदि के उदाहरण प्रस्तुत करें।

भारत जैन महामण्डल इस दिशा मे समन्वय की एक कडी बनकर जो लघुप्रयास कर रहा है वह आप जैसे मुनियो के मार्गदर्शन एव आशीर्वाद से अधिक गतिशील होगा ऐसी आशा है। मैं अभिनन्दन समारोह की सर्वांगीण सफलता चाहता हुआ अपनी श्रद्धा के शब्द-कुसुम अर्पित करता हूं।

मुनि मधुकर सप्तक

—गणेश मुनि शास्त्री
साहित्यरत्न

मधुर कीर्ति है, मधुर मूर्ति है, मधुर वृत्ति मन मधुकर है,
जीवन मधुर-मधुर वाणी है, मधुर प्रेम रस सागर है।
मधुर-मधुर सद्गुण सुमनो से, लेते सदा मधुर है,
गुण है वैसा नाम मनोहर, मिश्री मुनिजी मधुकर है ॥

फूल-फूल पर फिर-फिर करके, मधुकर मधु ही लेता है,
किंतु भूलकर कभी नही वह, कष्ट फूल को देता है।
मुनिवर उत्तम भिक्षाचर वे, मधुकरी ही करते है,
नही सताते किसी जीव को, ऐसा जीवन जीते हैं ॥

तप सयम से पूर्ण अहिंसक, जीवन है झरने जैसा,
झुके देवगण पद-पद्मो मे, वह भी मानव है ऐसा।
मुनि को मधुकर सम कहते हैं, अनासक्ति है भाव कहा,
मुक्तिपथ के अनुगामी मे, भव्यो का मन सदा रहा ॥

धरती-सी है क्षमा मृदुता,-मात कमल को करती है,
बालक-सी है हृदय सरलता, जन-जन का मन हरती है।
पवित्रता की शीतल गङ्गा, ब्रह्मचर्य मे बहती है,
उनके सुयश गीत गाने, को, सुरबालाएँ सजती है ॥

उन्नीसो सित्तर सवत मे मिगसिर सुद चौदस आई,
जन्म लिया तिवरी मे मिश्री, नूतन सदेशा लाई।
संवत उन्नीसो अस्सी मे, वही वीर पथ पथिक चला,
वैशाख सुदी दसमी की दीक्षा, भणाय मे था भाग्य खिला ॥

गुरु जोरावर कुल कानन मे, मधुकर मधु के स्रोत बहाये,
सस्कृत-प्राकृत-हिन्दी आदि, भाषाओ का ज्ञान बढाये।
पञ्चवीस पुस्तक अकन कर, जीवन मे श्रम भवन बनाया,
साहित्य क्षेत्र के खेत गगन मे, चार चाँद है आप लगाया ॥

त्याग तपस्या यति धर्म से, जीवन का मूल्याकन हो,
तथारूप श्रीश्रमण चरण मे, सम्यग्दर्शन वदन हो।
तीर्थपति का तीर्थ अमर है, जन-जन का नव जीवन हो,
'गणेश' सदा उसकी वृद्धि मे, सफल ग्रन्थ अभिनन्दन हो ॥

संत का अभिनन्दन करेगा देश ...!

● साध्वी श्री उज्ज्वलकुमारी जी म०

हमारा देश भारतवर्ष आज भौतिक साधनो मे, सैनिक वल मे, आर्थिक समृद्धि मे तथा विज्ञान के विकास मे विश्व के अनेक देशो से पिछडा हुआ होने के वावजूद भी वह महान देशो मे गिना जाता है। इसका क्या कारण ? इसके पास एक ऐसी समृद्धि है कि जिसके कारण समग्र विश्व के विचार-शील विद्वान उसका आदर करते हैं। उस समृद्धि की वदौलत आज भी इस देश का स्थान सर्वोपरि है। इसलिये हम महान गौरव की अनुभूति करते हैं।

वह समृद्धि हमारी आध्यात्मिक सस्कृति है। भौतिकवाद से सत्रस्त विश्व को किसी समय यह आध्यात्मिक सस्कृति ही शाति दे मकेगी। इसलिये हमे इस अध्यात्मसस्कृति को सजीव और स्फूर्त वनाये रखना जरूरी है। यह पुनीत सस्कृति भारत के सतपुरुष तथा ऋपी-मुनियो की तपस्या और अनुभूति की देन है। और उन्ही की साधना से यह आज भी जीवित है। इसीलिये सतपुरुष हमारे लिये अभिनदनीय हैं, अभिवदनीय हैं।

अध्यात्म सस्कृति को जीवित रखने के लिये और फैलाने के लिये अपने विचार, वाणी और वर्तन से पूरा योगदान देनेवाले सरलात्मा, अध्यात्म योगी श्रीव्रजलालजी महाराज तथा उदात्त एव उदारविचारशील मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर', इन मुनिद्वय का श्रुत सेवाये तथा स्वर्ण जयती उपलक्ष्य मे अभिनन्दन समारोह कर जो आयोजन किया है, वह भी अभिनन्दनीय है। अहर्निश साधना की अखण्ड ज्योति प्रज्ज्वलित रखनेवाले सत ही हमारी सस्कृति के प्राण है। सतो का अभिनन्दन करने वाला देश ही उन्नति के शिखर पर आरोहण कर सकता है—

संत का अभिनन्दन करेगा देश
जिनका है उपकार अशेष,
धारकर सस्कृति का परिवेश ।।

तप, त्याग और वैराग्य ही भारतीय मस्कृति के मौलिक तत्व हैं। हमारे सन्तो ने इन मौलिक तत्वो को मदैव ही सुरक्षित रखा है और समय-समय पर विकसित भी किया है।

स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज एव मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' इन मुनियुगल के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त नही हुआ है फिर भी मेरे पुज्य गुरुदेव आत्मार्थी श्री मोहनऋपीजी महाराज तथा यथा नाम तथा गुण प्रवर्तक मुनि श्रीविनयऋपीजी महाराज के कथन से परोक्ष परिचय जरूर हुआ है। आपके विचारो की विशालता, हृदय की उदारता, वाणी की मधुरता, स्वभाव की सरलता और सौम्यता, व्यवहार मे नम्रता इत्यादि सद्गुण सुमनोका सौरभ से आकर्षित होकर के यह कतिपय श्रद्धा-सुमन मैं समर्पित करती हू।

●●



भारतीय जन-जीवन की आकांक्षा

● **साध्वी श्री सरलाजी** सिद्धान्ताचार्य

हमारे देश मे महान् विभूतियो, धर्म प्रचारको-समाज सुधारको-त्यागी महात्माओ की एक लम्बी शृ खला है। इन विभूतियो की कीर्त्ति-रश्मियां और व्यापक आत्मीयता देश जाति और स्थानीयता के घेरे से बाहर दूर-सुदूर देशो और भूखण्डो मे भी मानवीय सहानुभूति और मानवोचित आत्मीयता का प्रसार करके ससार को मार्ग प्रदर्शन करती रही हैं। निश्चय ही इन पर किसी एक देश अथवा जाति का अधिकार नही रह जाता, क्यो कि ऐसे महापुरुप स्थानीय सीमाओ से परे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो जाते हैं।

इसीप्रकार वर्त्तमान युग मे समाज सुधारक-युग चेता उदात्त-विचारक एव उदारविचारवान महापुरुप स्वामी श्री व्रजलालजी एव मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' का जीवन है। जो धार्मिक जीवन के प्रत्येक परिपार्श्व को त्याग, तपस्या एव आलोकमय गरिमा-तथा भारतीय जागरण को नवीन स्वर प्रदान कर रहे हैं।

इस युग मे मुनिद्वय का अद्‌भुत व्यक्तित्व है। मुनिद्वय का हिमालय सा शुभ्र और विराट गगा सा पवित्र और सचेतन-गुलाव सा सुगन्धित और कलात्मक-विद्यु त सा गतिमान-तरगित और आलोकमय-ऐकान्तिकता मुक्त और प्रकाशमान तथा सूर्य सम तेजस्वी और प्रभावित जीवन है।

मुनिद्वय का जीवन साहस, शौर्य एव धैर्य का जीवत रूप हैं। साहसी महापुरुपो की गति वडी तीव्र होती है। पर कायर और आलसी के लिए सवसे वडी अटक उनका अपना मन होता है। जिनके मन मे कही कोई अटक नही है, उन्हे कोई भी अटका नही सकता। कहा है—

इरादो से जो टकराए उसे तूफान कहते हैं,
जो तूफानो पे छा जाए, उसे इन्सान कहते हैं।

जोखिम और खतरो के बीच ससार के बडे-वडे निर्णय सदैव साहसी लोगो ने ही लिए हैं।

सच तो यह है कि यह धरती वीरो के लिए है। **'वीर भोग्या'** वसुन्धरा दुर्वल-कायर व निकम्मे व्यक्तियो के लिए हर मार्ग अवरुद्ध है—हर पदार्थ अलभ्य है। तभी तो कहा है -

दुर्वल को सहज मिटाकर, चुपचाप समय खा जाता,
वीरो के ही गीतो को, इतिहास सदा दोहराता।
वे ही जीवित धरती पर, जिनमें कुछ बल विक्रम है,
भारी घुडदौड यहाँ है, बलपौरुष का सगम है॥

इन मुनिद्वय का जीवन अत्यधिक साहसी एव पराक्रमी रहा है। इन की तेजोदीप्त मुख मुद्रा पर अन्तर के निर्मल उल्लास एव आत्म तुष्टि की पवित्र छवि मदस्मिति के साथ चमक रही है। इन के नेत्रो मे असीम ममता, करुणा एव वात्सल्य की उज्ज्वलआभा दमक रही है। इन की तेजोमय देह से आध्यात्मिक स्फूर्ति-सहिष्णुता-समता-सेवा और गभीर ज्ञान की पवित्र रश्मियाँ प्रतिक्षण प्रस्फुरित होती हुई दर्शक को प्रथम दर्शन मे सहसा प्रभावित कर लेती है।

इन के मन मे मानव सेवा की अथक उमग भरी हुई हैं। वाणी मे विश्व बधुत्व, राष्ट्र प्रेम एव स्वात्मगौरव की उच्छल उर्मिया लहरा रही हैं।

इन का अभिनन्दन करुणाशील मानवता का अभिनन्दन है। सयम-सेवा एव समता की साधना का अभिनन्दन है।

सुदीर्घ चारित्रपर्याय के दीर्घजीवन मे जिन्होंने ज्ञानाराधना की है—तपस्या से तन, मन को कसा है—सयम सेवा एव समता की साधना से अन्तर कालुष्य का प्रक्षालन किया है। अध्यात्म जागरण का सदेश मानव मात्र को दिया है। पुनीतकार्यो का दृढव्रत लिए भारत के अनेक प्रदेशो की पदयात्रा की है।

इस विशाल देश का जन-जन सुदीर्घ चारित्र पर्याय एव श्रुत सेवा के उपलक्ष्य मे आप का अभिनन्दन कर रहा है, क्यो कि इस की कोटि-कोटि आशा आकाक्षाएँ आप श्री के भव्य महान् व्यक्तित्व के साथ जुडी हैं। आप युवको की प्रेरणा, वालको की आशा, प्रौढो के मित्र और वृद्धो के स्नेहभाजन हैं। इस देश के जन-जन को आप के महान् जीवन से कर्म और तपस्या की सद्प्रेरणा मिलती है। आप—समाज मे सगठन, सद्भाव—मेलमिलाप तथा युगीन विचारो का आलोक प्रकाशित करते हैं।

दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के इस पवित्र दिन पर अपने हृदय के श्रद्धा-प्रसून श्री चरणो मे अर्पित करती हू तथा जिनेन्द्रदेव से शुभ प्रार्थना करती हू कि मुनिद्वय दीर्घायु हो।

●

● **महासती राजोमतीजी** (श्री सज्जनकवरजी म० की सुशिष्या)

जी ओ हजारो वर्ष हजारी हृदय दुलारे
मिथ्या तिमिराछिन्न रवि सम भेदन हारे।
मधुर मधुर रस घोल, भव्य द्रुम संचित प्यारे
धवल धरातल एक महा मानव मत वारे।
सरल आत्म साधार शुभ, पीडित जन सहायक सधर,
धन्य क्षितिजके लाल तुम, मिश्री मुनि पंडितप्रवर ॥१॥

विशद साधना अहा सदा संदेश सुनाती,
सुदर साहित्य सृजन सुमन माला मन भाती।
तेरी मधुर मुसकान कहो किस को न लुभाती,
वाणी अमृत तुल्य श्रवण-युग को सरसाती।
व्रज मिश्री की युगल यह जोड़ी ताप त्रय हारणी
यश परिमल सारे जगत पसरी ज्यौं शिव-सारणी ॥२॥



अभिनन्दन चतुष्क

● श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

पुष्पोपम —

जिन शासन के शुभ उपवन मे अहा ? फ़ूल खिला हसता-हसता ।
शुभ सयम सत्य 'पराग लिये अघ कंटक से टलता-टलता ।
अति सुन्दर स्नेह-सुधा सुरभि, निज मे, पर मे, भरता-भरता ।
मधुकर मुनि पावन पुष्प अहा ! लहराए सदा खिलता-खिलता ॥

चन्द्रोपम —

जिन संघ नभागन मे दमका अहा ! भव्य शशि निखरा-निखरा ।
शुभ भव्य मनागण मे छिटका, आलोक अहा ? नितरा-नितरा ।
निर्दोष विज्ञप्ति सुदीप्ति प्रभा, तम-तोम भगा बिखरा-बिखरा ।
शशि पूज्य मधूकर श्रेष्ठ मुनि, पा सघ बना सखरा-सखरा ॥

हंसोपम —

गुण मौलिक नित्य नवीन वरे, वह हंस कहा सबको मिलता ।
सद्-मिथ्या पय-जल मिश्रित का, निर्दोष वि भेद सदा करता ।
जिन वाक्यसुधा सर मे विलसित, कल्लोल करे हसता-हसता ।
शुभ हस मधूकर पूज्य मुनि, विचरे शत वर्ष सदा तिरता ॥

विविधोपम —

मधुराई वरी मधु से वह पावन वाक्यसुधा बनकर छलकी ।
गगाजल से पावनता ली वह, अन्दर बाह्य सदा खलकी ।
ले ली अमृत ता अमृत से वह, कीर्ति कला बनकर मुलकी ।
वह दिव्य विलक्षण मिश्री अहा ! मधुकर मुनि रूप लिये ढलकी ॥

शुभोपमा संयुक्त शुभ, गुण चतुष्क गणनीय ।
श्रद्धा सुमन सुहावने, भक्त भ्रमर मननीय ॥
स्वर्ण जयन्ती शुभदिवस, अभिनन्दन शुभ कृत्य ।
पूज्य पाद मधुकर तई, "कुमुद" समर्पित नित्य ॥

मुनिद्वय-गुण पंचक

—मुनि रमेश (सिद्धान्तआचार्य साहित्यरत्न)

मुनि द्वय की गौरव गाथा से,
गौरवान्वित समाज है।
पवित्र साधक जीवन पर,
कोटि कोटि नाज है।।

शम-दम और क्षमा का
तुम मन्दिर मे राज है।
स्नेह-संगठन के सुधाकर,
कोटि-कोटि नाज है

सरस सुहावनी-लुभावनी वाणी,
सुधारती पर काज है।
अगाध आगम के अनुभवी,
कोटि-कोटि नाज है।।

विमल ज्ञान के निर्मल निर्झर
कमल दल से योगीराज है।
गुण - गरिमा - महिमा पूरे
कोटि-कोटि नाज है।।

सम्यग्दर्शन के शुद्धाराधक,
सम्यक्ज्ञान के साज है।
सम्यग् चरित्र के पवित्र पालक,
कोटि कोटि नाज है।।

जीवन अर्पण

—गुरुदेव के प्रिय शिष्य श्री विनय मुनि

यश-सौरभ जिनका अहो, फैल रहा सब ओर।
ब्रज-मधुकर गुरु देव को, वदन मम प्रति भोर।।
देव! अकिंचन मैं रहा, तव चरणो मे आज।
कौन भेंट अर्पित करू, फरमाओ गुरुराज!।।
जीवन मम अर्पित करू, श्री चरणो मे नित्य।
स्वीकृत कर मम भेंट यह, करो मुझे कृतकृत्य।।

संजम-सुख आराम

—कवि कृपाराम जी सांदू (चारण) सिहू–निवासी

जोरावर गुरुदेव रा, शिष्य बडा गुणवान।
व्रज मिसरी रे मान रो, जग छायो सन्मान।।
संत-रतन अनमोल ए, इण जगकेरे मांय।।
हाथ जोड बनणाँ कराँ चरणा सीस नमाय।।
जुग-जुग जीवो संत वर! करो धरम रो काम।
खुश रेवो पावो सदा-सजम-सुख-आराम।।



गुरु चरणे सादरं समर्पणं

● श्री जसवतराज जैन न्याय-काव्यतीर्थ

महापूज्य- स्वामी, व्रज-मधुकर. सघ मतिमान् ।
सुखी शान्तो दान्त, सकल गणराशि' क्षिति तले ।
जनाना दोषान् वै, मधुरवचनैर्वेधिन पर ।
सदा जीयाद्विश्वे, जिनवचनरागी महागुणी ।।१।।
महाव्रताचारी, मदन दमने ऽ सौ भटवर. ।
सदा जैन चैत्य, मधुरजिनवाक्यै विकसितम् ।
यश कीर्तिर्यस्या, परम जसवन्ता स्मृतिकरा ।
सदा जीयाद्विश्वे, जिनवचनरागी महागुणी ।।२।।

आरती

ओम् जय जय व्रज मधुकर, स्वामी जय जय व्रज मधुकर ।
सूर्य-चन्द्र सी जोडी, भवि जन क्षेमकर ।। ओम् ।। टेर ।।

क्षमा शान्ति और सरल स्वभावी, जग के हितकारी । स्वामी
दीन वन्धु विद्या निधि, जैन जगत ज्हारी ।। ओम् ।।१।।
मधुरभाषी मदनाशी, बाल ब्रह्मचारी । स्वामी
दर्शक मन को मोहे, शिक्षा सुखकारी ।। ओम् ।।२।।
ज्ञान ध्यान रत विद्याभ्यासी, सेवा व्रतधारी । स्वामी
विनय विवेक समन्वित, पर हित बलिहारी ।। ओम् ।।३।।
युग युग जीओ युगल जोड, जय जय जयकारी । स्वामी
"जसवन्त" जग मे ख्याति, फैले हरवारी ।। ओम् ।।४।।

दो श्रद्धा फूल

—भोपाल जैन "विरक्त"

वृद्ध विभूषित विशदगुणी, धनिधन्य 'व्रजस्वामी"।
दीर्घ सजमी क्रान्ति-धर, भ्रान्ति हरण विसरामी ।।
गुण मण्डित-पण्डित-प्रवर, नीरज ज्यो निरलेप ।
मधुकर मुनि अवतार है, आप आनन वच सेफ ।।२।।

यह गुणों का अभिनन्दन है....

● साध्वी श्री चम्पाकुंवरजी

संत किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के एक सजग प्रहरी हैं। अपनी संयम साधना के अग्नि पथ पर आगे बढ़ते हुए वे लोक-हित के लिए भी अपने आपको अर्पित कर रहते है। अपने वैराग्य मूलक पुनीत-पवित्र विचारो से वे जनमानस को जगाते और 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' अपनी वैचारिक थाती को अभेद-अखेद भाव से लुटाते चलते है। स्थविरवर स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज एक निर्मल सेवा निष्ठ एवं मधुर भाषी संत हैं। सरलता उनके जीवन मे महक रही है। वे प्रतिपल अपने मन वचन से जगहिताय, जग सुखाय' चिन्तन करते है।

पूज्य गुरुदेव प०रत्न मुनिश्री श्रीमिश्रीलमलजी महाराज साहब 'मधुकर' राजस्थान मे स्थानक-वासी जैन-समाज के एक प्रबल समाज सुधारक, निर्भीक प्रचारक प्रतिष्ठित, यशस्वी तथा सर्वतो मुखी प्रतिभा के धनी संत हैं। आप बालकवय मे संजम लेकर ज्ञानार्जन करने मे प्रयत्नशील रहे, जिससे राजस्थान की मरुधरा मे उन्होंने अपने आचार-विचारमूलक ज्ञान की मंदाकिनी प्रवाहित की है। समाज का वैचारिक एवं चारित्रिक धरातल ऊँचा उठे, समाज विकास एवं प्रगति की मंजिल पर सतत आगे बढे —यह उनके मन की भावना रही है। इसके लिए वे सर्वतोभावेन गतिशील तथा-प्रयत्नशील रहे हैं।

भारत मे संयम त्याग, तप सदाचार मूलक जीवन के उच्च आदर्शों का सदा ही स्वागत सत्कार होता आया है। यह व्यक्ति का नही, व्यक्ति के जीवन की मौलिक विशिष्टताओ तथा तत्प्रेरक सामाजिक उपलब्धियो का सम्मान है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। गुण पूजा का एक महत्वपूर्ण एवं जीवित जागृत ढंग है यह एक। श्री गुरुदेव को धर्म प्रचार करते आज पचास वर्ष होने जा रहे है और आपकी आयु भी साठ वर्ष के आगे पहुँच रही है। इस अवसर पर श्रावक संघ स्वर्ण जयन्ती का आयोजन करने जा रहे हैं। मैं किन शब्दो मे अपनी श्रद्धा व्यक्त करूँ, श्रद्धांजलि भेंट करूँ आप चिरजीवी हो, आयुष्मान् हो जिससे समाज को सद्ज्ञान व सद् प्रेरणा मिलती रहे।

● कनकमल मुनोत एम० ए० (पूना)

दीर्घकालीन दीक्षा पर्याय पालन करनेवाले त्यागी, संयमी, विरक्त मुनिवरो के जीवन से हम स्वीकार्य एवं संग्राह्य आदर्श जीवन-प्रसंग प्राप्त कर सकते है। उनका अध्ययन, मनन, चिन्तन हमारे लिए विपुल विचार-परिप्लुत साहित्य का साथ देगा। मुनिद्वय के लिए स्वास्थ्य-परिपूर्ण सुदीर्घ आयु की कामना रखते हुए यही आशा करता हूँ कि उनके त्यागमय वैचारिक जीवन का त्यागमय सरस सौरभ विशाल भारत मे फैलता रहे।

● फतहसिंह जैन

सम्पादक तरुण जैन, जोधपुर

जहाँ तक मैं वयोवृद्ध स्वामी श्री वृजलाल जी महाराज साहब और मधुरवक्ता श्री मुनिश्री मिश्री मल जी महाराज साहब "मधुकर" के सम्पर्क मे आया हू—दोनो मुनिश्री जैन धर्म की विभूति और जीती जागती ज्योति हैं। मुनिद्वय को मेरा बार-बार अभिनन्दन है।

सरलता की दो मूर्तियां

● मदन मुनि 'पथिक'

भारतीय सस्कृति मे सत जीवन को एक महान् आदर्श रूप माना जाता है। सयम और सस्कृति की धारा मे प्रवहमान सत जीवन व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध होता है।

हमारे परम श्रद्धेय प० रत्न गुरुदेव श्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' सद्‌गुणो की साकार मूर्ति है, आपकी वाणी मे का माधुर्य सरल मानस, चारित्र की उच्चता, विचारो का सुलझाव, आदि ऐसे अनेक उच्चतम गुण हैं जिन के कारण आपके जीवन का प्रत्येक व्यक्ति पर अमिट प्रभाव पडता है।

आप एक विचारक एव क्रियानिष्ठ सत है, इसीलिए पुरातन और नूतन विचारो का सुमेल पाया जाता है आप मे।

वैसे तो आपके जीवन मे अनेकानेक गुण सग्रहित हैं, किन्तु प्रमुख विशेपता यह देखने को मिली कि आप उच्च कोटि के विद्वान् होने पर भी निरभिमानी हैं, हर समय प्रसन्नचित्त प्रतीत होते हैं। अधिक क्या, आप यथा नाम तथा गुण के धारक हैं।

अन्त मे हृदय की गहराई से आपका अभिनन्दन करते हुए चरणाम्बुजो मे श्रद्धाञ्जली सर्मपित करता हूं।

● अशोकमुनि 'साहित्यरत्न'

स्वामीजी श्रीव्रजलालजी महाराज की सौजन्यता से मैं कई वार अभिभूत हुआ हूँ। वे अल्पभापी एव प्रसगभापी हैं। ज्ञानाराधना एव सेवाराधना मे ही उन्होने अपनी साधना का क्षेत्र चुना हैं, जव-जव भी दर्शन का सौभाग्य मिला है मुझ पर आपकी अमियदृष्टि वरसती ही रही हैं।

श्री मधुकरजी महाराज केवल नाम से ही नही, स्वभाव से भी मधुर हैं। उन्होने अपने आसपास के वातावरण को सदा मधुरता से आप्लावित किया है झझटो से नही घवडाते हुए भी क्लेश से दूर रहे हैं। सघर्षो से पीठ नही फेरते हुए भी स्नेह से उस पर विजय पायी है। आपने अपने पथ मे आनेवाले काटो एव ककरो को भी अपने मधुर स्वभाव से उनमे सौरभ छोडी है। इतने विद्वान, फिर भी निर्भिमानी, कि वालक के साथ रहे तो उसे महसूस नही होने दे। **वप्डपन थोपने की व प्रदर्शन की चीज नहीं हैं'** उनका यह विचारसूत्र हैं।

ब्यावर सम्प्रदायो का केन्द्रस्थल है। वहाँ प्राय राजस्थान के स्थानकवासी सभी क्षेत्रो के श्रावक हैं, तथा पूज्य श्रीहुक्मीचदजी महाराज के सम्प्रदाय के श्रावको का भी समुदाय है। जहाँ सम्प्रदाय है वहाँ कभी कभी साम्प्रदायिकता भी उभरती हैं, और उसके भी दर्शन होते हैं। किन्तु मुझे जहाँ तक स्मृति हैं साम्प्रदायिक सघर्षो के समय भी मधुकर जी महाराज कभी इस सघर्प मे नही आये। वे ऐसे प्रसगो पर भी सव के लिए मधुर वने रहे।

उनकी निस्पृहता अपने आपमे एक उदाहरण हैं। आचार्य जैसे महत्वपूर्णपद को पाकर भी, सम्प्रदाय विशेप के विशिष्ट नेता वनाये जाने पर भी आपके सामने जव शाति एव विग्रह मे से एक मार्ग को चुनने का प्रसग आया तो आपने शाति को, समाधि को अधिक महत्व दिया, एव ऐसे प्रसग पर भी निस्पृहता के साथ उसे त्यागकर आपने कवीर की इन पक्तियो को चरितार्थ कर दिया :—

"दासकबीर जतन कर जोडी,
ज्यो की त्यो धर दीनीरे चदरिया॥

●●

सुयश-चन्द्रिका चमके !

● श्री जिनेन्द्र मुनि, शास्त्री, काव्यतीर्थ

सुयश चन्द्र की चारु चन्द्रिका,
चमक रही है सब जग मे।
पवन वेग से प्रति पल बढते,
अत्म-साधना के मग मे।।

कवि कहते शशि अमृतवर्षी,
किन्तु निशा मे बरसाता।
अमृत झरता मुनि चन्द्रानन,
निश-दिन भवि मन हरषाता।।

जलधर जल बरसाकर जैसे,
अवनि अम्बर धोता है।
वैसे मुनि वाणी वर्षण पा,
पाप-पंक भवि खोता है।।

मानो स्वय सरस्वती ने,
वदन-सदन मे वास किया।
ज्ञान प्रकाश सुजीवन मे,
अज्ञान तिमिर का नाश किया।।

मन मे तन मे और वचन मे,
नव जीवन पीयूष भरा।
मधुकर नाम मुनि का पावन,
शान्ति सुधा का स्रोत झरा।।

युग-युग जीवित सुयश आपका,
अमर ग्रन्थ अभिनन्दन हो।
जग-ज्वाला मे जलते मानव,
को यह शीतल चन्दन हो।।

युगल मुनि व्रज और मधुकर,
मधु मुक्ति का वह पाये।
'जिनेन्द्र' उनकी चरण शरण की,
सदा सुखद छाया पाये।।

● ●

बने सहस्रायु !

● श्री रमेश मुनि शास्त्री

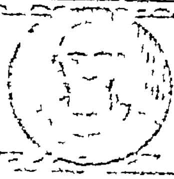
श्रद्धासद्म के दिव्य दीप है।
प्रतिभा के प्रखर प्रभाकर।
कल्याण केन्द्र कारुण्यकाक्षी,
गुणान्वित मधुकर मुनिवर ।।१।।

स्नेहास्पद सदय हृदय है
तपस्तेज से मुख-भास्वर है।
ज्ञान क्रिया का वर्य समन्वय
धर्म गगन सुधाकर है ।।२।।

मन सुमन-सा है मृदुतर,
निर्मद निर्मल निश्छल है।
सयम की उज्ज्वल ज्योति से,
ज्योतिर्मय जीवन प्रतिपल है ।।३।।

अचलता है हिमालय-सी,
करुणा का निर्मल निर्झर है।
चित्ताकर्षक वचन चयन है,
कविकोविद वृन्द प्रवर है ।।४।।

शतायु क्या, मुनिवर्य तुम,
हो सहस्रायु यह है अभिलाषा।
कोटि कोटि अभिनन्दन तेरा,
बने आकाश दीप यही आशा ।।५।।



देवता बान्धवा सन्तः
संत-सज्जन ही देवता व बन्धु हैं।

अर्चना के पुष्प

● श्री हीरामुनिजी "हिमकर"

हमारे ये स्वामी व्रजमुनि गुणो के निकट हैं।
तिरे नै तारे जीवन निरमलो जो करत है।।
सदा सेवो भावे चरण सुखकारी नित रहे।
भजो रे थे भोला, व्रज गुण हमेशा सुखद है।।१।।

कलाकारी भारी लिखत लिपि नामी सरस जो।
सुकण्ठी वैरागी वरज अनगारी मन भजो।।
न नावे धोवे उज्ज्वल दिल रखे प्रेम सब से।
सदोरे से शोभे मुखपति मुखे भाव चमके।।२।।

करे वार्तें चोखी मधुकर सखा से रस भरी,
सुनावे शास्त्रो की सुखद रसवाली जन कथा।
कथा के ये प्रेमी रसिक जन आते समूह से,
भजे माला स्वामी अब लगन से भाव चढते।।३।।

व्रज महामुनि को नित वन्दना,
भजन मे रत है नित भावना।
जगत मे जननी इसडा जने,
पतित पावन पूत सपूत है।।४।।

मरुधरा निज को धन मानती,
तप करे सखरा सब जानते।
मिलनसार विचार रखे सदा,
सरलता मन मे रखते मुदा।।५।

हमारे ये मिश्री मधुकर बडे ही प्रिय बने,
हमेशा मैं वन्दू चरण मुनि तेरा यश बडे।
सभा शोभा शाली तव नित बनी है अजब की,
सभी आते देखो निरखत छवी आज गुरु की।।६।।

मधुकरो मुनिराज कमाल है,
रवि-प्रभा सम दीपत भाल है।
फल रसाल ज ज्ञान ज दान दे,
मधुकरो मुनि आतम ज्ञान दे।।७।

जगत मे मुनि तो गुण को गहे,
कुसुम की खुसबू भवराल है।
शुकर की लत को तजदे गुणी,
मधुकरो नित ही रस चाखता।।८।।

व्रज मधू मुनि के गुण गावजो,
मुगत मे सब साथज चालजो।
'हिमकरो' मुनि इसडी कहे,
सुगुण के हम गाहक ही रहे।।९।।

●

ब्रज-मधुकर-माधुरी

—साध्वी श्री चन्द्रावती जैन सिद्धान्ताचार्य

[हरि गीतिका]

सुनते सदा सुर काननो मे, कल्प द्रुम होते कही,
किंतु सच्चे सत मे, प्रत्यक्ष दर्शन है यही।
चिन्तामणि चिन्ताहरण, इस विश्व मे प्रसिद्ध है,
सुनते उसे देखी नही, पर सन्त मे यह सिद्ध है॥

इस विश्व सरवर मे मनोहर, सत खिलते कमल है,
सौरभ लुटाते शील सुस्वर, पवन विस्तृत विमल है।
मधु-लोलुपी अलि भक्त जन, आ चरण उनके चूमते,
ढूढते उनको सदा पर, सत रहते घूमते॥

सत के मृदु वचन मे, स्वयं अहिंसा बोलती
खाते तथा सोते सदा, उठ बैठते उठ बैठती।
प्रति-पल तथा प्रतिकार्य मे, रहती अहिंसा साथ है,
इस लिये तो विश्व के, सम्राट् मुनि जन नाथ है॥

आ रे अरे गुण गीत गा मन, आज प्यारे सन्तका,
उन को बिठाले हृदय मे, हो समय भव दुःख अन्तका।
रसना निरर्थक ही मिली, गुरु गीत यदि गाये नही,
सुधा सिन्धु प्राप्त कर भी, प्यास बुझ पाये नहीं॥

नाम मधुकर, काम मधुकर, धाम मधुकर है अहा,
गुण गीत मधु सत्सग पा, मन तृप्त मधुकर है अहा।
हे मुनि, तेरे सुपथ पर, भव्य जन बढते रहे,
सोपान पाकर स्वर्ग के विमान मे चढते रहे॥

व्रज मुनि व्रज-माधुरी मे, मधुरता का कोष है,
मधुकर मधु मन प्राप्त करके, खो रहे भव दोष है।
चिन्तनो की चाँदनी मे, चमकता मुनिवृन्द है,
जिसने भी परखा सत्य साधु, दर्श आनंद कन्द है॥

सद्ग्रन्थ अभिनन्दन यही, कीर्ति कथा है कह रहा,
युग-युग सदा सिद्धान्त के, नवनीत का मन्थन रहा।
है सार उसका एक ही हमको वही पद प्राप्त हो,
'चन्द्र' है वह अमर जो, समझा गये पद आप्त हो॥

अभिनंदन

● श्री सुकनमुनि

विमल गुनि ब्रजलाल मुनि, मधुकर मिश्री राज
परम प्रभावित आप से, सारो जैनसमाज ।।१।।

युग मुनि के युग कर कमल, ये अभिनंदन आज
करता हूँ , स्वीकारिये, अहो गुणो की ज्हाज ।।२।।

सौभाग्यशाली किर्त्ती विशाली, प्रतिभा रसाली मृदु हस चाली
जय बाग माली सदा खुशाली, होवे चिरायु मनु मोदकारी ।।३।।

पावत ज्ञान सुधारस व नित दान-दया युत भाव दृढाई,
भावुक वृंद परीपद पकंज, जीवन धन्य गिने हुलसाई ।
कोमलता कमनीय बिराजित, वैननते चखते मधुराई,
धन्य मुनि ब्रजलाल मधूकर होवत मोद लखी सुघडाई ।।४।।

जोरावर जय गच्छ, भयो जोरावर मुनिवर,
जोरावर दौ शिष्य, नियम पालन जोरावर ।
जोरावर कृतिकार हस्त - लिपी है जोरावर
जोरावर व्याख्यान, जगत शोभा जोरावर

जोरावर सहित्य मे गति जोरावर जान शुभ,
जोरावर गौरव धनी, शात दात काँति सुलभ ।।५।।

स्वर्णजंयति सघ सब, समारोह के साथ ।
मना रहे ब्यावर शहर, आयो अवसर हाथ ।।६।।

तिवरी मरुधर के तिलक ब्रज-मिश्री जग दीप ।
"सुकन" कहे आनंद वरो सुविधा रहे समीप ।।७।

ब्योम राम नभ कर बरस-माधव दशम उजास ।
ब्रज-मिश्री सौरभ सुयश ले रहे भव्य विलास ।।८।।

★★

मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे !

—कमला जैन 'जीजी' एम. ए

मुनि द्वय की सुन्दर जोड़ी शत वर्ष सलामत विचरे !

एक नगर औ एक मुहल्ले मे जन्मे है दोनो,
समझ प्राप्त कर एक गुरु के शिष्य बने थे दोनो ।
एक धर्म औ सम्प्रदाय ही दोनो ने अपनाये,
एक मार्ग पर ही दोनो ने अपने कदम बढाये ।

कष्टो औ उपसर्गों की नाना-स्थितियो से गुजरे ।
मनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ।।

मुनि व्रज जैसे शात स्वभावी सत कहा मिलते है ?
भला कभी सर्वत्र कमल के पुष्प खिला करते है ?
सागरवत् गंभीर किन्तु नवनीत सदृश कोमल उर ।
रखने वाले विरले ही युग-पुरुष मिला करते है !

सभी सुगुण एकत्रित होकर उनमे ही आ ठहरे,
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ।।

मुनि मधुकर भी केवल दस की अल्प वयस् को लेकर,
सयम के दु.साध्य पंथ पर चले पूर्ण दृढ होकर ।
अगम ज्ञान गगा वारिधि मे गोते सदा लगाये,
और चुनिन्दा रत्न अमोलक लेकर बाहर आये ।

कौन जान पाया वे कैसे है और कितने गहरे ?
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ।

गुरु भाई हैं भले, राम लक्ष्मण जैसे है दोनो,
एक साथ सदेश वीर का फैलाते है दोनो ।
अनुपम स्नेह - सूत्र मे मानो दोनो गये पिरोये,
बढ़ते रहे विकट पथ पर भी साहस-दीप संजोये ।

इसीलिए दोनो के सिर पर बंधे सुयश के सेहरे,
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ॥
कोटि-कोटि अभिनन्दन मुनि द्वय के चरणो मे मेरा,
रवि-शशि सम चमकें शासन मे कल्मष काट घनेरा।
आज हमारे अन्तरतम की मात्र यही अभिलाषा,
पड़ें जहा पर युगल-चरण हो जाये वही सबेरा।
श्रमणसंघ मे सदा आपकी कीर्ति-पताका फहरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ॥
स्वर्ण-अक्षरो से अकित हो इनकी दिव्य कहानी।
पढी सुनी जाये जन-जन के मुख से सदा जबानी।
अमर नाम हो जाए जगतीतल पर इन सतो का,
कण-कण, अणु-अणु मे प्रसरित हो इसकी गध सुहानी।
आकर्षित हो इन्द्र स्वर्ग का पृथ्वी पर आ उतरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ॥
यशोगान कर सकू भला वह शक्ति कहाँ मुझ मे हैं?
ग्रहण कर सकू कुछ इतनी भी भक्ति कहा मुझमे है।
मस्तक नत करलू केवल इतने से तुष्ट बहुत हूँ,
क्योकि अकिंचनता की बहुतायत ही केवल मुझ मे है।
कृपादृष्टि हो गुरुवर्य की किंचित् जीवन सुधरे।
मुनि द्वय की सुन्दर जोडी शत वर्ष सलामत विचरे ॥

वन्दना....

श्री पुष्कर मुनिजी म० के सुशिष्य

—रमेश मुनि शास्त्री

आचार्यवर्यो जयमल्लपूज्यो,
मरौ पृथिव्यां प्रथितो बभूव।
व्रजे तदीये व्रजलालसज्ञो,
नित्य मुनीन्द्र प्रगुणैर्विभाति ॥१॥

असारं वेदितु सार विवेकी हससन्निभ.।
विजेता सर्वकर्मारीन् सयमी मारमारक ॥२॥

निपीय मधुर मर्त्या मुनीना वचनामृतम्।
हर्षाब्धाववगाहन्ते भवरोगनिवारकम् ॥३॥

शिरीषपुष्पसकाशं मृदुल स्वामिनो मन.।
शीताशुसदृश शीत प्रशान्त सिन्धु सन्निभम् ॥४॥

विजेतु मानमातङ्ग मृगेन्द्रो वै महामुनिः।
रवीव राजते ऽ जस्र सयमिव्योममण्डले ॥५॥

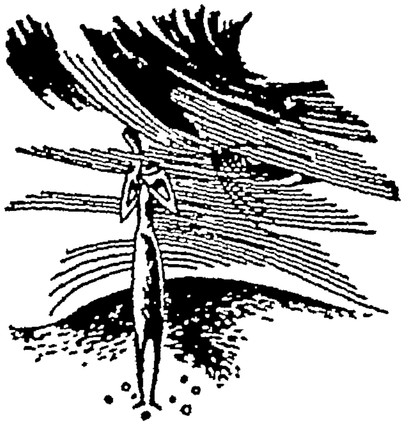
तपस्तेज. प्रदीप्तोऽय प्राज्ञमण्डल-मण्डित।
तडित्वानिव मेदिन्या सेचितु वीरशासनम् ॥६॥

श्रद्धास्पदैस्सदा सौम्यै र्जैनसाहित्यसागरम्।
निमथ्य वाक्यरत्नानि दत्तानि जनसहति ॥७॥

विद्यते वियत क्षीण., लाञ्छनी मृगलाञ्छन·।
किन्त्वसौ श्रमणाधीशो भासमानोऽनिशं गुणै ॥८॥

पुष्करगुरुराजानामन्तेवासी विदामियम्।
रमेशाख्यसता भक्त्या कृता कृतिर्लघीयसी ॥९॥

अभिनन्दन के दो शब्द



स्वामी श्री व्रजलाल जी और पडितरत्न मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर की दीक्षा स्वर्णजयन्ती के अवसर पर मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। खुशी है कि यह कार्य व्यावर मे सम्पन्न हो रहा है, जो धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक चेतना का एक प्रमुख केन्द्र है।

मरुधर मे ऐतिहासिक नागौर जिले का ग्राम कुचेरा जो प्राय सभी सुविधाओ से सम्पन्न है—स्वामी श्री हजारीमलजी म० सा० का प्रमुख क्षेत्र रहा है। उनके सुदीर्घ दीक्षा के करीव १४ चातुर्मास इसी कुचेरा मे हुए। एतदर्थ अगर व्रज मुनि व मधुकर मुनि की साहित्य साधना का क्षेत्र भी कुचेरा ही माना जाय तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इतने वर्षावास एवं लम्वी अवधि तक यहाँ विराजना कुचेरा सघ के सौभाग्य का ही सूचक है। धार्मिक प्रवृत्तियाँ आज भी जो हमारे क्षेत्र मे निरन्तर गतिशील है, आपकी ही, सद्प्रेरणा का सुफल है।

व्रज-मधुकर है और मधुकर व्रज। अर्थात् व्रज, मधुकर का पर्याय सा वनकर रह गया है।

श्रमण श्रेष्ठ—श्वे० स्थानकवासी समाज मे अनेक श्रमणो ने अपने पथ प्रदर्शन से समाज का हित किया। श्रमण जीवन का मर्यादित पहलू वर्तमान मे अगर आप देखना चाहे तो श्री व्रज-मधुकर के समीप चले जाइये। पूर्व श्रेष्ठ-श्रमण परम्परा जो चली आ रही है—निसन्देह ये द्वय मुनि उसी शृंखला की एक कडी हैं।

प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं दृढसकल्पी—आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली है जिसने भी आपके दर्शन किये, उसके अन्तर्मन मे आपके प्रति असीम श्रद्धा हो गई। आपने जो भी सोचा है किया है। और जो किया है, उसका अनुगमन किया जाता रहेगा।

उद्भट विद्वान एवं मधुर-स्पष्ट वक्ता—स्वामीजी श्रीव्रजलालजी म० सा० की हस्तलिपि कला को देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्य चकित होता है। कई भजनो एव गीतो की रचना आपके द्वारा हुई जो वहुत लोक-प्रिय है। ज्योतिप शास्त्र के तो आप पण्डित हैं। शास्त्रो का अथाह ज्ञान एव उनकी टीका आपके प्रत्येक व्याख्यान मे मिलेगी।

मधुकर जी तो जैन मुनियो मे गिने चुने सर्वश्रेष्ठ लेखको व कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। गुरुवरश्री जोरावरमलजी म० के देहावसान के पश्चात् स्वामी श्री हजारीमलजी की छत्र छाया मे आपका साहित्यानुराग वढता रहा। गुरु ऋण एव अपने अकथ परिश्रम से आपने न्यायतीर्थ एव काव्यतीर्थ आदि की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। कई ग्रन्थो का सम्पादन। हिन्दी खडी वोली मे आपकी कई मौलिक रचनाएँ हमारे सम्मुख आई। प्रमुख पत्र पत्रिकाओ मे निरन्तर आपका लेखन, आपकी विद्वता का स्पष्ट सकेत है। वक्तृत्वकला इतनी सुन्दर कि विद्वान से विद्वान एव साधारण से साधारण व्यक्ति भी उससे प्रभावित।

यश की अनिच्छा – आपके मन मे यश के प्रति जरा भी लगाव नही। प्रत्येक कार्य लोकोपकार की भावना से ही करते हैं। उपरी दिखावा आप द्वय को पसन्द नही। आपके सामने कई ऐसे प्रसग आये जिनसे आपकी कीर्ति मे चारचाँद लग सकते थे—परन्तु आपने हमेशा ही कहा है कि—साधक के लिये क्या यश और अपयश ! उसे तो साधना के पथ पर बढकर अपना व औरो का कल्याण करना है।

समय के पाबन्द—आपके प्रत्येक कार्य सुनिश्चित समय पर होते हैं। अधिकतर आपका समय ज्ञानाभ्यास मे ही लगता है। समय का सदुपयोग करते हैं—मौलिक चिन्तन मे।

सम्प्रदायवाद से कोसो दूर एवं एकता के सजग प्रहरी—श्रमण सघ-एकता का जब आह्वान किया गया—आपका उसमे विशेष योगदान रहा। आपने अपनी सम्प्रदाय परम्परा को श्रमण सघ मे मिलाकर एकता का ज्वलन्त समर्थन किया। जैन तो क्या आपके भक्तो मे वैष्णव, मुस्लिम, ईसाई तथा अन्य सभी सम्प्रदायो के व्यक्ति हैं। आपके प्रवचनो मे तो इनकी बाहुल्यता ही रहती है? आप साम्प्रदायिक व्यामोह से दूर मानव जाति मे एकता व प्रेम के हामी हैं।

असीम श्रद्धा के पात्र—चिन्तन एव मनन की दो विभूतियाँ, वाणी मे मधुरत्व, साधना के दिव्य पुञ्ज, मौलिक एव स्पष्ट वक्तृत्व शक्ति, आगमो के ज्ञाता, सरल मानस एव विनम्रता की प्रतिमूर्तिया, बालक, युवक एव वृद्धो के पथ प्रदर्शक, मर्यादापालक, क्रोध, छल प्रपच से परे और श्रमण सस्कृति के अटूट एव सजग प्रहरी हैं—स्वामी श्री ब्रजलाल जी एव मिश्रीमल जी 'मधुकर' ! छोटे-बडे सभी के लिए असीम श्रद्धा के पात्र !

कुचेरा श्री सघ भी इस दीक्षा स्वर्ण जयन्ति पर आपका अभिनन्दन कर फूला नही समाता है। क्योकि हमारा क्षेत्र आपका प्रमुख साधना स्थल रहा है। वस्तुत हमने इन्हे कुछ दिया भी है और अधिक पाया भी ! युग-युग तक आप द्वय मानव मात्र का पथ प्रदर्शन करते रहे यही हमारी शुभ कामनाएँ हैं—

—विनीत

श्री श्वे० स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, कुचेरा (राजस्थान)

हमारे गांव का गौरव....

हमे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि स्थानकवासी जैन समाज की महान विभूतिया परम श्रद्धेय पूज्य स्वामिजी श्री १००८ श्री ब्रजलालजी महाराज साहब पडितरत्न श्री मधुकरजी महाराज साहब के दीक्षा स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष मे अभिनन्दन समारोह होने जा रहा है।

हमारे गाव को इस बात का गर्व है कि जैन समाज की इन दोनो महान् विभूतियो की जन्म-भूमि हमारा अपना 'तिंवरी' ग्राम है।

यह स्वाभाविक है कि इन दोनो महान विभूतियो ने साधना के क्षेत्र मे जो उत्तरोत्तर प्रगति की व समाज को जो साहित्य व उपदेश दिये इसके लिये भी हम अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं।

अत तिंवरी के जैन समाज व तिंवरी के समस्त ग्रामवासियो की यह हार्दिक कामना है कि मुनिद्वय साधना के क्षेत्र मे उत्तरोत्तर प्रगती के शिखर की तरफ बढते रहे।

मुनिद्वय के दीर्घायु व प्रगति की शुभ-कामना के साथ।

—मोहन बोथरा

मत्री—व० स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, **तिंवरी**

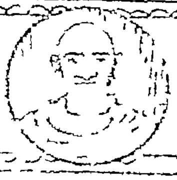
श्री रंगमुनि

स्वर्णजयन्ती युगलमुनि की मना रहे है आज।
जयजय व्रज, मिश्री महाराज।
जिन शासन ज्योतिर्धर पु गव, भक्त हृदय सिरताज ।।टेर।।
व्रजमुनि सरल सौम्य निर्मानी, स्पष्टवक्ता, रग रमि जिनवाणी ।।
चित्त उदार हृदय कल्याणी, आत्मतुल्य समझे सव प्राणी ।।
सतत लीन, प्रभु के सुमिरन से मन मे नही मिजाज ।।१।।
गुणग्राहक, निर्भय, निर्मायी, सेवा गुण रहा रग - रग छाई ।।
स्नेहभाव सौरभ फैलाई, दिग्दिगन्त जयध्वजा फहराई ।।
अन्तर्जीवन दिव्य भव्य लख प्रमुदित जैन समाज ।।२।।
मधुकर मुनि मिश्री प्रियकारी, साहित्य ज्ञान तलस्पर्शी भारी ।।
कष्टसहिष्णु मुनि श्रेयकारी, शान्त क्रान्ति के अमर पुजारी ।।
विविध भाति साहित्य सर्जन कर दियाज्ञान का साज ।।३।।
स्वर्णजयन्ती पर अभिनन्दन, युगलमुनि पद शत-शत वन्दन ।।
शान्त, दान्त, शीतल जिम चन्दन, सरस्वती के तुम हो नन्दन ।।
जोरावरमल शिष्य युगल पर हमको भारी नाज ।।४।।
दिनदिन वढता प्रतिभा परिमल, क्षीण होत पलपल मे कर्म दल ।।
संयम, त्याग, विराग ले सवल, ज्योतिर्मय, निशदिन हो निर्मल ।।
"रगमुनि" की विमल भावना अन्तर्मन रहा गाज ।।५।।

जय व्रज-मधुकर महाराज....!

[श्री यशकुंवरजी म० सा० की शिष्या— महासती सोभागकुमारी 'प्रभाकर']

मुनि नमभ डल मे मुदित, शान्त दान्त शशिरुप।
जोडी व्रज-मिश्री जगत—अविचल रहो अनूप ।। १ ।।
लाखो मे लाधै नही इला सत इस डाय।
मधुकर की मधुराइ पर लाखो रहै लुभाय। २ ।।
जननी जनक न जाणियो नहि जान्यौ जातीय।
इसो उजागर होवसी—मधुकर मुनि मिश्रीय ।। ३ ।।
जयकुल मे जाणीजगो, सखरो एह सपूत।
ज्ञान ध्यान से तत्व को चिंतक है चिद्रूप ।। ४ ।।
तन छोटो, म्होटो कवी, म्होटो हृदय विचार।
म्होटा ओटा लेत है—छोटापन को छार ।। ५ ।।
वेडा नही गहरा घणा, सरस साधना माय।
अरस - फरस मिलिया जिके भूल सके है नाय ।। ६ ।।
श्रमणसघ सायर सुघट, कमल महा कमनीय।
भव्य भ्रमर मडरात है, रहो सदा रमणीय ।। ७ ।।



❀ देवता बान्धवा सन्तः ❀
संत-सज्जन ही देवता व जगद्बंधु है।

शत-शत वन्दना !

● साध्वी कंचनकंवरजी

म्हाला घणा लागो, सुहाणा घणा लागो ।
होसा थांको स्वागत सो सो वार ।।टेर।।
मरुधर मे तिवरी नामी, जठे जन्म लियो गुण खानी ।
ओसा थाको हरख्यो सव परिवार ।।१।।
श्रीश्रीमाल वंश के चन्दा, मां चम्पादे के नन्दा,
होसा अमोलक है तात उदार ।।२।।
व्रजलाल नाम है प्यारो, मन मोद भरायो मारो ।
होसा थारे तप रो तेज अपार ।।३।।
जमनालाल घर नारी, माँ तुलच्छादे सुखकारी ।
होसा ज्यारे उदर लियो अवतार ।।४।।
मधुकरजी की महिमा भारी, मैं कह न सकू गुरु सारी ।
होसा 'कंचन' है चरण मझार ।।५।।

★ वैरागिन सुप्रभा

[तर्ज—घणी घणी खमा कुंवर अजमाल का]

घणी-घणी खमा म्हारा गुरुदेव थाने,
थें तो मरुधर रा भाग जगाया जीओ ।। १ ।।
धर्म नामी, गाव नामी, नाम नामी ।
थारी करणी मे नही खामी जीओ ।। २ ।।
देश नामी, गुरु नामी, काम नामी ।
थे तो सता माहे सरनामी जीओ ।। ३ ।
चेला नामी, चेल्याँ नामी, श्रावक नामी ।
सारा वीर प्रभु रा पदगामी जीओ ।। ४ ।।
नामी, नामी, नामी, थाँरी नही वदनामी ।
थे तो पग-पग शोभा पामी जीओ ।। ५ ।।
ऊँचा ज्ञानी, ऊँचा ध्यानी, नही मानी ।
'सुप्रभा' शरण थारी थामी जीओ ।। ६ ।।

साध्वी श्री उम्मेदकुंवर जी

खुशिया छाई, नगर मे खुशियाँ छाई क,
दोनो क दोनो गुरुवर सा की,
स्वर्ण जयन्ति आई ।। टेर ।।
व्रजमुनि मधुकर माने प्यारा लागे क ।
दर्शन क दर्शन करता ही
मनडा री सारी भूख भागे ।।
देश मरुधर मे तिवरी नगर नोको क ।
जठे क जठे जनम हुयो है
सद्गुरु जी को ।।
दोनो ही माता रे सग सयम लीनो क ।
तप क तप साधना मे
दोनो गहरो चित्त दीनो ।।
निरख-निरख मन मोहै म्हाको क ।
मुखडोक मुखडो दीपै है गुरु जी
चाँद ज्यू थाको ।।
'उम्मेद' अरज करे गुरु थाँसू क ।
गुण क गुण गाय नही जावे
गुरु जी मासू ।।

□

गुरुवर का अभिनन्दन....!

● प्रेमराज श्रीश्रीमाल, दुर्ग (म० प्र०)

उपप्रवर्तक पूज्य गुरुदेव स्वामी जी ब्रजलालजी महाराज साहब व पडितरत्न श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' की व मेरी जन्मभूमि 'तिवरी' है। गृहस्थ अवस्था मे उपप्रवर्तक जी महाराज मेरे पारिवारिक सदस्य थे तो श्री मधुकर मुनिजी मेरे पडौसी थे। मुझे इन दोनो मुनियो के दर्शन एव सेवा-सुश्रूपा करने के अनेक-अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। ये सत केवल तप साधना के ही धनी नही वरन् उच्च ज्ञान के भी अक्षुण्ण भण्डार है। इन मुनिद्वय के अब तक चातुर्मासो मे से ११ चातुर्मासो मे सम्मिलित होकर मैंने इनके प्रभावशाली जीवनोद्धारक ज्ञानपूर्ण प्रवचनो के विविध रूप से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त की है। इनके उपदेशो का अनुसरण कर मैंने अपने जीवन मे एक अनुपम आत्मिक शाति प्राप्त की है। ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी ये सत प्रवर पुन पुन वदनीय हैं।

यदि इनमे से एक को जैन जगतरूपी गगन का सूर्य माना जाय और दूसरे को चांद की उपमा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। मुनि श्री ब्रजलाल जी जो अपने ज्ञानरूपी सूर्य की विमल रश्मियो से यत्र-तत्र-सर्वत्र एक नई आभा, नव चेतना, नव शक्ति व आध्यात्मिकता की नई प्रेरणा प्रदान करते हैं, तो वही दूसरी ओर मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' जैन समाज रूपी गगन धरातल पर चन्द्र की तरह चमकते हुए समग्र प्राणि मात्र को अपनी सुमधुर सारगर्भित वाणी रूपी शुभ्र स्वच्छ किरणो को प्रस्फुटित कर शीतल सात्विक आत्मशाति की अनुभूति का बोध कराते हैं। इस तरह मधुकर मुनि मे यथानाम तथा गुण का साम्य रूप हमारे समक्ष आता है।

ऐसे सद्गुणी सत जनो को पाकर भला कौन-सा समाज अथवा सम्प्रदाय अपने भाग्य पर नही इठलायेगा। इनकी अनुपम श्रुत सेवाओ के प्रति जैन समाज सर्वदा चिर ऋणी रहेगा। मुनिद्वय की बहुमुखी प्रतिभा, चारित्रिक गरिमा एव तप त्याग की हम जितनी महिमा करें उतनी थोडी है।

ऐसे ज्योतिर्मय तपोधनी मुनिराजो के बल पर हमारी भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हो उठती है। इन सतो ने जन जीवन के विधि अगो को परिमार्जन करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मुनिद्वय के श्रीचरणो मे मेरे अनेकश अभिवदन-अभिनदन!

●साध्वी श्री सेवावन्ती जो

इस दुनियाँ दे विच असख्य लोगी जमदे ने एवेंइ मर जान्दे ने जिणानू कोई नही जानन्दा। जिणाने जीन्दडीदा सच्चा लाभ लित्ता होये, उणानूँ मनुष्य तो की, पण देवता भी श्रद्धा दे नाल आपेई मत्था नमान्देने। कहनदा मतलब मानवदा महत्व उणादे गुणा नाल है।

साडे गुरुदेवजी म० सा० स्वामी जी श्री श्री ब्रजलालजी म० सा० प० रत्न श्री मधुकर मुनिजी म० जिणादी मेहमादा की केणा, लखाई गुण जिणादे विच रहन्दे ने जिधर नूँ टुर पये, उधर दे लोगी खुशी नाल भर जान्दे ने। मैं की की दस्सा इण दे विच बहुतेरे गुण हैं। इणादी कीरपा नाल ही साड़ा वेडा बन्ने लगना है।

मेरा शत, सहस्र अभिनन्दन!

भक्ति के दो गीत

● मुनिश्री मगनलालजी 'रसिक'

१

स्वामीजी श्री व्रजलालजी —

[तर्ज—बगला ढाणा सू उडजाजेरे]

भायां गौरव गीत सुणावो रे,
स्वामी जी री स्वर्ण-जयन्ती आज मनावो रे…टेरे
सम्वत उगणी सौ साल अठावन, माघ महिनो जाण।
सुद पाँचम रो मोटो दिन है, सुनलो चतुर सुजान भायाँ०१
स्वामी जो रो जनम वियो है, शुभ घड़ियाँ रे माय।
नाम दियो यो व्रजलाल जी, सव जन ने मुखदाय भायाँ०२
मध्यभारत रे माय ने रे, गडाई पडरिया गाँव।
जन्म स्थान है स्वामी जी रो, पूरण मन रा भाव‥ भायाँ०३
मात पिता परिवार माय ने, हरख उछाव भरायो।
जन्म भूमि तो राजस्थान मे, तिंवरी नगर कहायो भायाँ०४
स्वामी जी जोरावरमल जी, जप, तप, सजम शूर।
मुनियाँ रा सिर सेहरा रे, वरषे मुख पर नूर भायाँ०५
उगणीसौ इकोत्तर माही, वैशाख महिनो खास।
सुद बारस दिन संजम लीनो, मन मे धर हुल्लास भायाँ०६
स्वामी जी रा शिष्य कहाया, सतगुरु साँचा पाया।
मोह, माया ने छोडी पल मे, हिरदे ज्ञान लगाया‥‥भायाँ०७
स्वामी जो श्री वृजलाल जी, नाम आपरो सोहे।
सरल आतमा समदृष्टि सू, सब ही रा मन मोहे ·भायाँ०८
जिनमत रा अनुगामी पूरा, बोले अमरत वेण।
दरशन करता आपरा रे, तरपत होवे नेण…भायाँ०९
ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय सु रे, आतम कारज सारे।
अरिहन्त प्रभु रा स्मरण करता, भव जीवाँ ने तारे भायाँ०१०
लिखवा री है कला निराली, देखत ही वण आवै।
मोती रा दाणा ज्यू अक्षर, सुन्दरता मन भावे ·भायाँ०११
ज्योतिष रो भी ज्ञान आपने, सुणज्यो सब नरनार।
गुण घणा गाया नही जावे, केऊँ वारम्वार भायाँ०११
वीर प्रभु से करूँ कामना, नित ही मगलकारी।
स्वामी जी दीर्घायु होवे, 'रसिक' सदा बलिहारी भायाँ०१३

२

मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मधुकर' —

[तर्ज—ओम्हारा नणदल बाई रा वीर]

ओ म्हारा मधुकर जी महाराज ! संयम शील सुधारो काज ।
जयन्ती गीत सुनाऊँ जी, चरण कमल मे हाथ जोड ने शीश झुकाऊँ जी।। टेर ।।

समत उगणोसौ सीत्तर में, यो मगशर महिनो आयो जी ।
सुद चवदश रो धन्य दिवस है, शुभ सन्देशो लायो जी ।।
नगर तिंवरी सुहाणो है । जनम रो खास ठिकाणो है ।।
देखतॉ मन हरषाऊँ जी चरण०१

घणा लाडला पुत्र जनमिया, गाया मंगलाचार जी ।
मात, पिता मिल खुशी मनाई, साथे सब परिवार जी ।।
सूरत पर वारी जावे है । पूनम रो चान्द बतावे है ।।
निरखताँ मोद मनाऊँजी चरण०२

स्वजन, परिजन रे हाथा मे, झूल्या दिन ने रात जी ।
कुल दीपक, कुल चान्दणो यू, माने सगला बात जी ।।
विद्या शाला मे भणिया । बालक होनहार वणिया ।।
महकतो जीवन पाऊँजी चरण०३

ज्ञान-ध्यान रा दरिया स्वामी, जोरावरमल जी नाम जी ।
मरुधर माही महिमा जवरी, अटल सुखाँ रा धाम जी ।
सेवा मे आया लेई उमंग । सुण्यो उपदेश चढचो है रग ।
जनम ने सफल वनाऊँजी चरण०४

घट-घट मे वैराग छागयो, पुण्यवानी भल जागी जी ।
आतम ने उज्जवल करवारी, लगन अनोखी लागी जी ।।
जाण्यो यो ससार असार । लेणो लेणो संजम भार ।।
मुगत सुँ प्रीत लगाऊँजी चरण०५

विक्रम सम्वत उगणी सौ, अस्सी रो लागै प्यारो जी ।
वैशाख सुदी दशमी रो दिन यो, सब सुँ मोहन गारो जी ।।
नगर भणाय सजायो है । संजम रो पाठ पढायो है ।।
धरम रा साज सजाऊँजी चरण०६

विनय भावना धार गुरु री, सेवा खूब ही कीनी जी।
ज्ञान खजानो पूरण भरियो, कीर्ति है रंग भीनी जी॥
भाषा सस्कृत - प्राकृत जान। दर्शन, व्याकरण रो है ज्ञान॥
न्याय मे निपुण सुनाऊँ जी चरण०७

भग - भण ने महापंडित वणिया सागर सम गम्भीर जी।
शान्त दात ने गुणगण-दरिया अद्भुत अनुभव धीर जी॥
रचना घणी वणाई है। तत्व-रस सुँ सजाई है॥
साहित्य पढ लो सुझाऊँ जी चरण०८

मधुकर जी री वाणी मे है, भरी मधुरता भारी जी।
सुणताँ सुणताँ आनन्द आवे, खिलजा कलिया सारी जी॥
मीठा मिसरी है अनमोल। लीना हिये तराजू तोल॥
बात यह साँच सुणाऊँ जी···चरण०९

तरे-तरे रा फ़लाँ ऊपर, मधुकर जावे दौड जी।
अणी तरे सुँ मधुकर जी पे, जनता आवे दौड जी॥
प्रेम रा झरणा झरता रे। जीवन सब हरिया करता रे॥
ज्ञान रा पुष्प खिलाऊँ जी चरण०१०

जय-गच्छ रा आचारज वणिया, कतरो मोटो भाग जी।
सगठन रे हित महा महिम ने, कर दीनो है त्याग जी॥
हमेशा मुखडा पे मुस्कान। झलकतो नही देख्यो अभिमान॥
सरलता घणी बताऊँ जी · चरण०११

आशा राखे समाज आप सुँ, श्रमण सघ मे शान जी।
विरल विभूति जैन जगत मे, गुण रा आप निधान जी॥
जुग जुग जीवो आप महान - सौ सौ वन्दन लेवो मान॥
हिया मे लगन लगाऊँ जी चरण०१२

शुभ दीक्षा री स्वर्ण-जयन्ती सब ही आज मनावे जी।
कर-कमलाँ मे यो अभिनन्दन, ग्रन्थ भेंट मे लावे जी॥
महिनो वैशाख रो कहलाय। ब्यावर नगर अति मन भाय॥
'रसिक' जय नाद गुँजाऊँ जी चरण०१३

●●

सौम्य और मधुर.... !

◎ मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मुमुक्षु'

स्वामीजी श्री व्रजलालजी म० सा० साधना के पथ पर निर्मल चारित्र का पालन करते हुए ४६ वर्ष तो पूर्ण कर चुके हैं। संयममार्ग में आप शिथिलता पसन्द नही करते है और नही करवाते है। इस कारण से आपको कतिपय व्यक्ति कठोर कहते है किन्तु आप कठोर नही। मक्खन के समान कोमल है।

पं० रत्न श्रीमधुकर जी म० सा० तो सर्वथा मधुर ही है।

मिश्री दिखने में निर्मल और स्वाद में मधुर होती है। इस प्रकार आप भी दिखने में सौम्य और बोलने मे मधुर है।

आप बोलते है तो मुस्कराते हुए ही बोलते हैं। सामने आनेवाला व्यक्ति भले ही क्रूर रहा हो, किन्तु आपके प्रवचन सुनते ही वह क्रूरता छोड कर कोमल बन जाता है।

आपमे सहजसौम्यता निष्कपटता, धैर्यता, सरलता आदि गुण प्रारम्भ से विद्यमान है।

मैं पूज्य मुनिराजो के श्री चरणो मे श्रद्धा के दो पुष्प अर्पित करता हू।

●

यथानाम तथागुण... !

◎ श्री पुनीत मुनि 'पंकज'

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति रही हुई है। हमारा देश ऋषिप्रधान रहा हुआ है। इसी संस्कृति के गौरव रूप श्री व्रजलालजी महाराज है। आपका त्याग वैराग्य उच्चतम है।

जैसा आपका नाम है, वैसे ही आप मे गुण हैं। आप श्री के प्रथम दर्शन माडंराव मे हुए थे। मैंने पाया है कि "यथा नाम तथा गुण" की सूक्ति आप में पाई जाती है। जैसे मधुकर पुष्पों से सुगंध लेता है, वैसे ही आप भी अपने जीवन में सद्गुणों की सुगन्ध ग्रहण करते हैं।

कबीर दास जी ने साधु का स्वभाव बताते हुए कहा है—

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे थोथा देय उड़ाय॥

ऐसे ही सूप स्वभावी श्री व्रजलालजी महाराज है। जिस प्रकार सूप सार वस्तु को ग्रहण कर लेता है और असार वस्तु को त्याग देता है, उसी प्रकार श्री व्रजलाल जी महाराज भी अवगुणों को त्यागकर जीवन में सद्गुणों का ग्रहण करते हैं। आपका हृदय स्नेह व सद्भावना से ओतप्रोत है। [illegible] आपकी मिलनसार प्रकृति झलकती है।

श्री मधुकर जी महाराज जैन शास्त्रों के उच्चतम विद्वान पण्डित है। जैसा आपका नाम है, वैसा ही आपका स्वभाव है। आपकी वाणी मे माधुर्य गुण है। इसी कारण आपका उपनाम 'मधुकर' जी रखा है। जैसे मिश्री उष्णता को शान्त करने मे काम आती है, वैसे ही आप भी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी उष्णता को ज्ञान रूपी मिश्री से शान्त करते है। आपकी कई कृतियां समाज के सामने आई है। इन कृतियो का सर्वत्र स्वागत हुआ है? आप अपने जीवन मे संगठन चाहते है। आप समाज मे शान्ति चाहते है। आपकी वाणी मे माधुर्य, गम्भीरता, स्पष्टता व ओज है।

हृदय हंस जैसा निर्मल है। आपकी २५ पुस्तके निकल चुकी है। आप समाज के ज्योति-स्तम्भ हैं और समाज ज्योति प्राप्त करता है। इसी प्रकार आप अपने जीवन को उन्नतिशील बनाते रहे। ऐसी मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

मुनि द्वयाष्टक

● मुनि श्री विजय कुमार

मुनि द्वय श्रद्धेय का सरस जीवन पराग।
अभिनन्दन करने का, मिला हमे सौभाग।।

आमो के विज्ञ, शासन संघ सेवा के लिए।
ज्ञानी-मुनि-ध्यानी हुए गुरु प्रेम बहाने के लिए।
जैन जगति को जगाते आप महा गुण धाम है।
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है।।

जीवन तुम्हारा महकता शशि-सूर्य सम बहु सोहता,
विनम्रता सद्भाव से मानव मन को मोहता।।
लेखनकला का कार्य सुन्दर श्रुत ज्ञान शासित स्वाम है,
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है।।

सुभाव दिव्य सुहावना सुशात शोभित हो रहा,
निस्पृहता माधुर्यता का तेज जन-मन मोह रहा।
गुण ग्राहकता कल्याण करनेवाले आप तमाम है,
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पु ज ललाम है।।

सौजन्यता से पूरितहृदय सौम्यता मुख झलकती।
गभीर चिंतन से सुहानी वाग्-धारा छलकती।।
अभिमान से तो दूर रहते आप द्वय सुख धाम है।
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज लालम है।।

आगम विशारद भाष्य टीका न्याय के भंडार हो,
व्याकरण सस्कृत और प्राकृत आदि महिमागार हो।
मिलनसारिता, सेवा सरलता सज्जनता गुण धान है
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है।।

जन्म भूमि आप द्वय की तिंवरी मानी हुई,
स्वामी जोरावरमल मुनि की सगति पाई सही।
उभय मुनि युग-युग रहे यह भावना निष्काम है।
ब्रजलाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पु ज ललाम है।।

शुद्ध साधुता के हो धनी संसारोद्धारक आप हो,
सद्ज्ञान के दाता तुम्ही पतित-पावन आप हो।
समता सुरस से चमकता मुनिवर तुम्हारा नाम है,
व्रज लाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाम है ॥
उदारता विशालता मे आप पूरे संत है,
वंदन हमारा सतत हो व्रज-मधु जैन महंत है।
गौरव गरिमा से प्रकाशित आप का शुभ काम है,
व्रज लाल जी मधुकर मुनिवर ज्योति पुंज ललाल है ॥

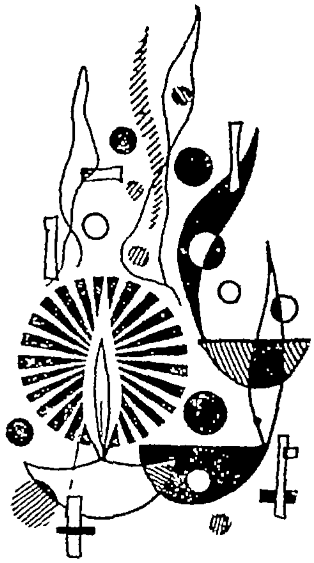
श्रद्धा के सुमन

● कविवर श्री जीतमल जी

(तर्ज—चाँदनी ढल जायगी)

चाँद और सूरज समान, राम और लखन सम जान,
जन-जन प्यारा रे, व्रज-मिश्री म्हारा रे ॥टेर॥
भारत माता के बाल, जैन जगत के लाल,
श्रमण सितारा रे ॥व्रज ॥१॥
जगति से मन मोड, मुक्ति से नेहा जोड,
लिया सयम भारा रे ॥व्रज ॥२॥
ज्ञान का कीना प्रकाश, आचार्य पद मिला खास,
उसे तजड़ारा रे ॥व्रज ॥३॥
निरअभिमान है, घणा गुणा की खान है,
निर्मल गग धारा रे ॥व्रज ॥४॥
श्रमण संघ हितैषी है, पण नहीं रागाद्वेपी है,
सबका मोहनगारा रे ॥व्रज ॥५॥
व्रज स्वामी वड़े नेक, मिश्री है लाखो मे एक,
साचा अणगारा रे ॥व्रज ॥६॥
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति आज, हाजिर सारो सघ समाज,
अभिनन्दन प्यारा रे ॥व्रज ॥७॥
समाज ने तुम पर है नाज, जुग-जुग जीवो गुरुराज,
चावे यही सारा रे ॥व्रज ॥८॥
शासन दिपाई जो, "जीत" सप बढाई जो
गाम्या गुण थारा रे ॥व्रज ॥९॥

धर्म दर्शन एवं संस्कृति



जैनागमों में नीति तत्त्व

● मुनि श्री फूलचन्द्र जी 'श्रमण'

मनुष्य यहा जिस आयुष्य-कर्म को वाध कर आता है उसे वह अपना आयुष्य कर्म भोगना ही पडता है। दुनिया मे जन्म लेनेवाले को जीना ही पडता है, रोकर, हँसकर या समभाव से, पर तव तक जीना अनिवार्य है जव तक जीने का विधान है।

मनुष्य पैरो से चलना चाहे जव सीखे, चले या न चले, यह उसकी परिस्थितियो और इच्छा पर निर्भर है, परन्तु जन्म के क्षण से लेकर अन्तिम श्वास तक उसे समय के सोपान पर चढते ही रहना पडता है। नियति के इस अटल नियम को तोडा नही जा सकता।

जीवन-सागर की अतल गहराइयो तक पहुच कर जीवन-शास्त्र का निर्माण करने वाले तत्त्व-दर्शी महामुनियो ने सोचा कि जीना तो सव को ही पडता है, परन्तु क्या कोई ऐसी विद्या या कला नही, जिससे मानव परिस्थितियो पर—जीवन की उलझनो पर विजय प्राप्त करके हँसते-हँसते जीना सीखे। अपने इसी विचार से प्रेरित होकर उन्होने नये-नये प्रयोग आरम्भ किये, जीवन के प्रत्येक अग का विश्लेपण किया, जीव और जीवन के सम्बन्ध-सूत्रो की छान-वीन की, मानसिक जगत के भाव-मण्डल मे होने वाली प्रत्येक क्रिया को परखा, वौद्धिक स्तरो को जाना पहचाना और इस प्रकार सुदीर्घ साधना के अनन्तर उस कला का आविष्कार किया जिस कला के अभ्यास से मानव हँसते हँसते जीये और अपनी अभीष्ट—साधना से वह प्राप्त कर सके, जिसे वह प्राप्तव्य मानता है। इसी जीवन-कला को वे 'नीति' कहने लगे नीति का अर्थ है जीवन-कला।

यह सत्य है कि जीवन-प्राप्तव्य की प्राप्ति मे ही सुख है और सुख की शीतल छाया मे स्थित मानव—मुख पर ही उल्लासजन्य हास्य की आभा छिटका करती है, परन्तु प्रश्न है कि जीवन मे प्राप्तव्य क्या है ? मनुष्य क्या पाना चाहता है और इस प्रश्न के दूसरे पहलू पर भी विचार करके यह भी देखना होगा कि मनुष्य क्या छोड कर आनन्द की अनुभूति करता है। इन प्रश्नो के उत्तर पाने मे चाहे जितना समय लगा हो, परन्तु नीतिविज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुच ही गए कि "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" ये ही जीवन के प्राप्तव्य हैं, शेष जो कुछ भी है वह सव इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सहायक मात्र है।

इस चतुर्वर्ग को दो भागो मे वाटा गया है एक ओर तो अर्थ और काम को रक्खा गयाहै और दूसरी ओर धर्म और मोक्ष को। वस्तुत धर्म का स्थान दोनो भागो है, अत कुछ मनीषियो ने त्रिवर्ग—भिन्नता

की भी कल्पना की है। त्रिवर्ग-साधना को लोक-साधना भी कहा जा सकता है और धर्म और मोक्ष के सयुक्त वर्ग को परलोक-साधना। यद्यपि यह महा सत्य है कि जैन-साहित्य धर्म-साधना और मोक्ष-साधना को ही विशेप महत्व देता है, परन्तु लोक-साधना उससे सर्वथा अछूती रही हो यह भी नही कहा जा सकता। हा, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक सस्कृति मे त्रिवर्ग-साधना अर्थात् लोक-साधना मुख्य रही है और परलोक-साधना गौण, यही कारण है कि वहा मोक्ष को वैकुण्ठ रूप मे उपस्थित किया गया है और वहा पर भी अर्थ-सुख और काम-सुख की उपलब्धि स्वीकार की गई है। जैन-सस्कृति मोक्ष को प्रमुखता देती है,धर्म को उस का आधार-भूत साधन स्वीकार करती है और इसीलिये अर्थ एव काम से उदासीनता का पाठ पढाती है।

वात्स्यायन ने प्रजापति के द्वारा एक लाख अध्यायोवाले त्रिवर्ग-शासन के निर्माण की वात लिखी है[1] और कहा है कि उन्ही एक लाख अध्यायो के आधार पर प्रजा की आनन्दमयी स्थिति के लिये मनु ने धर्माधिकार, वृहस्पति ने अर्थाधिकार, और नन्दी ने कामसूत्र अर्थात् कामधिकार का निर्माण किया। इस त्रिवर्ग-शासन की व्याख्या के रूप मे नारद, इन्द्र, शुक्र, भरद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर और मनु आदि महर्षियो ने अपने नीति-शास्त्रो एव स्मृतियो को रचा। आचार्य चाणक्य इस नीति—परम्परा के कुशल पारखी, अनुभवशील त्रिवर्ग-साधक हुए। उनका अर्थशास्त्र लोक तत्त्व की विशद व्याख्या है।

जैन मुनीश्वर इस विषय मे सर्वथा मौन रहे हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। श्री सोमदेव सूरी (११ वी शती) अपने नीतिवाक्यामृत मे **"सम वा त्रिवर्गं सेवेत"** (३।३) कह कर धर्म—अर्थ एव काम की समभाव से सेवना का समर्थन करते है। दशवैकालिक सूत्र (निर्युक्ति) मे भी कहा गया है—

धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयण उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥

धर्म, अर्थ और काम को चाहे कोई परस्पर विरोधी मानता हो, परन्तु जिन वाणी के अनुसार तो वे जीवन-अनुष्ठान मे परस्पर असपत्न अर्थात् अविरोधी हैं। परन्तु जैनागमो मे कही भी अर्थ और काम की सेवनीयता का समर्थन नही किया गया है। वहा का प्रवल पक्ष धर्म और मोक्ष ही रहे है, अत **'धम्मो मगलमुक्किठ्ठ'** कह कर धर्म को ही जीवन के लिये मगलकारी कहा गया है।

इतना अवश्य है कि वत्तीसो आगमो ने प्रकीर्ण शास्त्रो ने, निर्युक्ति,भाष्य और चूर्णि-निर्माताओ ने यथा-स्थान चतुर्वर्ग के सम्बन्ध मे अपने निष्कर्ष घोपित करते हुए अपनी स्वतन्त्र नीति का—अपनी विलक्षण जीवन-कला का परिचय दिया है।

जैन साहित्य को हम धर्म और मोक्ष-सम्बन्धी नीति-वाक्यो का महासागर कह सकते हैं, इन दोनो के हर पहलू को जैन-दर्शन ने परखा है, उसका विश्लेपण किया है, और जीवन के लिये उनकी उप-

---

१ प्रजापतिर्हि प्रजा सृष्ट्वा तासा स्थितिनिवन्धन त्रिवर्गस्य साधनमध्यायाना शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच। तस्यैकदेशिकं मनु स्वायम्भुवो धर्माधिकार पृथक् चकार, वृहस्पतिरर्थाधिकारम्, नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं चकार।
—(कामसूत्र, अ० १)

योगिता पर विशद प्रकाश डाला है। सागर मे जैसे नदिया मिलती है, इसीप्रकार छोटी-छोटी नदियो के रूप मे इस महासागर मे अर्थ और काम की सरिताए भी कही-कही मिलती अवश्य दिखाई देती हैं। जैसे —

अर्थनीति—

सर्वप्रथम अर्थनीति को ही लीजिए, इस विपय मे जैनागमो के कुछ नीतिवाक्य प्रस्तुत कर रहा हूँ—

लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा।

—आचाराङ्ग १।२।५

अर्थ लाभ की दशा मे गर्व न करो, परन्तु उसकी अप्राप्ति पर शोक भी नही करना चाहिए।

सव्व जग जइ तुह, सव्व वावि धण भवे।
सव्व वि ते अप्पज्जत्त, नेव ताणाय त तव।

—उत्तरा० १४।३९

अगर सारे ससार पर तुम्हारा अधिकार हो जाय, दुनिया का सारा धन तुम्हे ही मिल जाय, तव भी तुम्हे वह अपर्याप्त ही प्रतीत होगा, वह धन अन्त समय मे तुम्हारी रक्षा भी नही कर सकता है।

जा बिहवो ता पुरिसस्स होइ, आणापडिच्छओ लोओ।
गलिओदय घण विज्जुलावि दूरं परिच्चयइ।

—प्रा० सू० स०

जव तक मनुष्य के पास वैभव है तव तक ही लोग उसकी आज्ञा का पालन करते है, पानी समाप्त होने पर तो विजली भी वादल का परित्याग कर देती है।

थोव लद्धुं न खिसए।

—दशवै० २।२९

थोडा प्राप्त होने पर मनुष्य को झुझलाना नही चाहिए।

खेत्त वत्थु हिरण्ण च, पुत्तदारं च बधवा।
चइत्ता ण इम देह, गतव्वमवस्स मे॥

—उत्तरा० १९।१७

खेत, वस्तुए, सोना, पुत्र, पत्नी वन्धु-वान्धव और इस देह को भी त्याग कर हमे यहा से अवश्य ही जाना पडेगा।

उपर्युक्त अर्थनीति सम्वन्धी वाक्यो से ज्ञात होता है कि अपरिग्रह-प्रधान जैन सस्कृति ने अर्थ-नीति के ग्राह्य पहलू को नही, उसके त्याग-पक्ष को विशेप महत्त्व दिया है। उसका लक्ष्य-वाक्य यही रहा है—

अर्थानामर्जने दु ख, अर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दु.ख व्यये दु ख, धिगर्थान् कष्टसश्रयान्॥

धन को एकत्रित करते समय, दु ख उठाने पडते है, उसकी रक्षा के लिये भी दु खो का ही सामना करना पडता है, अत धन के आगमन मे कष्ट है, उसके व्यय मे कष्ट है, इस प्रकार सभी प्रकार से कष्ट दायक धन को धिक्कार है।

कामनीति—

ब्रह्मचर्य की सुदृढ आधार शिला पर अवस्थित जैन-सस्कृति के पावन प्रासाद मे हम काम के उसी रूप मे दर्शन करते हैं जिस रूप मे उसका विचरण वहा निपिद्ध किया जा रहा है, कही-कही उसे धक्के देकर वाहर निकाला जा रहा है, अथवा उसे वहा से निकलने का आदेश-पत्र दिया जा रहा है। जैन सस्कृति के पावन प्रासाद द्वार पर ही यह'मॉटो' देखने को मिलता है कि **'न विषयभोगो भाग्य, विषयेषु वैराग्यम्'**— विपय-वासनाओ की प्राप्ति भाग्योदय का चिह्न नही, भाग्योदय का विलक्षण लक्षण विचक्षण यही वताते हैं कि वह है विपयो से विरक्ति। वासना-लिप्त धर्म को यहा विनाशकारी वतलाते हुए अनाथी मुनि कहते हैं—

विस तु पीय जह कालकूड हणाइ सत्थ जह कुग्गहीय।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयालइवाविवन्नो॥

—उत्तरा० २०।४०

पिया हुआ जहर, उलटा पकडा हुआ शस्त्र और अच्छी प्रकार से वश मे न किया हुआ वेताल (पिशाच) जैसे मनुष्य को नष्ट कर देते हैं वैसे ही वासनायुक्त धर्माचरण आराधक का विनाश कर देता है।

एव खु तासु विन्नप्प सथव सवास च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा वज्जकरा य एवमक्खाए॥

—सुयगडाग, ४।२।१९

इन स्त्रियो के विपय मे वहुत कुछ कहा गया है, इनका परिचय और ससर्ग वर्जित है, नारी-ससर्ग-जन्य कामभोगो को भगवान् जिनेन्द्र ने आत्मघातक कहा है।

विसया विस व विसमा, विसया वेस्सा नरव्व दाहकरा।
विसय विसाय विसहर, बाघाणसमा मरण-हेऊ।

कामभोग विष के समान विपम हैं, अग्नि के समान दाहक हैं, पिशाच, सर्प और व्याघ्र के समान मरण के कारण हैं।

हास किड्ड रइ दप्प, सहभुत्तासियाणि य।
वम्भचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइवि॥

—उत्तरा० १६।६

स्त्रियो के साथ मजाक, नाना विध क्रीड़ाए, उनका सहवास, 'मेरी स्त्री अत्यन्त सुन्दर है' इस प्रकार की दर्पोक्तिया, स्त्री के साथ वैठकर भोजन और उसके साथ एक ही पलग पर वैठना आदि काम-क्रियाओ का सेवन तो दूर रहा, उनका चिन्तन भी न करे।

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
सका ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं॥

—उत्तरा० १६।१४

ये काम-भोग अजेय हैं, ये शका-शीलता के प्रमुख कारण हैं, इसलिये मानसिक एकाग्रता के अभिलापी को इनका परित्याग ही कर देना चाहिए।

कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख।

—उत्तरा० ३२।१६

काम की निरन्तर अभिलापा से दुखो की उत्पत्ति होती है।

एए य सगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवति सेसा।

नारी-सग का अतिक्रमण करते ही विश्व के सभी पदार्थ सुखकारी हो जाते है।

यह जैन सास्कृतिक साहित्य का कामनीति सम्वन्धी ग्राह्य एव आचरणीय दृष्टिकोण है, परन्तु यहा यह नही भूलना चाहिए कि जैनागम कामासक्ति विरोधी होते हुए भी नारी जाति का विरोधी नही है। उन्होने नारी को मोक्षाधिकारिणी माना है, उसे केवल वासना पूर्ति का यन्त्र न कह कर उसे सम्मान्य पूज्य स्थान दिया है। उनका कथन है—

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसयमोपेता.।
निजवशतिलकभूता. श्रुत - सत्यसमन्विता नार्यः॥

—ज्ञानार्णव।१२।५७

शम-शील-सयम से युक्त अपने वश मे तिलक समान श्रुत तथा सत्य से समन्वित नारिया धन्य हैं।

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रिय काश्चिद भूषयन्ति धरातलम्॥

—ज्ञानार्णव।१२।५८

स्त्रिया अपने सतीत्त्व से, महत्त्व से, आचरण की पवित्रता से विनयशीलता और विवेक से धरातल को विभूपित करती हैं।

ब्राह्मी, सुन्दरी, अञ्जना, अनन्तमती, दमयन्ती, चन्दना, राजीमती एव सीता आदि के सतीत्व मय नारीत्व पर जैन-सस्कृति को गर्व है। तीर्थकरो के मातृत्व के रूप मे उनके गरिमा-सिंहासन सव के लिये वन्द्य है। **'गिहिवासे वि सुव्वए'**—सुव्रती रह कर गृहस्थ धर्म के पालन का यहाँ निपेध नही है। यहा कामनीति को मर्यादा मे वाधकर रखने का आदेश है, उसे स्वच्छन्दविहारिणी वनने से रोका जाय यही जैन सस्कृति का ध्येय है।

धर्मनीति—

धर्मनीति के सम्वन्ध भ अगर यह कहा जाय कि 'जैनागम धर्ममय हैं'—जैन साहित्य-सागर मे धर्मोमियो के विलास ही विलास दृप्टिगोचर होते है, ऊर्मिमाला ही सागर है, और सागर ही ऊर्मिमाला है, इस रूप मे दोनो का एकत्व प्रसिद्ध है। 'उठे तो लहर है बैठे तो नीर है, लहर कहे क्या नीर खोयमू" की उक्ति चिरकाल से कर्ण-परिचित है।

यद्यपि धर्म क्या है? इस प्रश्न की उत्तर माला ओर-छोर से रहित हो चुकी है, फिर भी इस प्रश्न का प्रश्न-चिह्न उत्तर की प्रतीक्षा मे ज्यो का त्यो खडा है। श्रद्धेय आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने धर्म का परिभाषात्मक रूप स्पप्ट करते हुए लिखा है—"**दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म**'—आत्मा को दुर्गति के गहरे गर्त मे गिरने से वचाकर जो उसे धारण करता है वही धर्म है।' इसीलिये चार

पुरुषार्थो मे धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है। धर्मानुगामिनी अर्थनीति अनर्थकारिणी नही हो सकती, धर्म-धृता कामनीति को भी बुरा नही कहा जा सकता है, मोक्ष की तो आधारभूमि धर्म ही है, इसलिये इसे उत्कृष्ट मङ्गल कहा गया है।

धम्मो मङ्गल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो।

अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म ही सर्वोत्कष्ट मङ्गल है। अहिंसा, सयम और तप मे वह दिव्य चेतना जागृत होती है, जिसके प्रकाश मे वस्तु तत्त्व प्रत्यक्ष हो उठता है। इसीलिये वस्तु स्वभाव को ही धर्म बतलाते हुए कहा गया है—'**वत्थु सहावो धम्मो**।' ठीक ही है,जिसने वस्तु स्वभाव को जान लिया, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, वही उसका धर्म है, इस धर्म से रहित अग्नि हम कही भी नही पा सकते। मनुष्य का स्वभाव विवेक है—ज्ञान है। विवेक से ही वह हेय-उपादेय को जान सकता है। हेय का त्याग कर सकता है और उपादेय को ग्रहण कर सकता है, अत विवेकवान् ही मनुष्य है। विवेकहीन को मानवता के पावन सिंहासन पर बैठने का अधिकार ही नही है। मनुष्य शब्द द्वारा हम जिससे परिचित है, वह हाड-मास का ढाचा ही नही है, वह भी दो हाथोवाले इस पौद्गलिक देह मे रहनेवाला आत्मा है। वह आत्मा ही धर्म है—

अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोस परिचत्तो।
संसारतरणहेदुं धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्टं।

—भावपाहुड ८३

रागद्वेषादि से रहित आत्मोद्धार मे सलग्न और ससार-सागर को तरने के लिये यत्नशील आत्मा को ही जिनेन्द्र भगवान् धर्म कहते हैं। इस धर्म के सम्बन्ध मे शास्त्रोक्तिया इस प्रकार हैं—

बावत्तरी कला कुसला पडिय पुरसा अपडिया चेव।
सव्व कल्लाण वि परं जे धम्मकलं न जाणति॥

चाहे कोई व्यक्ति बहत्तर कलाओ मे कुशल है, पण्डित है या मूर्ख है, यदि वह धर्म कला से अपरिचित है तो उसकी सभी कलाए व्यर्थ हैं।

अविसवायण सपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

—उत्तरा० २९।४६

निष्कपट व्यवहार से मनुष्य धर्म की आराधना करने वाला हो जाता है।

धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरति।

—सूत्रकृताङ्ग २।२।३९

धर्मानुकूल आजीविका करने वाला ही सद् गृहस्थ है।

एगा धम्मपडिमा जं से आया पज्जवजाए।

—स्थानाङ्ग १।१।४०

आत्मा की विशुद्धि केवल धर्म से ही होती है।

एगे चरेज्ज धम्म।

—प्रश्नव्याकरण २।३

चाहे तुम अकेले ही क्यो न होओ, धर्म का आचरण करते रहो।

एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो य से मोक्खो ।

—दशवैकालिक ६।२।२

विनय ही धर्म का मूल है और मोक्ष ही उसका अन्तिम फल है ।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जति राइओ ।

—उत्तरा० १४।२५

जो राते बीत जाती हैं वे पुन लौट कर कभी नही आती । बीतती हुई राते उसी की सफल है जो धर्म का आचरण करते है ।

एको हि धम्मो नरदेव ताण, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।

—उत्तरा० १४।२०

राजन्, एक धर्म ही मनुष्य का रक्षक है, उसके विना मनुष्य की रक्षा करनेवाला कोई नही ।

धम्ममहिंसा सम नत्थि ।

—भक्तपरिज्ञा ९१

अहिंसा के समान कोई धर्म नही ।

जरा मरण वेगेण वुज्झमाणाणपाणिण ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तम ।।

—उत्तरा० २३।६८

वुढापे के असह्य भार से दवकर मृत्यु-नदी के जलौघ मे वहते हुए प्राणियो को यदि कोई सुन्दर आश्रय मिल सकता है तो वह धर्म ही है ।

ये तो जैनागम-सागर की वुद्धि तट के समीप आई दो चार तरङ्गे है, जिनके हमने ऊपर दर्शन किये हैं, ऐसी असख्य धर्मोर्मियो के यहा दर्शन किए जा सकते है, स्वाध्याय की तरणी पर बैठ कर उन मङ्गलमयी तरल तरङ्गो को देखने के चाव की आवश्यकता है ।

मोक्षनीति—

मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता । हम यहा देखते हैं कि प्रतिदिन अनन्त प्राणी उत्पन्न होते है, खाते है, पीते हैं और **'जीवेम शरद. शतम्'** के पाठ स्वरो मे सौ वर्ष तक इस धरती पर सास लेते रहने की कामना करते हैं । यह भी उस अवस्था मे, जवकि अपने ही कन्धो पर कितने ही शवो को ढोकर श्मशान की अग्नि मे जला आते हैं । मनुष्य को पता है कि मुझे लगभग सौ साल जीना है, फिर भी वह इतना जुटाना चाहता है जिसका पार न हो, यदि उसे यह पता चल जाय कि मुझे हमेशा यही रहना है तो वह सारे ससार की रजिस्ट्री सारी दुनिया के हक-हकूक अपने नाम करवा लेने के काम से भी न चूकता ।

प्रश्न है कि क्या यह आना-जाना स्वय ही हो रहा है ? अथवा इसके पीछे कोई अन्य प्रेरिका शक्ति है ? स्वय कुछ हो नही सकता, तो फिर वह कौन सी शक्ति है जिसकी अनियन्त्रित प्रेरणा से आवागमन का चक्र निरन्तर घूम रहा है ? वीतराग जिनेन्द्रो ने उस प्रेरकशक्ति का अन्वेषण कर ही लिया और कहा—'वह शक्ति कर्म भार से वन्धन है, यदि कर्म भार को उतार कर फेंक दिया जाय तो यही मोक्ष है । तभी तो आत्मा को अमृतत्व-सिन्धु मे स्नान कराने वाले आत्मधर्मा मुनीश्वर कहते हैं—



णिस्सेस कम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो ।
तम्हि कए जीवोऽव, अणुहवइ अणंतयं सोक्ख ॥

सम्पूर्ण कर्मों के पाशो को तोड कर स्वतन्त्र हो जाना ही तो मोक्ष है । जिनेन्द्र भगवान् का यह आदेश है कि मुक्त होकर ही जीव आनन्द रूप हो सकता है । सिद्धान्त यह है कि **'यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति'** जिसे मोक्ष की भी आकाक्षा नही, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है । अत मोक्ष के लिये उस अवस्था की आवश्यकता होती है जिसमे इच्छा-निरोध नही, इच्छाओ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय । इसीलिये मोक्षावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है—

ण वि दुक्ख ण वि सुक्ख णवि पीडा णेव विज्जदे वाहा ।
ण वि मरण ण वि जणण, तत्थेव य होई निव्वा ॥

जहा दुख नही, इन्द्रिय-सुख नही, जहा पीडा नही, जहा कोई वाधा नही, न जन्म है,न मरण है वही तो मोक्ष है ।

इस अवस्था की अनुभूति के कुछ क्षण तपस्वी जीवन मे भी आते हैं, उस जीवन मे आनन्दोल्लास के साथ मुक्त आत्माएँ कहा करती हैं—

न मे मृत्यु. कुतो भीति., न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाऽह वालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ।

जब मैं मरण—मुक्त हू तो डरू किससे, जबकि रोग मेरे पास आ ही नही सकते, तो पीडा कैसी ? न मैं वच्चा हू, न युवा हू, न वृद्ध हू—यह सब तो पुद्गल-क्रीडा है, होती रहे यह क्रीडा, मेरा इस क्रीडा से क्या प्रयोजन है ।

से सुयं च मे अज्झत्थय च मे, वन्धप्पमुक्खो अज्जत्थेव ।

—आचाराग ५।५२

मैंने सुना है और अनुभव किया है कि मैं आत्मा हू, वन्धनो से मुक्त हूं । कितने उल्लासमय होते होंगे इस अनुभूति के क्षण ! यह आनन्दोत्सव के क्षण सदाभावी वन जाय इसी का प्रयास है वह समस्त सास्कृतिक साहित्य जो मोक्षनीति का अनुगामी है ।

नीति शास्त्र की सीमाएँ लोक तक ही सीमित हैं, परन्तु जैनागमो की नीति लोक-परिचायिका तो है ही, साथ ही उस ओर भी ले जानेवाली है जहां मोक्ष है, जहा नीति का अवसान है, जो जीवन यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है ।

ऊपर हमने चतुर्वर्ग रूप जैनत्व-मण्डित नीति-शास्त्र का विहगमावलोकन किया है । इसके आधार पर हम कह सकते है कि जैन-साहित्य एकागी साहित्य नही, उसमे जीवन के सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त निष्कर्ष हैं, उसमे जीवन के हर पहलू को परख कर उपस्थित किया गया है, उसमे लोक की वास्तविकता के ऐसे बहुरगी चित्र उपस्थित किए गए हैं जिनसे मनुष्य लोक की दु खमयता से परिचित होकर उधर वढ सके जिधर आनन्द का अनन्त सिन्धु लहरा रहा है ।

॥ जैन जयतु शासनम् ॥

आधुनिक समाजवाद के सन्दर्भ में

जैनधर्म का

समाजवादी स्वरूप

—सौभाग्यमल जैन, एडवोकेट

यदि जैनधर्म मे निहित तत्वो की ओर गहराई से देखे तो हमे यह वात स्पष्ट रूप से दिखाई देगी कि उसमे व्यक्ति तथा समाज मे अन्योन्याश्रय का सम्वन्ध मानते हुए भी अधिक महत्व समाज को दिया गया। यह सत्य है कि जैन धर्म आचारप्रधान हैं, उसमे विधि, निषेध सम्वन्धी प्रवाधान है तथा उन पर अमल करना आवश्यक माना जाता है, इस परिप्रेक्ष्य मे इसे व्यक्ति-परक भी कह दिया जाता है किन्तु यह एकागी सत्य है। वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकर ने तीर्थ की स्थापना की, तथा चतुविध तीर्थ रूप सघ को अत्यधिकमहत्व दिया। श्रीमद्नदीसूत्र की प्रास्ताविक गाथाओ मे सघ महिमा का जो सुन्दर काव्यात्मक रूप हमको मिलता है, उससे सघ की महत्ता का दिग्दर्शन हो सकता है। यही नही, अपितु स्वय तीर्थकर भी सघ को "णमोतित्थस्स" कहकर वन्दना करते हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति का समूह ही सघ होता है, किन्तु Indivedusl रूप से व्यक्ति को सघ का महत्व प्राप्त नही होता, जबकि व्यक्ति सामूहिक रूप से "सघ" कहाता है और उसे महत्व प्राप्त है। इस सामूहिकता का अपरनाम ही "समाज" है। हम चाहे आज के आधुनिक युग मे समाजवादी विचारधारा का जनक "कालमार्क्स" को कहे, किन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिकता तथा समाज-परक व्यवस्था का विचार तथा अमल हमारे देश मे युगो-युगो से रहा है। एक विशेपता इस देश की यह भी रही है कि समाज-परक व्यवस्था केवल एक विचार, एक Theory ही नही रही, अपितु इन व्यवस्थाओ के पुरस्कर्ता महापुरुषो ने पेश्तर उस पर अमल किया। जैन साहित्य के एक महान् सूत्र "श्रीमद्स्थानागसूत्र" मे दस धर्मों का विवेचन किया है जिसमे ग्रामधर्म, नगर

धर्म, राष्ट्रधर्म, ममाजधर्म आदि का समावेश किया गया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा के उद्वार के लिये प्रयत्न करना कर्तव्य माना जाता है उसीप्रकार उसको समाज के प्रति भी अपना कर्तव्य निर्वाह करना लाजमी है।

प्रागऐतिहासिक काल के युगलिया युग की समाप्ति के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने जो समाज व्यवस्था देश को दी तथा राज्य सस्था का निर्माण किया उसके अध्ययन करने से इस निष्कर्ष पर पहुचा जा सकेगा कि उन्होने मानव को अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिये असि, मसि, कृषि मम्वन्धी कार्यो मे सलग्न रहना जरूरी माना। तात्पर्य यह है कि उस प्राग्-ऐतिहासिक काल मे भी एक महनत कश-समाज का सूत्रपात किया गया। यही नही, उन्होने त्यागी वर्ग के लिये तीन याम (अहिसा, सत्य, अपरिग्रह) का उपदेश किया। कहा जाता है कि उसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे चर्तुयाम करके सशोधन किया तथा भगवान महावीर ने पचयाम करके पचमहाव्रत का रूप दिया (देखिये अमर भारती जनवरी १९७३ अक) कुछ भी हो, किन्तु यह विवाद से परे तथ्य है कि जैन धर्म के पुरस्कर्त्ता महापुरुपो के हृदय मे जिस "श्रम निष्ठ" समाज की कल्पना थी, उसके लिये उन्होंने "अपरिग्रह" का प्रावधान भी आवश्यक समझा। हालाकि उस युग मे शोषण के वडे-वडे साधन नही थे। त्यागी वर्ग के सन्दर्भ मे एक आदर्श वाक्य है —

"असविभागी न हु तस्स मोक्खो"

जो अपने प्राप्तव्य का सविभाग करके अन्य को नही देता उसकी मुक्ति नही हो सकती। यदि हम श्रावको के लिये निर्दिष्ट १२ व्रतो का अध्ययन करें तो हमे स्पष्टरूप से पता लगेगा कि श्रावक को जहा अपनी सम्पत्ति की सीमा-वाधकर अल्पपरिग्रही होने का विधान किया गया, वहा उसकी दैनिक-व्यवहार की वस्तु पर भी सीमा लगाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि श्रावक सम्पत्ति का असीमित सचय न करे, इतना पर्याप्त नही माना गया अपितु उससे अपक्षा की गई कि वह अपने दैनिक व्यवहार की वस्तु भोगोपभोग पर भी limet करे ताकि देश के उत्पादन का, कितने भाग का वह उपयोग करेगा यह सीमा वाध दी जावे। इन महापुरुपो ने विश्व को जिस प्रकार के त्याग का उपदेश दिया वैमा ही अपने जीवन मे अमल किया। यदि वह कहा जावे तो अधिक सत्य होगा कि इन महापुरुषो ने पहले त्याग तथा माधना के द्वारा "कैवल्य" प्राप्ति की तथा जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसका उपदेश विश्व को दिया। भगवान् महावीर के पश्चात् २५०० वर्ष मे कई महापुरुपो ने इस देश को दिशा दान दिया है तथा अपने जीवन व्यवहार से प्रभावित किया है। अभी ताजा उदाहरण राष्ट्रपिता वापू का है, जिन्होने देश को केवल समाजवादी व्यवहार करने का उपदेश नही दिया अपितु, स्वयं के जीवन व्यवहार को इस प्रकार सीमित करके साक्षात् साम्यवादी समाजवादी होना सिद्ध किया। समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक दिया। जैमा कि इस देश की परम्परा रही है।

जैन साधना पद्धति मे सामायिक का वडा महत्व है। चाहे त्यागी वर्ग की साधना हो चाहे गृहस्थ की। दोनो पद्धति मे 'सामायिक" का महत्व है। इस पारिभाषिक शब्द "सामायिक" का मूल "समता" है। भाव मामायिक वह है जव कि मनुष्य विश्व के समस्त प्राणियो के प्रति समता का भाव अपने हृदय मे धारण कर उमको आजीवन अथवा ममय विशेप तक के लिये धारण करे। इसीकारण जैन साहित्य के एक अनुपम शास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है कि—

"समयाए समणो होई, बंभचेरेण बभणो।"

समताभाव धारण करने से ही श्रमण हो सकता है। जब कोई व्यक्ति श्रमण (साधु) दीक्षा लेते हैं तो उसे आजीवन मामायिक का व्रत धारण करना होता है, यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ रहते हुए सामायिक व्रत धारण करना चाहता है तो उसे समय की सीमा वाधकर सामायिक व्रत कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि जैन साधना पद्धति का हार्द "सामायिक" है, जिसमे ममताभाव का धारण करना अनिवार्य है। जैन परम्परा के एक धुरन्धर विद्वान आचार्य समतभद्र ने समस्त प्राणी मात्र को कल्याण की कामना करने की अपनी शुभ भावना प्रदर्शित करते हुए वताया था कि हे भगवन ! आपका यह तीर्थ "सर्वोदय" (सव का उदय करनेवाला कल्याण करने वाला है)

सर्वापदामन्तकर निरत सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ॥

तात्पर्य यह है कि जैनधर्म के महान् पुरस्कर्ताओ ने वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय प्रावधान करके विश्व का महान् उपकार किया है। उनका उद्घोष था कि—

अर्पित हो मेरा मनुज-काय।
वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय ॥

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह नि शक रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म मे समाजवादिता का जो स्वरूप है, वह केवल आर्थिक नही है, एकागी नही है, अपितु जिस समाज-परक व्यवस्था का प्रावधान किया है, उसमे मानव जीवन का आदर हैं, उसके विचारो का आदर है, उस आर्थिक स्वतत्रता का उद्घोष हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है आधुनिक समाजवाद के पुरस्कर्ता "कालमार्क्स" का लक्ष्य केवल मानव के अर्थ-तत्र मे सम्वन्धित था। इसमे सन्देह नही कि जव विश्व की विचार सरणि मे "देव-वाद" का वोल वाला था, मनुष्य अपनी गरीवी को भगवान् या भाग्य की दैन मानकर सतोष कर लेता था उस युग मे इस विचारक ने स्पष्ट घोपणा की कि—किसी भगवान या भाग्य ने मानव को गरीवी का प्रावधान नही दिया। अपितु समाजव्यवस्था पू जीवादी आधार पर होने से वह गरीव है, इस कारण राज्य की व्यवस्था इस प्रकार परिवर्तित की जाना चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये समुचित भाग मिल सके। इस विचारक की विश्व को वडी देन है, किन्तु फिर भी वह एकागी है। मानव के केवल आर्थिकदृष्टि से स्वतत्र हो जाने पर भी वहुत कुछ शेप रहता है। आधुनिक समाजवादी विचारधारा राज्याश्रित अधिक है। समाजवादी यह विश्वास करते है कि राज्य व्यवस्था समाजवादी सिद्धान्तो पर आधारित होने से सव कुछ ठीक हो जायेगा। मानव अभाव से पीडित नही हो सकेगा। तात्पर्य यह कि मानव को अपने अभाव की पूर्ति के लिये राज्य व्यवस्था के परिवर्तन तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। जवकि भारतीय प्राचीन विचारधारा यह स्पष्ट निर्देश करती है कि दोनो कार्य साथ-साथ हो ताकि मानव तव तक उपेक्षित न रह सके। कल्पना कीजिये कि एक पडोस के मकान मे आग लग जावे या पडोस के रहनेवाला भूख से तडपता हो, तव पडोस मे रहनेवाला राज्य शासन की सहायता के लिये भागे तव तक पडोसी का मकान स्वाहा हो जायगा या उसके प्राण पखेरु उड जावेंगे। इसलिये भारतीय समाजवादी विचार धारा व्यक्ति को उपेक्षित देखना नही चाहनी। एक विचारक ने लिखा था कि समाजवादी व्यवस्था मे प्रजा, राज्य तथा अधिकारीगण पर अधिक आश्रित हो जाती है। राष्ट्रपिता

वापू के हृदय मे यह कल्पना थी कि इस देश का निवासी अधिक राज्याश्रित न हो। इससे मानव के मन मे परावलम्विता का उदय होगा और यह परिणाम, एक स्वतत्र देश के स्वतत्र नागरिक के सम्मान के अनुकूल नही है। जब मानव को राज्य से उसकी आकाक्षा की पूर्ति नही होती तो वह निराश होता है और एक कवि के शब्दो मे उसके मुह से निकलने लगता है—

"उलफत के सिले मे, सरकार से अपनी
एक दर्द मिला दिल में, और दाग जिगर मे ॥"

वास्तविकता यह है कि आधुनिक समाजवाद का कोई स्वरूप निश्चित नही है। एक विद्वान ने लिखा था कि समाजवाद एक ऐसी टोपी है कि जो किसी के भी सर मे फीट हो सकती है। कहा जाता है कि साम्यवादी देशो मे भी समाजवाद का स्वरूप पृथक-पृथक् है। रूस तथा चीन के समाजवाद मे ही अतर है। एक बात निश्चित है कि समाजवादी विचारधारा ने मानव के मन मे आर्थिक स्वतत्रता की भूख जगा दी है, किन्तु यह विचारधारा एकागी होने से मानव के मन मे "असन्तोष" की आग भडका देती है। वह केवल अपने जीवन यापन के स्तर (Standard of life) वृद्धि की दिशा मे ही सोचता है, अधिकार की भाषा उसके मुह पर होती है, कर्तव्य का पक्ष उसके मस्तिष्क मे नही आता, परिणाम यह होता है कि प्रत्येक बुराई का दायित्व वह राज्य पर होना करार देकर राज्य के प्रति विद्रोही भावना को वढाता है। हमारी भारतीय विचारधारा मे भी राजा को असन्तुष्ट होना आवश्यक माना जाता था जैसा कि कहा गया है—

**असन्तुष्टा द्विजा नष्टा., सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टाः, निर्लज्जा च कुलांगना ॥**

किन्तु प्रजा के मन मे असन्तोष जागे तो चूकि वह राज्याश्रित अधिक है उसका क्रोध राज्य पर ही होता है। दूसरी बात जो मानव के मन मे घर कर जाती है वह 'वर्ग-विद्वेष' है। मानव की विचार-सरणि चूकि एकागी होती हैं इस कारण वह "**अर्थस्य पुरुषोदास**" हो जाता है तथा उसके अभाव की जिम्मेदारी राज्य के साथ एक विशेष वर्ग पर डाल अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट है कि आधुनिक समाजवादी विचारधारा का जब तक भारतीयकरण न हो, तब तक प्रजातत्र मे स्वय के कर्तव्य की भावना जागृत नही हो सकती और न राज्य के प्रति स्वय के कर्तव्य का भान उसे हो सकेगा। अधिक सत्य यह है कि राजनीति के पास मानव की समस्याओ का समाधान नही है, चाहे कोई वाद हो, वह समस्या सुलझा नही सकेगा। समाजवाद, सर्वोदय तब ही सफल हो सकेंगे जब कि उसमे मानव के हृदय को परिवर्तन करने की शक्ति हो। और उसका लक्ष्य मानव को आदर्श नागरिक बनाना हो। आज की विश्व-समस्याओ का समाधान तब हो सकेगा जबकि मानव सनातन मूल्यो की पुन प्रतिष्ठा कर सकेगा। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासविद् तथा विश्व सस्कृति के अध्येता डा० टायनबी का नव-प्रकाशित पुस्तक मे निष्कर्ष निकाला गया है। जैन धर्म मे समाज-परक व्यवस्था तथा समाजवादिता के जो विचार कण फैले पड़े हैं उनके अनुसार मानव, सनातन मूल्यो का पुन स्थापन करे तब ही मानव का कल्याण हो सकता है। मानव का विकास सर्वांगीण होना चाहिये यही जैन धर्म मे निहित विचार-कणो का सार है और यही जैन धर्म मे निहित समाजवाद का स्वरूप है। ●



महावीर, कार्लमार्क्स और गांधी की युगीन-स्थितियो के परिप्रेक्ष्य में

जैनधर्म का अपरिग्रह व्रत और समाजवाद

—डॉ० जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल
एम ए पी-एच. डी
प्राध्यापक
बी. आर. कालेज, आगरा

ससार के समस्त विपयो के राग तथा ममता का परित्याग कर देना अपरिग्रह कहलाता है। परिग्रह शब्द परि उपसर्ग पूर्वक 'गह' धातु से अप्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है ग्रहण, अत सग्रह और सग्रहण-वृत्ति को परिग्रह कहा गया है। शब्द कोशो मे भी परिग्रह शब्द का अर्थ आदान एव स्वीकार है।

अहिंसा और अपरिग्रह जैन-दर्शन के मूल भूत सिद्धान्त रहे हैं। जैन सूत्र मे आसक्ति को परिग्रह नाम दिया हे—

'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'

यह ग्रहण या आसक्ति ही अनन्त इच्छाओ का कारण है और इच्छा या तृष्णा ससार का हेतु है। इसीलिए सन्त पुरुप विरक्त होकर सम्पत्तियो को त्याग देते हैं। इसमे आश्चर्य ही क्या है—

विरज्य सपद ' सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्‌भुतम्।
मा वमीत किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्॥
—आत्मानुशासन, गुणभद्राचार्य

जिमप्रकार घृणा होने पर सुभक्त भोजन को वमित कर दिया जाता है, उसीप्रकार विरक्ति होने पर सन्त जन सम्पत्तियो का त्याग कर देते हैं। यही कारण है कि अवतारी पुरुपो और मुनियो ने परिग्रह-त्याग पर विशेप वल दिया है और 'अपरिग्रह' नाम से एक व्रत का विधान किया है। आचार्य पद्मनदि ने भी अपरिग्रह की महिमा वतलाते हुए परिग्रहवान् के कल्याण की सभावना को अग्नि मे शैत्य की उपलब्धि के तुल्य वतलाया है—

परिग्रहवता शिव यदि तदानल. शीतलो।

जैन धर्म मे अपरिग्रह को पचव्रतो मे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का

पालन अणु रूप मे है और सन्यस्त व्यक्ति इसका पूर्ण त्याग कर देता है। सग्रहण के विना गार्हस्थ्य जीवन सचालित भी नही होता, अत गृहस्थ के लिए सग्रह की मर्यादा का विधान है, जो स्वय उसकी इच्छा पर निर्भर है। जैनशास्त्रो मे प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते समय इस पाठ का चिन्तन आवश्यक वतलाया है—

धणधन्नप्पमाणाइक्कमे, खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्प-माणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

'धन-धान्य, क्षेत्र-भवनादि, सोना, चादी, दास-दासी, घोडा-हाथी आदि पशु तथा सोना-चादी के अतिरिक्त अन्य धातु के सग्रहण का जो मैंने नियम किया है, उससे अधिक यदि सग्रह किया हो तो मैं भूल के लिए पश्चात्ताप करता हू।'

पच अणुव्रतो की वृद्धि के लिए गृहस्थ दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड नामक तीन गुणव्रत भी धारण करता है। दिग्व्रत मे जीवन मे, जीवन भर के लिए और देशव्रत मे कुछ काल के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। गृहस्थ का पुत्र, स्त्री और धन-सम्पदा से निरन्तर सम्पर्क रहता है। इस कारण उसकी तृष्णा मे वृद्धि होना सम्भव है। ये दोनो व्रत उसी तृष्णा को कम करने या सीमित रखने के लिए स्वीकार किए जाते हैं। प्रथम व्रत के अनुसार वह अपने व्यापार आदि प्रयोजन की सिद्धि का क्षेत्र निश्चित करता है। ममय-समय पर यथा नियम दूसरे व्रत को स्वीकार करते समय वह अपने इस क्षेत्र को और भी सीमित करता है और इस प्रकार अपना तृष्णा पर उत्तरोत्तर नियन्त्रण स्थापित करता जाता है। इतना ही नही, वह आजीविका मे और अपने आचार व्यवहार मे उन्ही साधनो का उपयोग करता है, जिनसे दूसरे प्राणियो को किसी प्रकार की वाधा नही होने पाती। यही अनर्थदण्डव्रत है। तीन गुणव्रतो के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत भी पच अणुव्रतो के पालन मे सहायता प्रदान करते हैं।

अपरिग्रह से समाजवाद

इसप्रकार जैनधर्म मे गृहस्थ के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का उपदेश दिया गया है। गृहस्थ को सभी पदार्थों का सग्रहण करने मे मर्यादा रखनी चाहिए। मर्यादा से वह जो कुछ त्याग कर देता है वह सव समाजहित ही है। समाजवाद आधुनिक शव्द है। यह प्राचीन धर्मशास्त्रो मे उपलव्ध नही होता। इसका अर्थ है समाज के प्रत्येक सदस्यो के हित का रक्षण। समाज की विपमता को दूर करने के लिए आधुनिक विचारको ने नमाजवाद का प्रवर्तन किया किन्तु यह अपरिग्रहवाद से भिन्न नही है।

कार्लमार्क्स का समाजवाद

ममाजवादी विचार धारा का मूल हमे कार्लमार्क्स के साम्यवाद मे प्राप्त होता है। मार्क्स ने साम्राज्यवाद एव उसमे आर्थिक विपमता की वडी निन्दा की है। उसने श्रम को महत्व देते हुए साम्य के आधार पर शासन-व्यवस्था के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। मार्क्स का यह साम्य सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, विशेपकर साम्राज्यशाही से पीडित लोगो मे। भारतीय नेताओ ने अग्रेजी शासन की घोर विपमता से पीडित होकर कार्लमार्क्स की विचारधारा को हृदयगम करने का प्रयास किया। उन्होंने इसे भारतीय सस्कृति के अनुरूप प्रजातत्रीय रूप प्रदान किया। भारतीय सविधान मे भी समाजवादी आदर्श को अपनाया गया। सविधान के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि 'भारतीय गणतन्त्र में सभी नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मिलेगा, विचार, भाषण, विश्वास, मान्यता और पूजा का स्वातन्त्र्य होगा तथा सवको उन्नति का समानरूप मे अवसर होगा और

सवको समान समझा जाएगा।' समाजवाद, सर्वोदयवाद और साम्यवाद इनके मूल मे निहित जो सिद्धान्त है, उनका परिपालन अपरिग्रह व्रत से ही सम्भव है।

गाधी जी के विचार

गाँधीजी पर जैन दर्शन का गहरा प्रभाव था। उन्होने अपरिग्रह के सिद्धान्त को व्यवहार रूप मे अपने जीवन मे उतारा था। परिग्रह एक ऐसी बला है कि उससे छूटना आसान नही है। गाधीजी कहते थे—'हमारा शरीर भी (आत्मदृष्टि से) एक तरह का परिग्रह ही है। सस्कृत भाषा मे परिग्रह शब्द का पयोग पत्नी के अर्थ मे अनेक स्थलो पर मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तल मे राजा दुष्यन्त पत्नी को परिग्रह कहता है। पतजलि ने अपने योगदर्शन मे अष्टाग योग साधना का एक अग अपरिग्रह माना है। योगदर्शन मे अपरिग्रह को क्यो स्थान दिया, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। परिग्रह आत्मोन्नति मे वाधक है, आत्मसाक्षात्कार मे एक अवरोध है।

गाधीजी ने जव अपरिग्रह को अपने आश्रम के व्रतो मे स्थान दिया तव हमे समझाया कि 'हम किसी भी वस्तु के स्वामी नही हैं, स्वामी समाज है। समाज की अनुमति से ही हम वस्तुओ का उपयोग कर सकते है। जो लोग मुझे दान देते है, उसका मैं स्वामी नही वनता, मैं तो केवल ट्रस्टी वनता हू। दान लोग देते है मुझे, लेकिन लेता हू मैं आश्रम के नाम से। हमारा आश्रम समाज का ही प्रतिनिधि है। किसी भी सम्पत्ति के या साधनो के हम स्वामी न वन वैठे तो अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ। समाज के लिए, समाज की सेवा के लिए सारी निधि है। हम उसके केवल ट्रस्टी (निधिप) है। इतना समझने से हमारे अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ।

अपरिग्रह की जन-जीवन मे जितनी आवश्यकता आज है, उतनी शायद पहले कभी न रही होगी। अपरिग्रह का अर्थ है अनासक्ति अथवा इच्छाओ का सीमाकरण। आज के जन-जीवन में परिग्रह का जो ताण्डव नृत्य हो रहा है, उसने मानवता की जडो को हिला दिया है। आज की विषम परिस्थितियो मे कही भी सघर्ष का अन्त नही दिखाई पडता है।

अपरिग्रह और समाजवाद

आज तक अपरिग्रह व्रत का विवेचन व्यक्तिगत मोक्ष की दृष्टि से ही किया गया है, किन्तु आधुनिक काल मे हमारी सारी भूमिका ही वदल गयी है। हम समस्त मानव-जाति को अपने साथ एक रूप मानने जा रहे हैं। मुक्ति व्यक्तिगत नही, किन्तु सामुदायिक मुक्ति का आदर्श स्वीकार कर हमने सूत्र चलाया है—'मुक्ति याने सर्वमुक्ति।' काकाकालेलकर ने लिखा है—'व्यक्तिगत मुक्ति के उपासको ने अपरिग्रह व्रत चलाकर सारा परिग्रह समाज के हाथ मे सौप दिया और अपने को ट्रस्टी याने 'निधिप' वना दिया। उनका रास्ता आसान था। अव जव हम समस्त मानव-जाति को आस्ते-आस्ते क्रमश एक हृदय, एक प्राण, एक समाज वनाने आदर्श मान्य करते हैं तो क्या हम सारे समाज को, समस्त मानव-जाति को अपरिग्रह व्रत की दीक्षा दे सकते है? किस अर्थ मे? सो भी सोचना चाहिए।

इसकेलिए हमे सारे जगत् मे सर्वमान्य हुआ भौतिक प्रगति का आदर्श छोड देना पडेगा और और दैवीसस्कृति के अनुसार कितना परिग्रह जरूरी है, सो भी तय करना पडेगा और उस सारी नयी समाज-व्यवस्था के स्वरूप को सोचकर वह आदर्श समाज के सामने रखना होगा। व्यक्तिगत मोक्ष की साधना आसान थी। सर्वमुक्ति की साधना विशाल होगी, अत्यन्त सात्त्विक होगी। 'साम्यवाद' से कही अधिक तेजस्वी होगी। उसका चिन्तन और आवाहन करने के दिन आये हैं।

गाधीजी ने 'अपरिग्रह' के द्वारा सर्वमुक्ति की साधना की थी और वे इसमे सफल भी रहे।

महावीर स्वामी के उपदेश

वर्द्धमान की प्रारम्भ से ही वैराग्यपूर्ण चित्तवृत्ति थी और उन्हे उसके अनुरूप वातावरण भी मिला। वर्द्धमान ने प चमहाव्रत धारण किये और उनका कठोरता से पालन किया। आचाराग सूत्र के अनुसार प्रव्रज्या के समय अपरिग्रह के सम्बन्ध मे उन्होने प्रतिज्ञा की 'मै पाचवे महाव्रत मे सर्वप्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हू। मैं अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त, किसी भी परिग्रह को ग्रहण नही करूँगा, न ग्रहण कराऊँगा, न परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करूँगा। उस पाप से निवृत्त होता हू। उसकी निन्दा करता हू, गर्हा करता हू और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे अलग हटाता हू।'

अपरिग्रहवाद एक ऐसा सुनिश्चित एव विचारपूर्ण सिद्धान्त है कि उसके बिना हम अपने को उन्नत नही बना सकते। उत्तराध्ययन सूत्र मे लिखा है—

> कसिण पि जो इम लोय, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
> तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥
>
> —उत्तराध्ययन ८।१६

यदि धनधान्य से परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी सतोष होने का नही। लोभी आत्मा की तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है।'

'धन, धान्य और घर-सामान-स्थावर और जगम कोई भी सम्पत्ति कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को दुःख से मुक्त करने मे समर्थ नही है।' (उत्तराध्ययन सूत्र ५।६) जब तक मनुष्य सचित्त या अचित्त पदार्थों मे परिग्रह (आसक्ति) रखता है या जो ऐसा करते हैं उनका अनुमोदन करता है, तब तक वह दुःख से मुक्त नही हो सकता। (सू० १, १।१ २)

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न इस लोक मे अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक मे (उत्तराध्यन ४।५ । इस प्रकार महावीर स्वामी ने अपरिग्रह का अनेकविधि उपदेश दिया।

निष्कर्ष यह है कि परिग्रह का परिमाण करके सतोषवृत्ति बढाना ही श्रेयस्कर है। ममत्व तथा आसक्ति को दूर करके ही सतोष वृत्ति को बढाया जा सकता। मूर्च्छा जड-चेतन पदार्थों पर होती है। अत उपचार से पदार्थों को भी परिग्रह कहा गया है। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर (इन्ही के आधार पर दो प्रकार के परिग्रह माने गए हैं। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है—१—क्षेत्र, २—वास्तु, ३—हिरण्य, ४ सुवर्ण, ५—धन, ६—धान्य, ७—द्विपद, ८—चतुष्पद, ९—कुप्य।

आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद हैं—१—हास्य-हँसना, २—रति—असयम मे अनुराग, ३—अरति-सयम मे उदासीनता, ४—भय-भयानक वस्तुओ को देखकर डरना, ५—शोक-इष्ट के वियोग मे दुःखी होना, ६ जुगुप्सा-अरुचिकर वस्तु पर घृणा, ७—क्रोध-गुस्सा, ८—मान-अहकार, ९—माया-छल-कपट, १०—लोभ-भौतिक पदार्थों मे आसक्ति, ११—स्त्री वेद-पुरुष के साथ सगम करने की इच्छा, १२—पुरुष वेद-स्त्री-सगम की इच्छा, १३—नपुसक वेद-दोनो के साथ सगम की इच्छा १४—मिथ्यात्व-विपरीत श्रद्धान्।[1]

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ८३१



श्रावक को इन सब परिग्रहो का कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना चाहिए, मिथ्यात्व रूप आभ्यन्तर परिग्रह का तो सर्वथा त्याग करना चाहिए, शेष को यथासभव छोडने का प्रयास करना चाहिए।

अपरिग्रह के मूल मे जो भावना है, वह स्पष्ट रूप मे आसक्ति का निरसन है। मूर्छा परिग्रह को छोडना है। यह मूर्च्छा परिग्रह व्यक्ति की साधना मे बाधक है ही, साथ ही समाज की उन्नति मे भी वैपम्य एव सघर्ष के साथ ही अशान्ति उत्पन्न करने वाला है। ससार मे वस्तुएँ सीमित है किन्तु मनुष्य की तृष्णा अनन्त है। एक-एक वस्तु पर अनेक व्यक्ति ममत्व बनाए बैठे हैं जब तक यह ममत्व सीमित नही होता, सघर्प चलता ही रहेगा, वैपम्य बढता ही रहेगा। आज जिस समाजवाद की स्थापना का प्रचार किया जाता है, वह कोई नूतन विचारधारा नही है। जैनदर्शन मे इसका अत्यन्त सूक्ष्म एव विशद विवेचन हुआ है। और मुनियो एव श्रावको दोनो के द्वारा इसे व्यवहार मे लाने का प्रयास भी किया जाता रहा। आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का त्याग करने से समाज के अन्य सदस्य भी उनका उपयोग कर सकते हैं। यही भावना समाजवाद मे अन्तर्हित है। परिग्रही व्यक्ति लोभी होता है तो अपरिग्रही मर्यादित एव परोपकारी।

महावीर स्वामी ने अपने जीवन मे अपरिग्रह महाव्रत को धारण करके मानव मात्र को मुक्ति का मार्ग दिखाया। आज भी उनका अपरिग्रहवाद इस देश मे समाजवाद लाने मे पूर्णरूपेण समर्थ है। क्यो न हम अपरिग्रहवाद को अपनाकर अपने आपको और दूसरो को भी सुखी बनावे?

'मधुकर' मधुकर बन अरे! कटक तज मधु गेह!
कटुक खाद से मधुर-रस सीख ईख तें लेह!
'मधुकर' जीवन से सदा ग्रहो प्रेम अर नेह
मक्खी की ज्यो गदगी, लेना तू तज देह!

—श्री मधुकर मुनि

समाजवाद : जैनदृष्टि में

—गजेन्द्रकुमार जैन साहित्यरत्न

भारतीय संसद ने समाजवादी समाज की रचना का ध्येय अंगीकार किया है और उद्योग व्यापार के निजी क्षेत्र के साथ-साथ राजकीय क्षेत्र के विकास हेतु किये जा रहे प्रयास उसी दिशा में इंगित करते हैं। पहले जीवन बीमा का और बाद में बैंकों, सामान्य बीमा संस्थानों तथा कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, उत्पादन के प्रमुख साधन भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जा चुकी है और शहरी सम्पत्ति के संभावित सीमा-निर्धारण की गूंज हवा में सुनाई पड़ रही है। सम्पत्ति के अर्जन व संग्रह पर आयकर, व्ययकर, उपहारकर व सम्पत्तिकर के रूप में राज्य के नियन्त्रण लागू हो चुके हैं और अब यह निर्विवाद कहा व समझा जा सकता है कि देश के जनगण का अभियान व्यावहारिक रूप से समाजवाद की ही दिशा में गतिशील है।

यह देश और इसकी सभ्यता संस्कृति यदि अतीत में गौरवशाली रही तो उसका कारण इस देश की भौतिक समृद्धि तो थी ही, अधिक महत्वपूर्ण नैतिक मानदंड व आध्यात्मिक उच्चता थी, जिसके कारण तब भी एक सत्तासीन व ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का जितना आदर था, उससे ज्यादा सम्मान कंचन-कामिनी के त्यागी विचारक व सन्त को प्राप्त था। इस देश में पनपे सभी धर्मों में जीवन का लक्ष्य भौतिकता को क्रमशः न्यूनातिन्यून करते जाना था और इसलिए "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" की उक्ति बनी थी। लेकिन क्या हम इस देश का दुर्भाग्य व सभी धर्मों की असफलता न कहें कि व्यक्ति के जीवन में धर्म का व्यापक प्रभाव होने के उपरान्त भी समाज में भौतिक विषमता का चरम रूप ही हमें देखने को मिला। वस्तुतः व्यक्ति की धार्मिक आस्था पर यह करारा व्यंग ही रहा कि जिस धर्म का एक अनुयायी बिना पसीना बहाये महलों में छप्पन भोग भोगता रहा, उसी का दूसरा अनुयायी तन-तोड़ श्रम के बावजूद अपने पेट का गड्ढा कभी पूरा न भर पाया और अपने बच्चों के लिए दूध का प्याला भी समय पर न जुटा सका। यह सब हुआ धर्म के घण्टा-निनादों के नीचे, धर्म के व्याख्याताओं की आंखों के सामने और इस प्रकार धर्म के शाश्वत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि या तो शास्त्रों की पृष्ठों में दुबके रह गये या पूजापाठ, क्रियाकाण्ड, सामायिक, प्रतिक्रमण में दोहराने मात्र के लिए बने रहे।

आज जब हम इन विसगतियो का कारण खोजते है तो लगता है कि धर्म को हमने भौतिकता के क्षेत्र से बाहर देखा और उसे मात्र व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन का ही विषय माना, और कभी उसको व्यावहारिक जीवन मे उतारने की आवश्यकता जताई भी तो उसका भार भी व्यक्ति की सदाशयता पर ही छोड दिया, जबकि व्यक्ति आध्यात्मिक भावना को दिनचर्या का चौबीसवा भाग ही मानता रहा और स्वभावत ही जीवन की सफलता के लिए वह भौतिक उपलब्धियो से ज्यादा प्रभावित रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऊँचा तो उसने आध्यात्मिकता को समझा, पर कार्य उसने भौतिकता के लिए किया, फलत इन शाश्वत तत्वो का व्यावहारिकता से कभी सामजस्य ही नही बैठ पाया। इसलिए हमारे समाज का जो गठन लहरो के फैलते वृत्तो के समान परस्पर सबधित भी व स्वतत्र ईकाई के रूप मे भी होना चाहिए था, वह वैसा न होकर पिरामिड का स्वरूप ले बैठा, जिसमे एक को नीव मे दबाकर ही ऊपर की मजिल बनती और बढती है। इससे समाज मे कई स्तरो का निर्माण हो गया और दमन व शोषण पर ही सबका अस्तित्व अटक रह गया। यो भी कहा जा सकता है कि हमारा चिन्तन तो आदर्शोन्मुख रहा पर अपने सामाजिक आचार मे हम उसकी झलक न ला सके और हजारो वर्षो के तीर्थंकरो व धर्माचार्यों के उपदेशो से भी वह सिद्धि अहिंसक प्रणाली से प्राप्त न कर सके, जो कार्लमार्क्स के कथनानुसार थोडे वर्षो के हिंसक सग्राम से विश्व के पाचवे भाग मे प्राप्त कर ली गई। स्पष्ट ही यह स्थिति हमारी अहिंसा व अपरिग्रह की एकागिता व व्यवहार-शून्यता के प्रति एक चुनौती थी और आज भी सर्वहारा तानाशाही की नीव पर उठनेवाला साम्यवाद प्रतियोगिता मे हमारे सामने खम ठोक कर खडा ही है कि आगे भी हम अपने व्यवहार पक्ष को इतना ही अशक्त रख कर चलें तो उसका मुकाबला नही किया जा सकेगा।

आर्थिक प्रणाली मे समाजवाद का जो नारा शासन के माध्यम से भारत मे अब बुलन्द हुआ है, यथार्थ ही वह पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति व सोवियत-व्यवस्था से अनुप्राणित है, पर भारतीय धर्मों व दर्शन ग्रन्थो मे भी समाजवाद के प्रेरक उनके सूत्र व प्रसग जब उपलब्ध हैं तो उससे बिदकने की आवश्यकता क्या है ?

एक जैन सूत्र वाक्य है—**"असविभागी न हु तस्स मोक्खो"**—अर्थात्, सम-विभाजन न करने वालो को मोक्ष नही मिलता। सम-विभाजन को इतना महत्वपूर्ण माना गया कि इसी सैद्धान्तिक भित्ति पर जैन गृहस्थो की आचरण-सहिता का निर्माण पाच अणुव्रतो के रूप मे किया गया। इनमे पाचवें इच्छा परिमाण व्रत को हम सर्वाधिक आवश्यक मानते हैं। अन्य चार व्रत जहाँ वैयक्तिक पालन से भी सिद्ध किए जा सकते हैं वहाँ यह व्रत तो सामुदायिक जीवन से ही सम्बन्धित है, क्योकि उसका क्षेत्र जीवन-निर्वाह तक जाता है और सामान्यत व्यक्ति के सभी कार्य जीवन-निर्वाह के लिये ही होते हैं।

जीवन-निर्वाह का प्रमुख उपादान सम्पत्ति होती है और सम्पत्ति अर्थात् परिग्रह का केन्द्रीकरण एक गिल्टी के समान प्रभाव पैदा करता है। जैसे शरीर के किसी भाग मे गिल्टी-गाठ हो जाने से सारे ही शरीर के विषग्रस्त हो जाने का डर होता है, वैसे ही सम्पत्ति भी जब समाज मे समान प्रवाहित न होकर कुछ व्यक्तियो के हाथो मे ही एकत्र हो जाती है तो समाज का वह गिल्टीवाला भाग तो विषैला बनता ही है, अन्य भाग भी कमजोर होकर पूरे शरीर की क्षीणता के कारण बन जाते है। जैन मनीषियो ने उल्लिखित परिग्रह परिमाण व्रत का प्रावधान इसी गिल्टी बनने की आशका का बचाव करने हेतु किया

था, ऐमा कहा जा सकता है। यहा जैन प्रतिक्रमण मूत्र मे वर्णित पाचवें अणुव्रत के पाठ का सवद्ध अश एक वार पढे तो प्रासगिक होगा—

"पाचवा अणुव्रत थुलाओ परिग्गहाओ वेरमण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तजहा—ते आलोउ-धणधन्नप्पमाणाइकम्मे, खेत्तवत्थुप्पमाणाइकम्मे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइकम्मे, दुपयच-उप्पयप्पमाणाइकम्मे, कुवियप्पमाणाइकम्मे। जो मे देवसियो अइआरो कओ तस्स मिच्छामिदुक्कड।" अर्थात्—"पाचवे स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के पाच अतिचार-दोप हैं। वे जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नही। वे इम प्रकार हैं— १. धन और धान्य के परिमाण मर्यादा का उल्लघन २ खेत और घर भवन आदि की मर्यादा का उल्लघन ३ सोने और चादी के परिमाण का उल्लघन ४. नियत नौकर, नौकरानी आदि तथा चतुप्पद गाय, घोडा, पशु आदि की मर्यादा का उल्लघन ५ गृह-मवधी अन्य वस्तुओ के परिमाण का उल्लघन। जो मैने आज के दिन इनमे मे कोई अतिचार दोप किया हो तो मेरे वे दुष्कृत्य मिथ्या निष्फल हो।" (देखिये, सेठिया जैन ग्रथ माला वीकानेर से प्रकाशित पुष्प न० ३६–प्रतिक्रमण सूत्र–पचमावृत्ति वि० स० १९९१)

आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुमार सम्पत्ति मे उत्पादन के सभी साधनो का समावेश किया जाता है और परिग्रह मे जिन मर्यादाओ का उल्लेख ऊपर आया है उनमे भी सभी साधनो को शामिल किया गया है। इस समानता के साथ ही जव हम आज के शामन द्वारा भूमि, आय, स्वर्ण व खाद्य पदार्थो पर लगे नियन्त्रणो का स्मरण करते हैं तो पाचवें अणुव्रत मे उन पर किये जानेवाले स्वैच्छिक नियन्त्रण का भी स्मरण आना सुखकर लगता है। क्या यह जैन चितको की भविष्यदर्शिता नही मानी जानी चाहिए कि उन्होंने जिन मर्यादाओ का निर्धारण किया था, वे युग-परिवर्तन की तुला पर भी ममान उपयोगी उतरी हैं अथवा क्या आज की विकट परिस्थितियो के समाधान मे जैन श्रावको की आचरण—सहिता के निर्देशो को अचूक मानकर हम गर्व का अनुभव नही कर सकते ?

साधन शुद्धि का ध्यान रखे विना अपना भण्डार भरपूर वनाने की प्रवृत्ति आज जव सामान्य हो गई है और उत्पादन के साधनो को वैज्ञानिकता का योगदान मिलने पर जव धनिक की धनाढ्यता व गरीव की गरीवी मे वृद्धि का दौर चल रहा है तव जैन श्रावको के सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि वे उक्त सिद्धान्तो को अपने जीवन मे कितना लागू कर पाते हैं। वर्तमान पर्यावरण मे परिग्रह-परिमाण का वास्तविक अर्थ है- अपनी ग्रहण-क्षमता की चरम सीमा पर पहुचने से पहले ही सामान्य-जन के जीवन स्तर को अनुभव कर उससे सगत लगनेवाली मर्यादा स्वेच्छा से अगीकार कर लेना और उससे अधिक अर्जन के स्रोतो को स्वयमेव वन्द करके रखना। इसके विपरीत आज देखा यह जा रहा है कि हम चरम महत्वाकाक्षी वनकर अपने भण्डार की ग्रहणशीलता को काल्पनिक रूप से विस्तृत कर लेते हैं, अपने आय-स्रोतो को पूरा-पूरा खुला रखते हैं और कभी-कभी दया व दान के नाम पर जो थोडा वहुत उलीचते हैं उसी को परिग्रह परिमाण व्रत की पूर्ति मान कर हर्ष अनुभव कर लेते हैं। वस्तुत यह परिग्रह परिमाण व्रत के नाम पर सस्ती पुण्येच्छा की तृप्ति का एक ओछा प्रयत्न होता है, जिससे समाज मे व्याप्त दीनता का पोषण होता है, उन्मूलन नही। यह प्रवृत्ति ढकोसला मात्र है और स्पप्ट ही पाचवे अणुव्रत की भावना से इसकी कोई मगति नही है।

परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादा के परिपालन सवधी एक और भी प्रश्न हमारे समाने आता है

कि तीर्थंकर—प्रणीत इस अर्थ-सहिता को स्वेच्छा से अपने जीवन मे लागू करनेवाले जैनो की सख्या कितनी रही है ? इतिहास इस विपय मे हमे कोई सतोष नही दे पाता और परम्परा व सस्कारो से जो मूल्याकन हम जैन धर्मावलम्वियो का करते हैं उससे भी निराशा ही हाथ आती है और हमे यही मानने पर विवश होना पडता है कि यदि ऐसे जैनो की सख्या रही भी होगी तो वह केवल अगुलियो पर ही गिनने योग्य होगी, जवकि भारतवर्प मे जैनो की सख्या कभी नगण्य नही रही और कई प्रदेशो मे जैन धर्मावलम्वी सम्राटो का शासन भी रहा । सहज ही इसका निप्कर्प यह निकलता है कि हमने इस सहिता का निर्माण करके उसके पालन का दायित्व केवल व्यक्ति की इच्छा पर ही छोड दिया, वजाय इसके कि हम तदर्थ एक सामाजिक विधि भी निर्धारित करते । इसी ढिलाई का परिणाम हुआ कि इन स्थायी जीवन मूल्यो की सदियो तक मिट्टीपलीद होती रही और इस युगान्तरकारी कार्यक्रम का भी कोई लाभ मानव समाज को नही मिल पाया । अव उसी कमी का परिमार्जन कर आज का लोकतन्त्रीय शासन जव सर्वजनहिताय सर्व जन-सुखाय इन्ही स्वर्ण-सिद्धान्तो को वैधानिक प्रक्रिया के सहारे लागू करने जा रहा है तो असामयिक चीख पुकार व खीझ कम से कम जैनो के लिए शोभास्पद नही कही जा सकती ? वस्तुत तो जैनो के लिए यह सतोष और हर्प का विपय होना चाहिए कि उनके सिद्धान्तो का आधार लेकर अव समाज-व्यवस्था रूपी ऐसा भवन उठाया जा रहा है जिसके स्तभ समता और वन्धुता के, अहिंसा और स्वाधीनता के है और जो विश्व के चिर-पीडित मानव को निश्चिन्तता प्रदान करने की आशा पूरी कर सकेगा ।

बुद्धिमान और पुरुषार्थी व्यक्ति लक्ष्मी को नही खोजता, किंतु लक्ष्मी स्वय उसे खोजती रहती है ।

लक्ष्मी से किसी ने पूछा—"तुम विद्वान से डाह करती हो और आलसी से दूर भागती हो तो फिर किसके पास रहती हो ?"

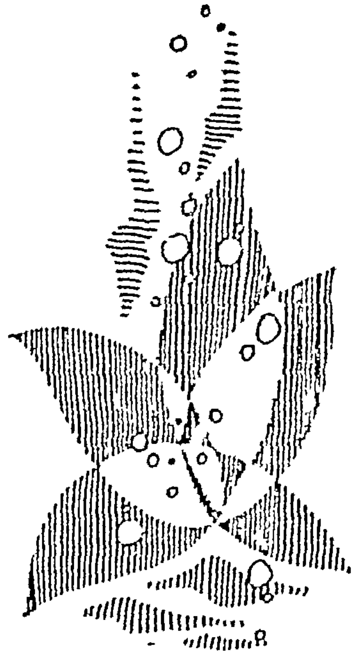
लक्ष्मी ने उत्तर दिया—"मैं विद्वान से नही, किन्तु अकेली विद्या से डाह करती हू । दो अकेली स्त्रियाँ साथ नही रह सकती, किन्तु एक पुरुष के साथ दो स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक साथ रह सकती है । मैं ऐसे पुरुप का वरण करती हू जो विद्वान भी हो और पुरुपार्थी भी ।"

—मधुकर मुनि (साधना के सूत्र २१३)

जैन-धर्म का प्राणतत्व

अहिंसा

—साध्वी श्री पुष्पावती 'साहित्यरत्न'



जैनदर्शन भारत का एक महान् दर्शन और धर्म है, यो तो विश्व के जितने भी दर्शन और धर्म है, उन सभी के अपने सिद्धान्त और आदर्श हैं, किन्तु उन सभी दर्शन और धर्मों से जैन दर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपनी अनूठी विशेषता रखते हैं, उसके सिद्धान्तो की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह अहिंसा-प्रधान है। उसकी विचारधारा हिमालय की तरह उन्नत है और सागर की तरह विराट है। जैनधर्म व दर्शन की हजार-हजार विशेषताए हैं, जिस पर हजारो पृष्ठो, मे लिखा जाय तब भी कम है, तथापि सक्षेप मे यहाँ उसके प्रमुख सिद्धात अहिंसा पर चिन्तन किया जा रहा है।

अहिंसा

अहिंसा जैन धर्म का प्राण तत्त्व है। विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा पर गहरा चिन्तन किया है, किन्तु अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विवेचन और गहन विश्लेषण जैन साहित्य मे उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नही है। जैनसस्कृति की प्रत्येक साधना मे अहिंसा की भावना परिव्याप्त है उसके प्रत्येक स्वर मे अहिंसा की मधुरध्वनि मुखरित है। जैनसस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसामूलक है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, शयन करना आदि सभी मे अहिंसा का नाद ध्वनित हो रहा है।[1] विचार में, उच्चार मे और आचार मे सर्वत्र अहिंसा की सुमधुर झकार है। भगवान् महावीर ने अहिंसा का उत्कर्ष बतलाते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा—जैसे जीवो का आधार स्थान पृथ्वी है, वैसे ही भूत, यानी ज्ञानियो के जीवन का आधार स्थान शान्ति-अहिंसा है।[2] अहिंसा जीवन का श्रेष्ठ सगीत है। जब यह सगीत जन-जन

---

१ जयं चरे जय चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बधइ ॥ —दशवैकालिक अ ४

२ जेय बुद्धा अतिक्कंता, जेय बुद्धा अणागया।
सति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ॥ —सूत्रकृताङ्ग १-११।१६

के मन मे झकृत होता है, तव मानव-मन आनन्द मे झूमने लगता है, यही कारण है कि सुदूर अतीत काल से ही साधक इसकी साधना और आराधना करते रहे है।

जैनागमो मे अहिंसा को भगवती कहा है।[3] यह दया का अक्षय-कोप है। दया के अभाव मे मानव, मानव न रहकर दानव हो जाता है। सुप्रसिद्ध विचारक इ गरसोल ने लिखा है, "जव दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आसुओ का फव्वारा सूख जाता है तव मानव रेगिस्तान की रेत मे रेंगते हुए साप के समान वन जाता है।"

जैन दर्शन मे अहिंसा के दो पक्ष हैं 'नही मरना' यह अहिंसा का एक पहलू है। मैत्री करुणा, दया और मेवा—यह उसका दूसरा पहलू है। यदि हम केवल अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही चिन्तन करें तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणीमात्र के साथ मैत्री सम्वन्ध रखना, उसकी सेवा-शुश्रूषा करना, उन्हे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना होगा। जैन आगम प्रश्नव्याकरण मे जहा अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिये गए हैं[४] वहा पर उसे दया, रक्षा, अभय आदि नामो से भी अभिहित किया है।[५]

अनुकम्पादान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप है, जो प्रवृत्ति-प्रधान है। यदि अहिंमा केवल निवृत्ति-परक ही होती तो जैनदर्शन के महान् आचार्य इस प्रकार का कथन कदापि नही करते। भापा शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा शब्द निषेध-वाचक है, इसलिए कितने ही व्यक्ति भ्रम मे फस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्ति परक है उसमे प्रवृत्ति जैसी कोई वस्तु नही है, पर गभीर चिन्तन के पश्चात् यह स्पष्ट हुए विना न रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू है। इसलिए निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनो मे अहिंसा समाई हुई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनो का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है, जहा एक मे प्रवृत्ति होती है वहा दूसरे मे निवृत्ति भी होती है, ये दोनो पहलू अहिंसा के साथ सलग्न है। जो केवल अहिंसा को निवृत्ति-प्रधान ही मानता है वह अहिंसा के मर्म को समझता नही है, वह अहिंसा की पूर्ण साधना नही कर सकता। जैन श्रमणाचार के उत्तर गुणो मे समिति और गुप्ति का विधान है। समिति प्रवृत्ति-परक है और गुप्ति निवृत्तिपरक है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा रूपी सिक्के के प्रवृत्ति और निवत्ति ये दो पहलू है। एक दूसरे के अभाव मे वह अपूर्ण है।

जैन दर्शन की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नही है, वह विध्यात्मक है। उसमे विश्ववन्धुत्व और परोपकार की भावना उछाले मार रही है। जैनधर्म की अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत रहा है उसका आदर्श जीओ और जीने दो तक ही सीमित नही है, किन्तु उसका आदर्श है दूसरो के जीने मे सहयोगी वनो, अवसर आने पर दूसरो के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणो को भी न्योच्छावर कर दो।

अहिंसा एक महासरिता के समान है। जव वह साधक जीवन मे इठलाती वलखाती हुई चलती है तव साधक का जीवन सरसव्ज और रमणीय वन जाता है। अहिंसा का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित करते हुए महावीर ने कहा—सर्वप्राणो, सर्वभूतो, सर्वजीवो और सर्वसत्वो, को नही मारना चाहिए न पीडित करना

---

३ एसा सा भगवती। —प्रश्नव्याकरण सूत्र
४ प्रश्नव्याकरण सूत्र (सवर द्वार)
५ दया देहि-रक्षा —प्रश्नव्याकरण वृत्ति



चाहिए, और न उनको मारने की वुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए । यही धर्म शुद्ध शाश्वत व नियत है ।[६] प्राणी-मात्र के प्रति सयम भाव रखना अहिसा है ।[७] किसी प्राणी को न सताना और न दुर्भाव रखना यह अहिसा का मूलभूत सिद्धान्त है । इसी मे विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है ।[८] हिंसा के गहनतम अधकार को नष्ट करने के लिए अहिसा के महादीपक की आवश्यकता है ।

अहिंसा का मूल आधार समत्वयोग है । समत्त्वयोग आत्म-साम्य की दृष्टि प्रदान करता है । जिसका तात्पर्य हैं कि विश्व की सभी आत्माओ को समदृष्टि से निहारना । सभी आत्माओ के प्रति अपने-पराये का भेद न रखकर सव के साथ समतामूलक व्यवहार—यह समत्त्वयोग की सवसे महान् साधना है । समत्वयोग की साधना पर वल देते हुए लिखा है 'सव आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझो । अन्य प्राणियो की आत्मा मे अपने आपको देखो, और ससार की समस्त आत्माओ को अपने भीतर देखो ।[९] तात्त्विक दृष्टि से सभी आत्माए एक सदृश है । सभी मे एक ही चेतना जगमगा रही है । सुख और दु ख की अनुभूति सवके समान होती है और जीवन-मरण की प्रतीति भी । सभी जीना चाहते हैं मरना कोई नही चाहता ।सभी को अपना जीवन प्यारा है ।[१०] गीता मे कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने इस समत्व-योग की साधना करनेवाले को परम योगी कहा है—'जो सभी जीवो को अपने समान समझता है और उनके सुख दु ख को अपना सुख दु ख समझता है वही परम योगी है ।[११]

भगवान् महावीर ने कहा—छह जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो ।[१२] प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो ।[१३] हे मानव ! जिसको तू मारने की भावना रखता है जरा चिन्तन कर, वह तेरे जैसा ही सुख-दु ख का अनुभव करनेवाला प्राणी है । जिस पर तू अधिकार जमाने की आकाक्षा करता है वह तेरे समान ही एक चेतन है । जिसे तू दु ख देने की सोचता है वह तेरे जैसा ही प्राणी है । जिसको तू अपने वश मे करने की इच्छा करता है वह तेरे जैसा ही एक जीव है । जिसका प्राण तू लेने की भावना रखता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है ।[१४]

जैन धर्म मे अहिसा की एक अविच्छिन्न धारा होते हुए भी साधु-अहिसा और गृहस्थ-अहिसा के भेद से उसके दो विभाग कर दिये हैं । साधु की अहिसा को महाव्रत कहा है । उत्तराध्ययन मे अहिसा

६ सव्वेपाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हतव्वा न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा न उवद्दवेयव्वा एसधम्मे सुद्धे नियए सासए समेच्च लोय खेयन्नेहिं पवेइए । —आचाराग
७ अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु सजमो । —दशवैकालिक
८ सूत्रकृताङ्ग १।१।४।१०
९ सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइं पासओ । —दशवैकालिक सूत्र ४।७
१० सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला । अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा । सव्वेसिं जीविय पिय । —आचाराग सूत्र १।२।३
११ आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दु.ख स योगी परमो मत ॥ —गीता अ ६ श्लो० ३२
१२ अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए । —दशवैकालिक १०।५
१३ आयतुले पयासु । —सूत्रकृताङ्ग १।१०।३
१४ आचाराग सूत्र १-५।५

महाव्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—मन, वचन, काय तथा कृत-कारित और अनुमोदन से किसी भी परिस्थिति मे त्रस स्थावर जीवो को दु खित न करना अहिंसा महाव्रत है।[१५] अहिसाव्रती साधु के लिए आवश्यक है कि अपना जो अहित करे उसके प्रति भी क्षमाभाव रखे। उसे अभयदान दे। सदा विश्वमैत्री व विश्वकल्याण की भावना रखे तथा वध करने के लिए तत्पर होने पर भी उसके प्रति जरा भी क्रोध न करे।[१६] इस प्रकार अहिंसा का पालन करना दुष्कर है।[१७] अहिंसाव्रती साधु को ऐसा कोई भी क्रिया या मानसिक सकल्प न करना चाहिए जो दूसरो के लिए दु ख का हेतु हो।

परन्तु गृहस्थो की अहिंसा मे कुछ मर्यादाए है। उनके लिए देश अहिसा के पालन का उपदेश है। वे गृहस्थाश्रम मे रहकर पूर्ण हिंसा का त्याग नही कर सकते। उन्हे अपने परिवार की, अपनी जाति की, अपने देश की, अपनी सम्पत्ति की, और स्वय अपनी भी रक्षा करने के लिए एव अपने जीवन निर्वाह के लिए आरम्भादि कार्य करने पडते हैं। तात्पय यह है कि जब गृहस्थ हिंसा को छोडने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह समस्त हिंसा को चार भागो मे विभक्त कर लेता है। वे चार भाग इस प्रकार है—

(१) **साकल्पिकी**—सकल्प-पूर्वक होनेवाली हिंसा
(२) **आरम्भी**—भोजनादि बनाने मे होनेवाली हिंसा
(३) **उद्योगी**—कृषि आदि से उत्पन्न होनेवाली हिंसा
(४) **विरोधी**—आत्म-रक्षा के निमित्त से होनेवाली हिंसा

इन चार प्रकार की हिसाओ मे सकल्पपूर्वक की जानेवाली हिंसा का गृहस्थ द्रव्य और भाव दोनो तरह से त्याग करता है, अन्य तीन का त्याग वह भाव से करता है, क्योकि द्रव्य से हिसा होने पर भी उसका भाव हिंसा की ओर नही रहता है, किन्तु आत्म-पोषण और आत्म-रक्षण की ओर रहता है। इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे अहिसा का प्रयोग एव उपयोग अव्यवहार्य नही है। यह तो उपभोक्ता और प्रयोक्ता के मनोभावो पर निर्भर है। निष्कर्ष यह है कि गृहस्थाश्रम मे रहकर अहिंसा का पालन सम्यक्प्रकार से किया जा सकता है। इतिहास साक्षी है कि भगवान् महावीर के युग मे अहिसा अणुव्रत का पालन राजा से लेकर रक तक सभी करते थे।

कितने ही लोगो की भ्रान्त धारणा है कि अहिसा कायरता का प्रतीक है, वह देश को परतत्रता

---

१५ जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दड मणसा वयसा कायसा चेव॥ —उत्तरा० ८।१०

१६ पुव्वि च इहिं च अणागय च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ। —उत्तरा० १२।३२
(ख) महप्पसाया इसिणो हवति न हु मुणी कोवपरा हवति। —उत्तरा० १२।
(ग) हओ न सजले भिक्खू मण पि न पओसए। —उत्तरा० २।२६
(घ) मेत्ति भूएसु कप्पए। —उत्तरा० ६।२
(ड) हियनिस्सेसाए सव्वजीवाण। —उत्तरा० ८।३

१७ समया सव्वभूएसु सत्तु मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायाविरए जावज्जीवाए दुक्कर॥ —उत्तरा० १६।२६

की वेडियो मे जकडती है और कर्मक्षेत्र मे आगे वढने से रोकती है, पर उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि अहिसा कायरता नही,अपितु वीरता सिखाती है। अहिसा वीरो का धर्म है। अहिसा का यह वज्र आघोप है—मानव ! तू अपनी स्वार्थ-लिप्सा मे डूवकर दूसरे के अधिकार को न छीन। किसी भी देश या राष्ट्र के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न कर ! किसी भी समस्या का समाधान शान्तिपूर्वक कर ! इतने पर भी यदि समस्या का सम्यक् समाधान नही हो रहा है और देश, जाति, व धर्म की रक्षा करना अनिवार्य हो तो उस समय वीरता-परक कदम उठा सकते हो, किन्तु अहिसा के नाम पर कायर बनकर घर मे मुह छिपा कर वैठना उचित नही है, अपने प्राणो का मोह कर कायर मत वनो ! किन्तु समय पर अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करो, यदि उस समय तुमने कायरतापूर्ण व्यवहार किया तो वह अहिसा नही, आत्म-वचना है।

अहिसा यह कभी नही सिखाती कि अन्यायो को सहन किया जाय, क्योकि अन्याय करना अपने आप मे पाप है और अन्याय को कायर होकर सहन करना महापाप है, जिसमे अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नही है, वह अहिसा नाम मात्र की अहिसा है।

अन्याय का प्रतीकार हिंसक और अहिंसक दोनो रूप से किया जा सकता है। हिंसक प्रतिकार गृहस्थ वर्ग से सम्वन्धित है। वह समय पर देश, जाति व धर्म की रक्षा के लिए सव कुछ कर सकता है, क्योकि महावीर के श्रावक अनाक्रमण व्रत को ग्रहण करते थे, आत्म-रक्षा के लिए प्रत्याक्रमण के लिए वे खुले रहते थे, किन्तु श्रमण हिंसक प्रतिकार नही करता, वह समाज व राष्ट्र मे पनपनेवाले अन्यायो व अन्याचारो का प्रतीकार अहिंसात्मक ढग से करता है और यह अहिंसक प्रतिकार आत्म-वल से किया जाता है। साधक का जितना अधिक आत्मवल होगा उतनी ही उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी ! भगवान् महावीर, तथागत वुद्ध, ईसा और गाधी आदि अहिंसक प्रतिकार के उदाहरण है। उन्होने अहिंसा के द्वारा देश,समाज और राष्ट्र मे व्याप्त हिंसा और अन्याय का प्रतीकार किया।

आजसे पच्चीसौ वर्ष पूर्व का समय भारतीय इतिहास मे अधकार पूर्ण के रूप मे समझा जाता रहा है, उस समय भारतीय क्षितिज मे अध-विश्वास और रूढिवाद के काले कजरारे वादल मडरा रहे थे, यज्ञ के नाम पर, देवी-देवताओ के आगे मूक पशुओ की वलि दी जा रही थी। स्त्री-समाज हीनभावना से देखा जाता। वे मानवोचित व्यवहारो से वचित थी। शुद्रो की दशा पशुओ से भी दयनीय थी। उस समय भगवान् महावीर ने क्रान्ति की विगुल वजाई। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे घूमकर अहिसा और प्रेम का दिव्य सन्देश सुनाया। जातिवाद का विरोध किया, उनके विमल विचारो की वायु से कुप्रथाओ के वादल विखर गये और सर्वत्र क्रान्ति का प्रकाश जगमगाने लगा। मानव-समाज मे सर्वत्र शान्ति की लहर लहराने लगी। रोहिणेय जैसे दुर्दमनीय दस्युराज और अर्जुनमाली जैसे प्रवल हत्यारे उनकी अहिसक क्रान्ति से दयामूर्ति वन गये।

अहिसा अतीतकाल से ही मानवता का सरक्षण करती रही है, जव जीवन मे विपत्ति के वादल मडराये, शोक की विजलिया चमकी और भय की विभीपिका दहकने लगी, तव अहिसा ने प्रलय के मुख मे जाते हुए विश्व को वचा लिया, अहिसा से ही विश्व सुरक्षित रह सकता है। अहिसा समस्त प्राणियो का विश्राम स्थल है, क्रीडा भूमि है और मानवता का शृगार है। अहिसा का सामर्थ्य असीम है।



दर्शन के जन्म और विकास की कहानी

क्या सब मिथ्यादृष्टियो का पुलिन्दा जैनदर्शन है ? या सब का सम्यकीकरण · · · ?

दर्शन और जैनदर्शन

—मुनिश्री नथमल जी

मनुष्य चेतनावान प्राणी है। इसलिए वह सोचता है, देखता है। सत्य की खोज, सत्य का विकास, एक व्यवस्थित रूप मे, मामाजिक सन्दर्भ मे हुआ है। मनुष्य ने सामाजिक जीवन जीना शुरू किया, उसके बाद उसने सत्य की खोज भी बडी तीव्रता मे की। उसने देखा कि पहाड क्या है ? नदियाँ क्या हैं ? ये दिखाई देनेवाले पदार्थ क्या है ? क्या यही सब कुछ है या इनसे परे भी कुछ है ? क्या ये निर्मित है या स्वयभू है ? इनका कर्त्ता कौन है ? अगर है तो वह ज्ञात है या अज्ञात है ? अनेक जिज्ञासाएँ मनुष्य के मन मे पैदा हुई। और उसने खोज शुरू कर दी। अपनी जिज्ञासाओ का समाधान पाने के लिए प्रयत्न शुरू किया। इस श्रृखला मे दृष्टि का विकास हुआ और विचार का विकास हुआ। दृष्टि और विचार—ये दोनो दर्शनपरक हैं। दर्शन का निर्माण किया नही गया, वह बन गया। अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न हुआ। मनुष्य ने देखा। देखना हमारा काम है। हम देख सकते हैं। किन्तु मैं जो देखता हू, दूसरा उसे माने या न माने, यह मेरे पर निर्भर नही है। हम निर्भर हैं सामनेवाले व्यक्ति पर। दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए मैंने जो अन्तर्दृष्टि से देखा, उसे समझाने के लिए, उसकी व्याख्या करने के लिए तर्क का सहारा लिया। जो देखा जाता है, वह दूसरे तक पहुचाया जाता है, तर्क के माध्यम से, अगर तर्क ठीक बैठ जाता है। मैंने जो देखा, मैं अपने तर्क के द्वारा प्रस्तुत करता हूँ और सामनेवाले व्यक्ति को मेरा तर्क स्वीकार्य हो जाता है, तो मेरा विचार और उसका विचार, दोनो का विचार एक हो जाता है। तर्क दोनो को जोडने का काम करता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक है, अपना सब कुछ है और तर्क है दोनो को जोडने वाला सूत्र। दोनो मे वैचारिक एकता का सपादन करनेवाला सूत्र है तर्क। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि और विचार ये दोनो मिलकर दर्शन की आत्मा का निर्माण करते हैं। दर्शन का प्रासाद इन दोनो पर खडा हुआ है।

दर्शन की धारा बहुत प्राचीन है। विश्व के इतिहास मे दो थे दर्शन के आविष्कारक—हिन्दुस्तान और यूनान। भारतीय दार्शनिक और यूनानी दार्शनिक—ये दोनो विश्व के सब दर्शनो को प्रभावित करने

वाले हुए है। भारत के दार्शनिको ने पूर्वी जगत को प्रभावित किया। पश्चिम का सारा दर्शन यूनान के दर्शन से प्रभावित है, और पूर्व के सारे दर्शन भारत के दर्शन मे प्रभावित है। इस प्रकार विश्व के पटल पर इन दो देशो के दार्शनिको ने अपनी विचारधारा का पूरा प्रभुत्व प्रस्थापित किया।

मेरे सामने दर्शन की अनेक धाराएँ है। मैं धाराओ का वर्गीकरण इस प्रकार करू। मनुष्य ने जब देखा तो प्रारम्भिक जाचने मे जो सबसे स्थूल था, वह सामने आ गया। मैं खडा हूँ और इस वृक्ष को सुगमता से देख सकता हूँ, परन्तु वृक्ष के नीचे चलनेवाली चीटी छोटी है, सूक्ष्म है उस पर मेरी दृष्टि नही दौडती। आदमी स्थूल को पहले पकडता है और सूक्ष्म तक पहुँचने मे बहुत गहराई मे उतरना पडता है। सबसे पहले हमारे सामने जो स्थूल जगत् है, वह है भौतिक जगत्। दार्शनिको ने सबसे पहले भौतिकता को पकडा, भूतो को पकडा। उन्होने देखा —दुनिया मे पृथ्वी है, पानी है, अग्नि है और वायु है। ये चार चीजें प्रमुख हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु। उन्होने देखा कि जो दिखाई दे रहा है, वह इन्ही के द्वारा निष्पन्न है। इन चार भूतो से दुनिया का निर्माण हुआ है।

कुछ चिन्तक आगे बढे। उन्होने आकाश को भी खोजा। आकाश भी एक तत्व है, एक भूत है। तो भारतीय दर्शन मे दो धाराएँ चली। एक चतुर्भूतवादी और एक पचभूतवादी। पश्चिमी दार्शनिको मे भी इन्हे लेकर काफी विचार भेद रहा। किसी ने माना सारी दुनिया का मूल जल है, तो किसी ने माना कि सारी सृष्टि का मूल वायु है। तो किसी ने माना कि सारी सृष्टि का मूल अग्नि है। जलवादी, वायुवादी और अग्निवादी—ये स्थूलवादी विचारक रहे हैं।

इन दोनो धाराओ के बाद फिर उनके मन मे द्वन्द्व उत्पन्न हुआ कि जो भूत है, उसके अतिरिक्त भी कुछ दिखाई देता है। यह कौन सोचता है? विचार कौन करता है? यह जानने का प्रयत्न कौन करता है? भूत तो इन्हे नही जानता। फिर उन्होने चेतना की ओर ध्यान दिया। चेतना भी एक तत्व है जो कि भूत का गुण नही है। पृथ्वी नही जान सकती, पानी नही जान सकता, अग्नि नही जान सकती। चेतना कोई विलक्षण चीज है। फिर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चेतना भूतो की परिणति है। वह भूतो की क्रिया है। भूतों के अतिरिक्त कोई तत्व नही है। अगर अतिरिक्त तत्व होता तो चेतना भूतो मे पृथक् नही दिखाई देता। जैसे जल का कण हमे दिखाई देता है, उसी प्रकार चेतना की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही दिखाई देती। चेतना का स्वतन्त्र रूप हमारे सामने कभी प्रस्तुत नही होता। न पहले दिखाई देता है और न बाद मे ही दिखाई देता है। इसलिए चेतना कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। किन्तु उन भूतो की एक परिणति है। भूतो की एक विशिष्ट क्रिया है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। चेतना को स्वीकार तो किया, किन्तु चेतना की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया।

मैंने भूतवादियो की एक धारा आप लोगो के सामने प्रस्तुत की। इसमे चतुर्भूतवादी भी है, पचभूतवादी भी हैं, और चेतना की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही करते हुए चेतना को माननेवाले भी हैं।

दूसरी धारा वह है जिसने स्थूल को देखा और उसके साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। स्थूल से परे क्या है, उसे भी देखने का प्रयत्न किया। और उसमे वे सफल भी हुए। वह है अध्यात्मवादी दर्शनो की धारा। एक भौतिकवादी दर्शन धारा और एक अध्यात्मवादी दर्शन धारा। जो आन्तरिकता तक पहुँचकर, गहराई तक पहुँचकर देखा कि भूतो से परे भी एक तत्व है, एक सूक्ष्म तत्व है, वह है चेतन शक्ति। वह स्वतन्त्र सत्ता है और भूत से वह उत्पन्न नही है। यह हो गई अध्यात्मवादी धारा।

जैनदर्शन अध्यात्मवादी धारा है। वह आत्मवादी है और चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करनेवाली धारा है। इसलिए वह अध्यात्मवादी है। चैतन्यवाद की अनेक रूपो मे चर्चा है। हमारे यहाँ कई प्रमुख दार्शनिक हुए हैं, जिन्होने भिन्न-भिन्न दर्शनो का प्रतिपादन किया है। एक मुख्य दर्शन है वेदान्त, जो उपनिषदो के आधार पर अपने दर्शन की स्थापना करता है। उपनिषद् भारतीय ज्ञानराशि के बहुत बडे खजाने या कोष माने जाते हैं। उपनिषदो मे शताब्दियो तक इतना सूक्ष्म चिन्तन हुआ है, सृष्टि के गहनतम रहस्यो को जानने का इतना तीव्रतम प्रयत्न मनीषियो ने किया है, सचमुच वह भारतीय चिन्तन की अपूर्व ज्ञानराशि है। वेदान्त उनका प्रतिनिधित्व करता है। वेदान्त का सिद्धान्त है, एक ही ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता, इस चेतन की है, दूसरी पारमार्थिक सत्ता नही है। यहाँ भूतवादी और चैतन्याद्वैतवादी की एक टक्कर है, एक सघर्ष है। एक ओर भूतवादी या अचेतनाद्वैतवादी कहते हैं कि भूत ही वास्तविक सत्ता है। चेतन वास्तविक सत्ता नही है। तो उनके सामने एक विरोधी के रूप मे वेदान्त दर्शन आता है। वह कहता है कि चेतना ही वास्तविक सत्ता है, भूत वास्तविक सत्ता नही हैं। भूतवादी कहते हैं कि भूत से चेतन उत्पन्न हुआ है, तो चेतनाद्वैतवादी कहते हैं कि चेतन से भूत उत्पन्न हुआ है। दोनो एक दूसरे के विरोधी हैं। एक जड द्वैत है और दूसरा चैतन्यद्वैत है। दोनो एक दूसरे के आमने-सामने खडे है। दोनो एक दूसरे की टकराहट को झेल रहे हैं। ये एक दूसरे का निरसन और खण्डन कर रहे हैं।

जैनदर्शन चेतन को स्वीकार करता है। चेतन की वास्तविकता को स्वीकार करता है। फिर भी अचेतन की अवास्तविकता को स्वीकार नही करता। चेतन को जितना वास्तविक मानता है उतना ही अचेतन को भी वास्तविक मानता है। इसलिए जैनदर्शन वेदान्त दर्शन से भिन्न है। वह भूताद्वैतवादी का सीधा विरोधी नही है। क्योकि वह अचेतन की वास्तविकता को स्वीकार करता है, जबकि वेदान्त दर्शन अचेतन की वास्तविकता को स्वीकार नही करता।

इसलिए जैन दर्शन दोनो के मध्य मे है, और उसकी धारा दोनो की तरफ प्रवाहित होती है—इधर भी जाती है उधर भी जाती है। 'तुम कहते हो चेतन वास्तविक सत्ता है, हम इसे स्वीकार करते हैं। तुम कहते हो अचेतन वास्तविक सत्ता है, हम इसे भी स्वीकार करते है। चेतन को भी वास्तविक मानते हैं और अचेतन को भी वास्तविक मानते हैं। हम दोनो को वास्तविक मानते हैं।' जैन दर्शन अपने इस अपूर्व तत्त्व के द्वारा, अपने इस स्वीकार के द्वारा द्वैतवादी है—दोनो की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करनेवाला है।

दर्शन की तीन धाराएँ हैं—भूताद्वैत की, चैतन्याद्वैत की और द्वैत की। भारतीय दर्शन इन तीन धाराओ मे बटे हुए है। यद्यपि आज के दर्शन के विद्वान् यह मानते है 'कि साख्यदर्शन बहुत प्राचीन है। जैनदर्शन का विकास साख्यदर्शन के आधार पर हुआ है।' किन्तु मुझे लगता है कि यह बहुत ही एकागी स्वीकार है। और यह इसलिए भ्रम चलता आ रहा है कि किसी भी समर्थ जैन विद्वान् ने इसकी मीमासा नही की। हम देखेंगे कि साख्य सूत्र उतना प्राचीन नही है जितने कि जैन आगम प्राचीन हैं—और वस्तुत साख्य दर्शन कोई वैदिक दर्शन नही है। यह श्रमण दर्शन है। इसीलिए वैदिको ने समय-समय पर साख्य दर्शन को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शकराचार्य ने कहा है कि यह कपिल का साख्य दर्शन वेद-विरुद्ध है और वेदानुसारी जो मनुजी का वचन है, उसके यह विरुद्ध है। यानी श्रुति-विरुद्ध और स्मृति-विरुद्ध है। इसलिए यह विचारणीय नही है।

पद्मपुराण मे लिखा है कि नैयायिकदर्शन, वैशेषिकदर्शन, पतजलि का योग दर्शन—ये श्रुति-विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। मुझे आश्चर्य होता है कि किसी भी सशक्त विद्वान् ने इस पर दृष्टि नही डाली। न्याय सूत्र की रचना महावीर के उत्तरकाल मे हुई है—ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी मे हुई है। वैशेषिक सूत्र की रचना भी लगभग इन्ही शताब्दियो मे हुई। पतजलि-योग दर्शन की रचना भी इसी काल के आस-पास हुई है। ये रचनाएँ अवश्य ही श्रमण दर्शनो से प्रभावित रही हैं। उन पर श्रमणो का प्रभाव पडा है उनके तत्वो का प्रभाव पडा है। वे श्रमण दर्शन से जितनी प्रभावित रही हैं उतनी वे वेद-दर्शन से प्रभावित नही रही हैं। क्योकि भगवान महावीर, भगवान बुद्ध और आजीवक गोशालक आदि-आदि जो शक्तिशाली श्रमण तीर्थंकर थे, उन्होने वैदिक कर्मकाण्ड का निरसन किया। उस समय तत्व मीमासा के द्वारा वैदिक दर्शनवाले भी इतने प्रभावित हो गए कि वे उनके तत्वो का खण्डन करने मे समर्थ नही रह गए। यह पाँच-सात शताब्दी का काल एक प्रकार से श्रमणो की प्रबुद्धता का काल रहा है। उनके तत्वो का, उनकी सात्विक पद्धति का और सात्विक प्रतिपादन शैली का इतना प्रभाव रहा कि हर कोई उनसे प्रभावित रहा। इस काल मे जो शास्त्र लिखे गए, जो ग्रन्थ लिखे गए वे सीधे वेदो से प्रभावित नही रहे, उन्हें दूसरा मार्ग भी स्वीकार करना पडा।

आप पतजलि के योग-दर्शन को देख जाइए। उसमे जो शब्द आपको मिलेंगे, वे किसी भी वैदिक साहित्य मे आपको नही मिलेंगे। केवली, शुक्लध्यान आदि-आदि शब्दो को आप जैन साहित्य मे ढूँढ सकते हैं, किन्तु किसी भी वैदिक ग्रन्थ मे ये नही मिलेगे। साख्य दर्शन के शब्दो की आप मीमासा कीजिए, यही बात है। साख्य और योग दोनो एक धारा मे चले जाते हैं। यह बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। उस समय के श्रमणो के दर्शन का, श्रमणो की विचार पद्धति का बहुत बडा प्रभाव रहा है और उस विचार से प्रभावित होने के कारण ही जो केवल साख्य पर विचार करते थे, श्रुतियो और स्मृतियो के आधार पर तत्व की मीमासा करते थे, वे उपादेय नही माने गए। स्वीकार्य नही रहे।

जैन दर्शन ने द्वैतवाद की धारा को स्वीकार किया, मुझे यह नही लगता कि इस पर साख्य का कोई प्रभाव है। आज के दर्शनकार, आज के इतिहासकार स्वीकार करते है कि साख्य भी द्वैतवादी था। उसने दो तत्व स्वीकार किए हैं प्रकृति और पुरुष। यह प्रभाव जैनो पर पडा। इसीलिए जैनो ने दो तत्व माने। चेतन और अचेतन। यह साख्य दर्शन का जैन दर्शन पर प्रभाव है।' यह उन लोगो का निरूपण है। ऐसा मानने का प्रमुख कारण यह है कि जैन दर्शन बहुत कम विद्वानो के समक्ष पहुँचा। और जब पहुँचा तो कुछ ही ग्रन्थ पहुँचे। किसी भी दर्शन के विचार लिखनेवाले ने मूल जैन आगमो का गहराई से अध्ययन किया हो, ऐसा नही लगता। पहला ग्रन्थ पहुँचा, तत्वार्थसूत्र। और फिर उसकी व्याख्याएँ पहुची है और फिर न्यायशास्त्र के ग्रन्थ पहुचे हैं। किन्तु तत्वार्थ से पाँच-छह शताब्दी पूर्व तक कोई भी ग्रन्थ उनके पास नही पहुचा। उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गए हैं, उससे यह प्रमाणित नही होता कि जैन दर्शन साख्य दर्शन से प्रभावित होकर द्वैतवादी बना है।

साख्य ने प्रकृति और पुरुष ये दो माने हैं। जितना जैन दर्शन द्वैतवादी है, उतना ही साख्य दर्शन भी द्वैतवादी है। क्योकि वह स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। किन्तु द्वैतवादी होने पर भी उनकी मौलिक धाराओ मे बहुत बडा अन्तर है। साख्य दर्शन स्वीकार करता है कि प्रकृति से सारी

सृष्टि का विकास हुआ है। जितना दृश्य जगत् है, उसका विकास प्रकृति से हुआ है। मूल कारण है प्रकृति और प्रकृति की विकृति है सृष्टि। प्रकृति का विकार यह हमारा जगत् है।

जैन दर्शन ने अचेतन को स्वीकार किया है। किन्तु उसकी अचेतन की स्वीकृति सर्वथा मौलिक है, किसी से प्रभावित नही है। अचेतन की जितनी सूक्ष्म व्याख्या, जितनी रहस्यमयी व्याख्या और वास्तविक व्याख्या जैन दर्शन ने की, उतनी और किसी भी भारतीय दर्शन ने नही की।

अचेतन के पाच प्रकार जैन परम्परा मे बताए हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म, अधर्म—इन दो का स्वीकार किसी भी भारतीय दर्शन ने नही किया है। जो सम्पूर्ण विश्व की गति और स्थिति मे सहायक बनता है, या जिसके कारण से गति और स्थिति होती है, उस अचेतन तत्व धर्म और अधर्म की स्वीकृति न साख्य दर्शन मे है और न किसी अन्य दर्शन मे ही। यह जैन दर्शन की विलक्षण स्वीकृति है। और किसी भी दर्शन ने न इस पर विचार किया और न इसका खण्डन किया। धर्म और अधर्म को पुण्य-पाप की दृष्टि से तो स्वीकार किया गया किन्तु धर्म और अधर्म एक अचेतन तत्व के दो रूप है, और वे गति और स्थिति के माध्यम हैं, इस रूप मे दूसरे दार्शनिको ने इस बात को पकडा ही नही, तब खण्डन करने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

अब रहा पुद्गल का प्रश्न। साख्य दर्शन की सारी प्रकृति की जो विकृति है और प्रकृति का प्रतिपादन, उसमे पौद्गलिक जगत् की व्याख्या अनिवार्य है। यानी पुद्गल के विभिन्न परिणमन और विभिन्न परिणतिया जो सहजभाव से या चेतन जगत् के सहयोग या सम्पर्क से होती हैं। उनकी विभिन्न व्याख्याएँ जो हैं, उनका ही दूसरा नाम है प्रकृति की व्याख्या।

साख्य की प्रकृति का मुख्य भाग आकाश और पुद्गल है। वह इन दो तत्वो मे समाहित हो जाता है। जैन दर्शन का अचेतन का स्वीकार बहुत व्यापक, बहुत वैज्ञानिक और स्वतन्त्र तथा सर्वथा मौलिक है। यह किसी भी दर्शन का ऋणी नही है या किसी भी दर्शन की उधार देन नही है।

स्मृतिकारो की मीमासा करें तो यह कभी भी समझ मे नही आता कि जैन दर्शन ने द्वैतवाद के रूप मे किसी दूसरे से ऋण लिया है या उधार ली है। इसलिए यह जैनदर्शन की मौलिक देन है कि विश्व मे दो वास्तविक सत्ताए हैं। जैन दर्शन द्वैतवादी है। विश्व की व्याख्या करने की विभिन्न दृष्टिया रही हैं। शकर ने व्याख्या की—'विश्व जो दिखाई दे रहा है, वह पारमार्थिक नही है, वास्तविक सत्य नही है।' प्रश्न हुआ, तो फिर वह क्या है? उत्तर दिया, माया है। एक सुषुप्ति अवस्था है। आपने स्वप्न मे सिंह को देखा। आप भय से प्रकम्पित हो गए। आप जागृति अवस्था मे आए, सिंह का भय समाप्त हो गया। स्वप्नावस्था का सिंह जागृत अवस्था का सिंह नही है। स्वप्नावस्था मे सिंह की वास्तविक सत्ता नही है। इसलिए सारा सापेक्ष-सत्य है।

हम लोग जागृत अवस्था मे जो देख रहे है और जो हमे वास्तविक रूप मे दिखाई दे रहा है, किन्तु परम ब्रह्म की स्थिति मे जाने पर वह वैसे ही मिथ्या हो जाएगा, असत्य हो जाएगा, जिस प्रकार स्वप्न जगत् के दृश्य जागृत अवस्था मे मिथ्या और असत्य हो जाते हैं। इसलिए जागृत अवस्था के सत्य भी सापेक्ष-सत्य हैं। इस प्रकार उन्होने सत्य की दो व्याख्याए कर दी। एक सापेक्ष-सत्य और एक निरपेक्ष-सत्य। केवल ब्रह्म और परम चेतन सत्य है, और सारा सापेक्ष-सत्य है। जो सापेक्ष सत्य है, वह सीमित सत्य है।

बौद्ध धर्म मे दो धाराए हैं। उनमे एक धारा है सवृति सत्य और एक धारा है पारमार्थिक सत्य।

शकर के गुरु थे गौडपाद। वे बौद्धधर्म के बहुत बडे विद्वान थे। हो सकता है कि गौडपाद का शकर पर प्रभाव पडा हो और उन्होने प्रकारान्तर से उपनिषदो के आधार पर मायावाद की व्याख्या की हो।

जैन दर्शन के सामने भी यह प्रश्न है। क्या हम जो देख रहे हैं, वह माया है, असत्य है, अवास्तविक है ? इस सारे सम्बन्ध मे जैन दर्शन ने अनेकान्त दृष्टि अपनाई है। अनेकान्त जैन दर्शन की सबसे मौलिक सम्पत्ति है। जैन दर्शन की मान्यता है कि हर वस्तु को तुम देखो परन्तु एक दृष्टि से ही मत देखो। अलग-अलग दृष्टियो से देखो और उसकी व्याख्या करो। अगर ऐसा नहीं हो सकता है तो तुम्हारी दुर्बलता है। मानो कि यह चर्चा अपूर्ण है। और यह मानो कि तुम्हारा सीमित-दृष्टिकोण है। सीमित प्रतिपादन हो सकता है। तुम उसे पकड नही सकते। तुम्हे किसी का सहारा लेना पडता है। यही तुम्हारी अपूर्णता है।

जैन दर्शन मे प्रतिपादन किया गया है कि जो कुछ भी तुम्हे दिखाई पड रहा है, वह अनन्त-धर्मा हैं। चाहे एक धर्म को लो या चाहे किसी दूसरी वस्तु को लो। वह अनन्तधर्मा है। तो क्या अनन्त-धर्मात्मक होने से समस्या सुलझ जाएगी ? नही सुलझेगी। एक बात की ओर ध्यान दीजिए। अनन्त-धर्मात्मक ही नही, किन्तु अनन्त-विरोधी-युगल-धर्मात्मक है। एक परमाणु भी अनन्त-विरोधी-युगल-धर्मात्मक है। यानी कोई भी ऐसा तत्व नही है, जिसमे अनन्तविरोधी जोडे नही हो। यह भारतीय चिन्तन मे सर्वथा मौलिक दृष्टि और मौलिक बात है। यानी जो सत् है, वह असत् भी है। जो नित्य है वह अनित्य भी है। नित्य और अनित्य—यह विरोधी युगल है, विरोधी जोडा है। शकराचार्य ने कहा कि दार्शनिक को पहले चार बातो पर ध्यान देना चाहिए, उसमे पहली बात यह है कि नित्य और अनित्य का ज्ञान, जो नित्य और अनित्य का ज्ञान नही रखता, वह दार्शनिक नही हो सकता, और प्रत्यक्षभाव से दर्शन का प्रतिपादन नही कर सकता।

पतजलि ने कहा कि वह अविद्या है जिसमे नित्य और अनित्य का भेद नही है। जो नित्य को अनित्य जानता है और अनित्य को नित्य जानता है, वह अविद्या है। शकर ने कहा कि ब्रह्म तो नित्य है और ससार अनित्य है। यानी नित्य भी और अनित्य भी है। एक भी ऐसी चीज नही प्रतिपादित की जो नित्य ही है और अनित्य ही है। उन्होंने जैनो के सापेक्षवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—'नित्य और अनित्य को एक साथ मानना विरोधाभास है और जैनो का भ्रम है।' वे ब्रह्म को नित्य मानते हैं। माया को अनित्य मानते हैं। परन्तु एक ही वस्तु को वे नित्य और अनित्य दोनो नही मानते। बहुत सारे दार्शनिक नैयायिक आदि आकाश को नित्य मानते हैं और दीपक को अनित्य। वह क्षण-भगुर है। दीपक की लौ आई और गई। लौ आती है और चली जाती है। हवा का झोका आता है। दीपक बुझ जाता है। दीपक है अनित्य और आकाश है सर्वथा नित्य। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—'जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसी प्रकार आकाश भी अनित्य है। और जैसे आकाश नित्य है वैसे ही दीपक भी नित्य है। यह स्याद्वाद की मोहर है, स्याद्वाद की मर्यादा है। दुनिया का कोई भी तत्व इसका खण्डन नही कर सकता। इस मर्यादा का कोई उल्लघन नही कर सकता।

यह जो विरोधी-युगल का स्वीकार है, और अनन्तधर्मात्मक विरोधी युगलो का स्वीकार है, यह जैन दर्शन की सर्वग्राही और सर्वव्यापी दृष्टि का आधार है। हम केवल स्याद्वाद की बात करते हैं परन्तु इस बात को समझे बिना स्याद्वाद को कैसे समझेंगे ? अनन्त विरोधी-धर्मात्मकता न हो तो स्याद्-

वाद की व्याख्या नही की जा सकती। जैन दर्शन एक सर्वग्राही दर्शन है। मूल बात को स्वीकार करने के के लिए हम सदैव तैयार हैं। कोई कठिनाई नही है। भूतवाद को स्वीकार करने के लिए हम तैयार हैं, उसकी वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए भी तैयार हैं, चैतन्यद्वैतवाद की बात को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जिसका अस्तित्व न हो, अस्तित्व की मर्यादा से हर वस्तु आक्रान्त है। अस्तित्व की मर्यादा को छोडकर कोई भी वस्तु वाहर नही जा सकती।

अगर हम दो दिशाओ मे चलते है तो चलते-चन्नते एक ऐसे स्थान पर पहुचते है जहा केवल सत्ता है। सत्ता मे कोई भेद नही होता। विभक्त होता है। विभक्त होता है केवल पर्याय। वस्तु का अस्तित्व जो है, वह शाश्वत है, कभी भी नष्ट नही होता। किन्तु कोई भी वस्तु पर्याय-शून्य नही है। परिवर्तन की मर्यादा से कोई भी वस्तु मुक्त नही है। हर वस्तु मे परिवर्तन होता है। पर्याय बदलता रहता है। इस दृष्टि से पुराना पर्याय वदला और नया पर्याय आ गया। यानी जो सत् पर्याय था, वह चला गया और जो असत् पर्याय था वह आ गया। असत् पर्याय की उत्पत्ति और सत् पर्याय का नाश यह क्रम वरावर चलता रहता है। इसलिए सत्-असत् दोनो हमे स्वीकार्य हैं। यानी जैन दर्शन सत्वादी, असत्वादी नही किन्तु सत्-असत्वादी है। सत्-असत् दोनो वातो को स्वीकार करके चलता है।

अनेक पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानो का यह आरोप है कि 'जैन दर्शन की मौलिक देन कुछ भी नही है, इधर-उधर से लिया और एक दर्शन की स्थापना कर दी। जैन दर्शन अनेक दर्शनो का सग्रह मात्र है, कोई मौलिक तत्व नही है। यह एक आरोप है। और आरोप मे उनकी कठिनाई भी है। यह उन्होने जानवूझकर नही लगाया वल्कि जैन दर्शन की सर्वग्राहीदृष्टि ने इस आरोप की भूमिका तैयार कर दी। यह उनका ही आरोप नही वल्कि प्रकारान्तर से जैनाचार्यो का उन्हे समथन भी मिल जाता है। एक जैन आचार्य ने जैन दर्शन की व्याख्या की है—'मिथ्या दर्शन के समूह। दुनिया मे जितनी भी मिथ्या दृष्टिया हैं, उन्हें मिला दीजिए, जैन दर्शन वन जाएगा।' इसको हम दूसरी दृष्टि से देखे तो जैन दर्शन ने मिथ्यादृष्टियो को ले-लेकर उनका पुलिन्दा तैयार कर दर्शन का निर्माण नही किया, किन्तु जैन दर्शन की जो अनेकात्मकता थी, उस अनेकात्मकता मे सव दर्शनो के विचारो को एकत्र होने का अवसर दे दिया। सवको वहा उपस्थित होने का मौका दे दिया। सवका सम्यकीकरण कर दिया या सवके लिए द्वार खोल दिया कि तुम भी आ जाओ। सवके लिए हमारा द्वार खुला है। यह आकर्षण सवको हुआ। वहुत सारे इकट्ठे हुए। और दूसरो को भ्रम हो गया कि इन सवको लेकर एक पुलिन्दा वन गया। तो यह तो उसकी योग्यता की परिणति है। उसने अपने लिए यह योग्यता निर्मित कर दी यहा पर कोई भी दृष्टि आ सकती है और रह सकती है।

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—जैसे समुद्र मे आकर सारी नदिया मिल जाती हैं, वैसी सारी दृष्टिया आप मे आकर मिल जाती हैं। वे अलग-अलग नदिया हैं। नदियो मे समुद्र नही है, नदिया समुद्र मे हैं। ये विभक्त दृष्टिया है, उनमे आप नही हैं।

जैन दर्शन की मौलिकता का अपहरण नही करना चाहिए, वल्कि उसके महत्व का मूल्याकन करना चाहिए। जैन दर्शन ने सर्वसग्राही दृष्टियो को जो एकत्र करने का अवसर दिया और एक ऐसा सर्व-समन्वय मच प्रस्तुत किया, यह सर्व-समन्वयी मच प्रस्तुत करना, जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है।

जैन दार्शनिक साहित्य
का
विकास-क्रम

● श्री विजयमुनि, शास्त्री 'साहित्यरत्न'

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बौद्ध धर्म के सस्थापक तथागत बुद्ध थे, परतु भगवान महावीर जैन-धर्म के सस्थापक नही प्रचारक एव प्रसारक रहे हैं,अत बौद्ध धर्मकी अपेक्षा निश्चय ही जैनधर्म बहुत अधिक प्राचीन युग से चला आ रहा है। ऐतिहासिक तथ्यो से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि वह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैनधर्म एव जैन-दर्शन की दो बडी विशेपताएँ हैं—अहिंसा और अनेकान्त। जैन-दर्शन की अपनी तीसरी विशेपता है—उसकी तपस्या। यह बात जैन-धर्म के इतिहास से और साथ-साथ वैदिक परपरा के श्रुति-साहित्य से भली-भाँति जानी जा सकती है कि उसका अस्तित्व ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ मे भी उपलब्ध होता है। आज के इतिहासकार ऋपभदेव एव नेमिनाथ को कदाचित न भी स्वीकार करे, फिर भी ई० ८०० वर्ष पूर्व हुए पार्श्वनाथ के अस्तित्व से किसी भी इतिहासकार को इन्कार करने का अवसर प्राप्त नही होता है। पार्श्वनाथ निश्चय ही उपनिपद् युग के महान् अध्यात्मयोगी रहे हैं। इस सत्य को भारत के रिसर्चस्कॉलर एव इतिहासकार ही नही, पाश्चात्य इतिहासकार भी स्वीकार कर चुके हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार ऋग्वेद मे ऋपभदेव और अरिष्टनेमि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैन-परपरा के प्रथम तीर्थंकर ऋपभदेव थे। जो वर्तमान जैन परपरा के आदिपुरुप माने गए हैं। उनकी जीवन कथा विष्णुपुराण एव भागवत पुराण मे भी उपलब्ध होती है, जहाँ उन्हे महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। इन उभय पुराणो मे यह भी उल्लेख मिलता है कि दशावतार के पूर्व होनेवाले अवतारो मे से एक अवतार भगवान ऋपभदेव भी हैं। इससे पता चलता है कि वेदो के भोगवादी युग मे वैराग्य, तपस्या और अहिंसा के द्वारा धर्म पालन करने वाले, जो अनेक ऋपि हुए हैं उनमे ऋपभदेव का अन्यतम स्थान रहा है। और उनकी परपरा मे होनेवाले जो साधक अहिंसा, सयम एव तप-साधना के मार्गपर बढते रहे उन्होने जैन परपरा का पथ प्रस्तुत किया।

श्रमण-परपरा के इतिहास की दृष्टि से महायोगी पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वान हरमनजेकोबी ने इस बात को प्रामाणित कर दिया कि योग मार्ग के प्रवर्तको मे पार्श्वनाथ का नाम अवश्य

ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास सशोधक विद्वान लोगो (Rescarch Scholor of History) ने फिर भले ही भारत के हो अथवा भारत के वाहर के हा, उन सभीने प्राय इस तथ्य को स्वीकार कर लिया कि ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर-इन सव के प्रति हिन्दुओ का आदरमय भाव रहा है। भगवान महावीर ने अवश्य ही वेदो का विरोध किया परन्तु उनका विरोध उग्र नही, सयत था। वास्तव मे भगवान महावीर ने वेदो का विरोध नही किया था, वेद-विहित यज्ञ हिंसाका ही विरोध किया था। उनके विरोध का ही वह शुभ परिणाम है कि आज भारत की भूमि से हिंसाजन्य यज्ञ एव याग सर्वथा विलुप्त ही हो गए है। जैन परपरा की अहिंसा और अनेकान्त ने वास्तव मे भारतीय-सस्कृति को जो गौरव एव जो महिमा प्रदान की है, वह अद्भुत एव अनोखी है। युग-युग से जैन परपरा के तेजस्वी सन्त भारत की कोटि-कोटि जनता के मन और मस्तिष्क मे जिस अहिंसा और अनेकान्त का सर्जन करते आ रहे है, वह भारतीय सास्कृतिक एव दार्शनिक परपरा की एक विशेप घटना है। अहिंसा और अनेकान्त के मधुर कल्याणप्रद उपदेशने केवल विद्वानो के ही मन और मस्तिष्क को ही नही, सामान्य जनता के मन और मस्तिष्क को भी प्रभावित किया था। श्रमण-सस्कृति और वैदिक परपरा का धार्मिक एव आध्यात्मिक इतिहास यह स्पष्ट वता रहा है कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का उपनिपदो की रचना पर वहुत गहरा प्रभाव पडा है। गीता तो श्रमण परपरा की अहिंसा, सास्कृतिक देन तप, और अनेकान्त के प्रभाव से प्रभावित है यह स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। गीता के उपदेश मे कर्म-योग, ज्ञानयोग एव भक्ति योग का जो समन्वित रूप परिलक्षित होता है, निस्सन्देह वह जैन परपरा के विशिष्ट सिद्धान्त अहिंसा-अपरिग्रह और अनेकान्त के प्रभाव से प्रभावित ही है। यह स्पष्ट है कि वौद्ध दर्शन पर वैदिक दर्शन की अपेक्षा जैनदर्शन का प्रभाव पडना आवश्यक ही था। वुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अष्टागमार्ग और महर्षि पतजलि का अष्टाग योग विचार की अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से प्रभावित हैं। अहिंसा और तप के सस्कार वैदिक परपरा मे जो समन्वय की धारा प्रवाहित हुई है, वह तो अवश्य ही जैनदर्शन की अपनी देन है। तथागत वुद्ध ने जिस विभज्यवाद का उल्लेख किया है, वह तो स्पष्ट ही अनेकान्तवाद का रूपान्तर प्रतीत होता है। इस से हम यह स्पष्ट कह सकते है कि जैन परपरा के विचारकोने दार्शनिक क्षेत्र मे जो साधना की है उसका पूरा-पूरा लाभ हमारी पडौसी परम्परा वैदिक-परम्परा और वौद्ध-परपरा ने पर्याप्त मात्रा मे उठाया था।

भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन

भारतीय-दर्शन के इतिहास मे जैन-दर्शन की अपनी एक अनोखी देन है। दर्शन शब्द का Philosophy के अर्थ मे कव से प्रयोग होने लगा है, इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है। तव भी इस शव्द की इस अर्थ मे प्राचीनता के विपय मे किसी तरह का सदेह नही हो सकता। उस-उस युग के दर्शनो के लिए दर्शन शव्द का प्रयोग मूल मे इसी अर्थ मे हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण मे उस-उस युग के व्यक्तियो की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति अथवा अधिकारिता के भेद से जो तात्विक दृष्टि भेद होता है, उसी को दर्शन शव्द से अभिव्यक्त किया जाए। जैन-दर्शन का तो यह आधार स्तभ ही है कि वह किसी भी वस्तु पर, किसी भी द्रव्यपर और पदार्थपर एकान्त दृष्टि से नही, अनेकान्त दृष्टि से विचार करता है। विचार जगत् मे प्रयुक्त अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत् मे आकर अहिंसा के सिद्धान्त का व्यापक रूप धारण कर लेता है। इसमे सन्देह नही है कि केवल भारतीय-दर्शन के विकास

१७

का अनुगम करने के लिए ही नही, अपितु, भारतीय दार्शनिक परपरा के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। विश्वके दार्शनिक क्षेत्र मे अहिसा और अनेकान्त दोनो का समन्वित रूप ही जैनदर्शन की अपनी एक विशिष्टता है। यदि हम भारतीय-दर्शन के इतिहास के पन्नो को पलटकर उसमे उल्लेखित दर्शन-शास्त्र की दीर्घ परपरा को देखें और समझने का प्रयत्न करे तो इसमे किसी तरह का सन्देह नही रह जाता है कि जैनदर्शन ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को अहिसा और अनेकान्त नही, वलिक उसके साथ-साथ कर्मवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण भी प्रदान किया है। कर्मवाद का जितना सुन्दर, जितना विस्तृत, जितना व्यवस्थित और जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेपण जैन-दर्शन मे आज भी उपलव्ध हो सकता है, वैसा और उतना शायद ही अन्यत्र किसी परपरा म उपलव्ध हो। अहिसा मानव के हृदय को सरलता, स्वच्छता और सरलता प्रदान करती है। अनेकान्त मानव-मस्तिष्क को उर्वरता और तर्कशीलता प्रदान करता है और कर्मवाद मानव-जीवन मे आध्यात्मिकता की ज्योति जलाता है। जैन-दर्शन की दीर्घकालीन परम्परा ने प्राचीन युग से आज तक भारतीय दर्शन की परपरा मे जो विचार और आचार की अभिवृद्धि की है, उसे इतिहास के पृष्ठो पर से कभी विस्मृत नही किया जा सकेगा। आज नही, तो कल भारत के दार्शनिको को यह सोचना और समझना ही होगा कि जैन-दर्शन भारतीय-दर्शन की परम्परा मे अपना उतना ही स्वतत्र अस्तित्व रखता है, जितना-वैदिक और वौद्ध। आजके जागरणशील इस युग का प्रवुद्ध दार्शनिक और सत्य-शोधक दर्शन-शास्त्र पर विचार करते समय कभी यह भूले नही करेगा कि जैन-दर्शन, वैदिक दर्शन की शाखा है अथवा वह वौद्धदर्शन की शाखा है? अपनी तटस्थवृत्ति के कारण ही यह गौरव जैन-दर्शन को सहज ही उपलव्ध हो जाता है।

जैन-दर्शन पर आज जो साहित्य उपलव्ध है, उसे पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है। यह साहित्य भगवान महावीर से लगाकर आज तक के विकास की एक रूपरेखा हमारे सामने स्पष्ट कर देता है। विकास का क्रम इस प्रकार है—

१ आगम-युग · ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग की काल-मर्यादा भगवान महावीर के निर्वाण वि० पूर्व ४०० से प्रारभ होकर प्राय १००० वर्ष तक जाती है। भगवान महावीर के विचारो का, प्रवचनो का और प्रश्नो के दिए गए उत्तरो का सार उनके गणधरो ने शव्द-वद्ध किया था। स्वय भगवान महावीर ने कुछ नहीं लिखा। और उन्होंने अपने विचारो को सूत्र रूप मे निवद्ध भी नही किया फिर भी जैन-आगम तीर्थंकर प्रणीत कहे जाते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि अर्थ-रूप मे श्रुत-साहित्य के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं और ग्रन्थरूपसे गणधर। क्योकि अर्थ रूप वाणी को ही गणधर सूत्र-रूप मे ग्रन्थित करते है। इसलिए जैन-परपरा मे आगमो का प्रामाण्य गणधरकृत होने से नही, अपितु तीर्थंकर की वीतरागता एव सर्वज्ञता के कारण है। गणधरो के अतिरिक्त अन्य स्थविर भी आगम साहित्य की रचना करते हैं। दोनो मे भेद यह है कि स्थविर-कृत आगम अगवाह्य कहलाते हैं और गणधर-कृत आगम अगप्रविष्ट कहलाते हैं। परन्तु गणधर और स्थविर दोनो के ग्रन्थो का आधार तीर्थंकर प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान ही होता है। आज आगमो के जो सस्करण उपलव्ध हैं, वे अपने प्रस्तुत रूप मे देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के समय के है, उसके पहले आगम साहित्य को लिपिवद्ध करने का उल्लेख नही मिलता। कालक्रम से स्मृति का लोप होते हुए देखकर भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ९६० वर्ष वाद पाटलिपुत्र मे जैन-श्रमण-सघ एकत्रित हुआ था। एकत्रित हुए श्रमणोने परस्पर एक-दूसरे से पूछकर और सुनकर ग्यारह अग

व्यवस्थित किए। वारहवें अग दृष्टिवाद का विलोप हो जाने के कारण से वे उसका सकलन नही कर सके। आगमो की सख्या इसप्रकार हैं—११ अग, १२ उपाग, ६ छेद, ४ मूल, २ चूलिका, १० प्रकीर्णक —इस प्रकार कुल मिलाकर ४५ सख्या होती है। इनमे से स्थानकवासी और तेरहपथी परपरा को केवल ३२ ही मान्य हैं—११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक।

२ **अनेकान्त-युग** भारतीय-दार्शनिक क्षेत्र मे वौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पडित नागार्जुन ने एक बहुत वडी हलचल पैदा कर दी और दार्शनिको के जीवन मे अभिनव चेतना जागृत कर दी। जब से नागार्जुन ने इस क्षेत्र मे कदम रखा और अपनी तर्कशक्ति का प्रयोग किया तव से दार्शनिक वाद-विवादो को एव तत्वचर्चा को नया मोड दिया गया। अब विचारो पर श्रद्धा से बढकर तर्क का आधिपत्य हो गया। यही कारण था कि दर्शन शास्त्र का व्यवस्थित रूप नागार्जुन के शून्यवाद के कारण से हुआ। नागार्जुन ने इस क्षेत्र मे प्रविष्ट होकर दार्शनिक विचार चर्चा मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। यह क्रान्ति केवल वौद्ध दर्शन तक ही सीमित नही रही, इसका प्रभाव भारत के सभी दर्शनो पर बहुत गहरा पडा है। जैन-दर्शन की परम्परा मे भी सिद्धसेन ने और समन्तभद्र जैसे महान् तार्किक एव दार्शनिक इसी युग की देन है। यह समय भारतीय दर्शन के इतिहास मे पाचवी एव छठी शताव्दी का माना जाता हैं। जैन-दर्शन के तेजस्वी आचार्यो ने भगवान महावीर के समय से श्रुत-साहित्य मे विखरे रूप मे चले आते हुए अनेकान्तवाद को स्थिर एव निश्चित रूप प्रदान किया और अनेकान्त को व्यवस्थित दर्शन के रूप मे प्रस्तुत किया। इसी मूल आधार को समक्ष रखकर जैन दार्शनिक परम्परा मे इस समयकी विचार धारा को अनेकान्त स्थापन-युग कहा जाता है। इस युग मे पाच प्रसिद्ध जैन दार्शनिक आचार्य हुए हैं— आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मल्लवादि, आचार्य सिंहगणि और पात्रकेसरी।

३ **प्रमाण-शास्त्र युग**—भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास मे दिङ्नाग के विचारो ने एव उसके दार्शनिक विवेचन ने प्रमाण शास्त्र और न्याय-शास्त्र को नयी प्रेरणा दी। दिङ्नाग वौद्ध तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है। दिङ्नाग प्रतिभासम्पन्न तार्किक एव प्रमाण-शास्त्र का व्याख्याता था। उसकी प्रतिभा के उदित होते ही दार्शनिक क्षेत्र मे हलचल मच गई। और उसके फलस्वरूप ही वैदिक परम्परा मे उद्योतकर एव कुमारिल जैसे महान् तार्किक सामने आए। जैन-दर्शन इस क्षेत्र मे पीछे नही रहा। इस परम्परा मे सिद्धसेन, समन्तभद्र और मल्लवादी जैसे समर्थ नैयायिक एव तार्किक प्रगट हुए। इनमे से प्रत्येक आचार्य ने दिङ्नाग के तर्को का वडी सतर्कता के साथ खण्डन किया था। अपने पक्ष का मण्डन करते हुए दूसरे पक्ष का खण्डन करना यही इस युग की विशेपता रही है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति इस युग मे विशेप रूप से परिलक्षित होती है। इस सघर्ष के फलस्वरूप ८ वी और ९वी शताव्दी मे जैन-दर्शन के समर्थ एव सक्षम नैयायिक आचार्य अकलक और आचार्य हरिभद्र आदि दार्शनिक एव नैयायिक मैदान मे आए।

४ **नवीन-न्याय-युग**—भारतीय-दर्शन की इतिहास परम्परा मे तत्त्वचिंतामणी नामक न्याय के ग्रन्थ लेखन के साथ ही न्याय शास्त्र का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इस अध्याय को प्रारम्भ करने का श्रेय विक्रम की तेरहवी शताव्दी मे मिथिला मे उत्पन्न होनेवाले गगेश नामक प्रतिभासम्पन्न नैयायिक को है। तत्त्वचिन्तामणी नवीन परिभापा और नूतन शैली मे लिखा गया न्याय-शास्त्र एव दर्शन-शास्त्र का एक अद्भुत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विपय न्याय-सगत प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण है। इन चारो

प्रमाणो को सिद्ध करने के लिए गगेश ने जिस नैयायिक भाषा, तर्क और शैली का प्रयोग किया, वह न्याय-शास्त्र के क्षेत्र मे एक बहुत वडी क्रान्ति थी। न्याय के शुष्क और नीरस विषय मे रस का सचार करके, उसे आकर्षण की वस्तु वना देना, वस्तुत सामान्य बात नही कही जा सकती। गगेश ने जिस नूतन, और सरस शैली को जन्म दिया, वह शैली उत्तरोत्तर अधिक से अधिक परिष्कृत होती गई। चिन्तामणि के टीकाकारो ने इस नवीन न्याय-ग्रन्थ पर इतनी विपुल मात्रा मे टीकाएँ लिखी कि इस ग्रन्थ के साथ भारतीय-दर्शन के युग मे एक नया युग ही स्थापित हो गया। इस शैली का प्रभाव बौद्ध-नैयायिको पर तो कम पडा, परन्तु जैन-दर्शन की परम्परा के प्रतिभासम्पन्न जैनदार्शनिको पर स्पष्ट ही प्रभाव परि-लक्षित होता है। विक्रम की १७वी शताब्दी के अन्त तक जैन-दर्शन मे प्राचीन परम्परा और प्राचीन शैली से ही अपने न्याय शास्त्रा के ग्रन्थो की रचना होती रही है। उपाध्याय यशोविजयजी ने १८वी शताब्दी के प्रारम्भ मे जैन-दर्शन को एक नया प्रकाश दिया। और नयी शैली मे न्याय-ग्रन्थो की रचना की जिसे नव्य-न्याय शैली कहते है। इसी प्रकाश के साथ जैन-दर्शन के इतिहास मे नवीन न्याय युग प्रारम्भ होता है।

५. सम्पादन-अनुसन्धान-युग :—उपाध्याय यशोविजयजी की परम्परा किसी न किसी रूप मे २० वी शताब्दी के प्रारम्भ तक चलती रही। कुछ लोग छोटी-मोटी टीकाए लिखते रहे, किन्तु इस बीच मे उल्लेख करने योग्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ। परतु अग्रेजी शासन युग मे जीवन के अन्य क्षेत्र की भाँति ज्ञान के क्षेत्र मे भी एक वहुत वडा परिवर्तन आया। इस युग मे सस्कृत या प्राकृत मे नये ग्रन्थो की रचना नही की गई। परतु भारतीय दार्शनिक अपनी-अपनी परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो का सम्पादन एवं अनुसधान नये युगकी शैली से करने लगे। पाश्चात्य शिक्षण पद्धति के कारण भारतीय दर्शनशास्त्र पर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का पूरा प्रभाव पडा। फलत प्राचीन साहित्य का नवीनीकरण होने लगा। इस युग की सवसे वडी विशेषता तीन रूपो मे प्रगट हुई—भारतीय और पाश्चात्य दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, अनुसधान और खोजपूर्ण टिप्पण। पाठान्तर और उद्धरण जोड़ने की परम्परा भी इसी युग की देन है। जैन परपरा के दार्शनिक इतिहास मे इस युग मे सम्पादन और अनुसन्धान की धारा प्रारम्भ करने का श्रेय निश्चय ही पण्डित सुखलालजी को दिया जा सकता है। उनका सम्पादन, अनुसधान और खोजपूर्ण कार्य सर्व प्रथम जैन पम्परा के कर्मग्रन्थो के सम्पादन से प्रारभ होता है। इसके वाद तुलनात्मक टिप्पणो के साथ एव तुलनात्मक अध्ययन के साथ आचार्य हरिभद्र की योग-विंशिका और पातजल योग सूत्रो पर उपाध्याय यशोविजयजी कृत तुलनात्मक वृत्ति के प्रकाशन के साथ हुआ। पण्डितजी ने वाचक उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र पर भी हिन्दी मे एक विश्लेषणात्मक ग्रन्थ का सम्पादन एव खोजपूर्ण भूमिका लिखी है और अन्त मे विशेष शब्द-कोष भी दिया गया है। आगे चलकर इसी शैली पर जैन-दर्शन के विशिष्ट विद्वान और जैन आगम के विशिष्ट अभ्यासी पण्डित सुखलालजी एव पण्डित वेचरदासजी ने आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की विशेषकृति सन्मतितर्क-प्रकरण का भी इसी विश्लेषणात्मक एव खोजपूर्ण शैली मे सम्पादन किया। इस क्षेत्र मे पण्डित सुखलालजी की परम्परा को निभानेवाले दो और मुख्य व्यक्ति है—न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमार जैन और पण्डित दलसुख मालवणिया। पण्डित महेन्द्रकुमारने जैनन्याय शास्त्र के प्रसिद्ध एव विशिष्ट ग्रन्थ प्रमेयकमल-मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चय-विवरण,तत्वार्थ-श्रुतसागरी टीका आदि अनेक ग्रन्थो का सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणो के साथ उसी शैली के साथ किया जिस शैली से जैन परम्परा

के महान् दार्शनिक पण्डित सुखलालजी, आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमासा का सम्पादन कर चुके थे। वास्तव मे प्रमाण-मीमासा का सम्पादन जितनी सुन्दरता के साथ पण्डितजी ने किया है, उसका गौरव केवल जैन-परपरा के इतिहास तक ही सीमित नही है, किन्तु सपूर्ण भारतीय दर्शन के इतिहास मे यह कार्य अपनी महत्ता के साथ मे विशिष्ट है और भविष्य मे आनेवाले सम्पादको के लिए एक दीर्घ युगतक प्रेरणा-प्रदीप बना रहेगा। पण्डित दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित न्यायावतार-वृत्ति न्याय का प्राचीन एव महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जो तुलनात्मक एव शोधपूर्ण शैली से सम्पादित है। पण्डित दलसुख मालवणिया ने इसकी विस्तृत भूमिका मे आगम युग मे लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन-दर्शन के प्रमाण एव प्रमेय विषयक चिन्तन तथा उसके विकास का ऐतिहासिक एव तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन किया है। अन्त मे ग्रन्थ पर तुलनात्मक टिप्पण भी लिखे हैं। पण्डित दलसुख मालवणिया की दूसरी कृति गणधरवाद है। जो विशेषावश्यकभाष्य का एक अश है। इस गणधरवाद की विस्तृत भूमिका मे वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओ द्वारा मान्य आत्मवाद, कर्मवाद और परलोकवाद पर इतनी गहनता एव गभीरता के साथ लिखा गया है कि उसमे सपूर्ण भारतीय दर्शन एव विचार चिन्तन का सार समाहित हो जाता है।

इस सम्पादन और अनुसधान के युग मे प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार और प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित समयसार भी अपना विशेष महत्व रखते है। उक्त दोनो ग्रन्थो की मूल गाथाओ का अग्रेजी अनुवाद और विश्लेपणात्मक अग्रेजी मे टीका और प्रारम्भ मे अग्रेजी भूमिका के साथ इसका प्रकाशन वास्तव मे वर्तमान युग की एक विशेष देन है। डॉ० हीरालाल जैन ने षट्खण्डागम, धवला टीका के सभी भागो का सम्पादन कर दिया है। यह भी इस युग की एक विशेष देन है। इस प्रकार सपूर्ण जैन साहित्य इन पाँच भागो मे विभक्त कर दिया गया है।

●●

सत्य है एक महासागर !
जिसमे, विभिन्न विचारो की नदिया
आती हैं, और मिलकर अपना अस्तित्व मिटा देती हैं
लहर बनकर हर नदी समुद्र के साथ
एकाकृति मे भी अपना अस्तित्व जताती है।

●

सत्य है एक उपवन !
जिसमे विभिन्न दर्शनो के, विचारो के
पुष्प खिलते हैं, महकते हैं
अपना सर्वस्व उपवन मे समाहित कर देते हैं,
किंतु अपना रूप और सौरभ
स्वतत्र रखकर अपनी सत्ता को जताते रहते हैं।

—मधुकर मुनि

● डा० चेतनप्रकाश पाटनी
(प्राध्यापक . हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय)

भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन

अनेकान्त और स्याद्वाद

भारतीय दर्शन के इतिहास मे जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। भारत ऋषियो महर्षियो, साधु सन्तो, त्यागियो और विचारको की जन्मभूमि रहा है। समय समय पर सभी विचारको को सृष्टि, मनुष्य, आत्मा, परमात्मा और मोक्ष जैसे रहस्यपूर्ण विषय आकृष्ट करते रहे है। मनुष्य विचारशील प्राणी है, अत छोटे से छोटा कार्य करते समय भी अपनी इस विचार क्षमता का उपयोग करता है। यही विचारशक्ति विवेक की सज्ञा प्राप्त करती है। मनुष्य और पशु मे यही अन्तर है कि मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक पूर्वक होती है, पशु की नही। अत मनुष्य मे जो स्वाभाविक विचारशक्ति है, उसका उपयोग कर सृष्टि और इसके रहस्यो का सम्यक् अवलोकन करना 'दर्शन' के अन्तर्गत आता है। 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति 'दृश्' धातु से है जिसका अर्थ है देखना।

भारत की परम्पराएँ आध्यात्मिक रही है। जड और चेतन मे उद्भूत यह सृष्टि माया है, मिथ्या है। आत्मा अनात्मा से पृथक् है। यह आत्मा सच्चिदानन्द का एक अश है, इसका निज धाम यह ससार नही है। ससार के दु खो से छुटकारा पाना अर्थात् मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना इसका लक्ष्य है। इस ससार मे प्रत्येक प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दु खो से पीडित है। आदि विचार सदैव से यहाँ के महर्षियो के लिए चिन्तनीय रहे हैं। अत यहाँ के दार्शनिको का प्रधान कार्य आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना रहा है, सासारिक दु खो से निवृत्ति का उपाय बतलाना रहा है।

जैनदर्शन मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को मोक्ष प्राप्ति का कारण बतलाया गया है—सम्यक् दर्शनादि तीनो एक साथ मोक्ष के कारण होते हैं, पृथक्-पृथक् नही—**"सम्यक्-दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग"**। अत मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्वार्थ-श्रद्धान और आचरण के साथ-साथ सम्यक्ज्ञान भी आवश्यक है। सम्यक्ज्ञान का अर्थ है समीचीन ज्ञान। अहिंसा की सर्वांगपूर्ण प्रतिष्ठा के लिए सम्यग्ज्ञान परम अनिवार्य है

भारतीय शास्त्रार्थों का इतिहास अनेक हिंसाकाण्डो के रक्तरजित पद्यो से भरा हुआ है। एक पक्ष शास्त्रार्थ मे उचित-अनुचित विधियो से दूसरे पक्ष को पराजित कर उसके साथ कितना अमानवीय

व्यवहार करता था, कभी-कभी तो तेल की जलती कड़ाही मे जीवित तल देने जैसी हिंसक होड भी लग जाती थी—ये बातें घोषित करती है कि यह सब मतवादियों और दुराग्रहियों के कुज्ञान, मिथ्याज्ञान और अल्पज्ञान के कारण होता था और इस प्रकार हिंसा को प्रोत्साहन मिलता था। जैन दर्शन की मान्यता है कि—विवाद वस्तु मे नही है, विवाद तो देखनेवालो की दृष्टि मे है। विश्व का प्रत्येक चेतन और जड तत्व अनन्तधर्मो का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्णरूप से नही जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने मे पूर्णता का दुरभिमान कर बैठा है। जैन दर्शन की यह मान्यता 'अनेकान्त दर्शन' के नाम से जानी जाती है और यही सम्यग्ज्ञान का आधार है। इसके विपरीत एकान्तदर्शन तो सरासर मिथ्याज्ञान है।

"यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैक तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेव असत्, यदेव नित्य, तदेवानित्यमित्येकवस्तु वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशमनेकान्त ॥"

जो वस्तु तत्स्वरूप है वही वस्तु अतत् स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार अनेकान्त एक ही वस्तु मे वस्तुत्व के कारणभूत व परस्पर विरोधी अनेक धर्मयुगलो को प्रकाशित करता है। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने की है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्तधर्मो मे चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन मे मिलेंगे और पुद्गलगत अनन्तधर्म पुद्गल मे। चेतन के गुण धर्म पुद्गल मे नही पाए जा सकते और न पुद्गल के चेतन मे। सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्य धर्म चेतन और जड सभी द्रव्यो मे पाए जा सकते है परन्तु सबकी सत्ता पृथक-पृथक है। अभिप्राय यह है कि वस्तु बहुत बडी है, वह अनन्त दृष्टिकोणो से देखी और जानी जा सकती है। एक पक्ष का आग्रहकर दूसरे का तिरस्कार या विरोध करना वस्तुस्वरूप की नासमझी का परिणाम है। एकान्तवादियो की समझ मे यह बात आती ही नहीं है कि वस्तु मे अनेक विरोधी धर्म (नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्) भी एक साथ रह सकते है। ठीक भी है चश्मे का रंग जैसा होता है, पदार्थ भी वैसे हा दीखते है। जिसकी दृष्टिपर नित्यैकांत का चश्मा चढा है उसको सब पदार्थ नित्य ही प्रतीत होते हैं और जिसकी दृष्टिपर अनित्यैकांतका चश्मा चढा है, उसको सब पदार्थ अनित्य ही प्रतीत होते है।

दुराग्रही व्यक्ति सर्वत्र अपनी बुद्धि के अनुसार सोचता है, पक्षपात रहित होकर नही। अत वह भूल करता है। सभी वस्तुएँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से सत् और नित्य हैं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की दृष्टि से असत् और अनित्य है। इसप्रकार की व्यवस्था के अभाव मे किसी भी तत्व की व्यवस्था नही हो सकती है। प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण, पर्याय और धर्मो का अखण्डपिण्ड है। अनादि अनन्त स्थिति की दृष्टि से यह नित्य है। कभी भी ऐसा अवसर नही आएगा जब विश्व रंगमंच से एक कण को भी समूल नष्ट होना पडे, वैज्ञानिक भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि पदार्थ कभी नष्ट नही होता, उसके रूपो मे परिवर्तन होता रहता है। यानी, उसकी पर्यायें बदलती रहती है। अत वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्तगुण शक्ति पर्याय और धर्म से प्रत्येक वस्तु सुशोभित है। सोने का पहले हार बना था, हार को गलाकर दूसरा आभूषण बना लिया-यानी 'हार' पर्याय का नाश हुआ, दूसरे आभूषण रूप पर्याय का जन्म हुआ, सोना दोनो रूपो मे ही सोना रहा। शास्त्रीय शब्दावली मे यही उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नाम से कहा जाता है।

वस्तु के सम्यक् ज्ञान के लिए अनेकान्त दर्शन की बड़ी आवश्यकता है। एकान्तवाद या दुराग्रह अनर्थों की जड है। एकान्तवादी कहता है कि तत्व ऐसा ही है और अनेकान्तदृष्टि कहती है कि तत्व ऐसा भी है। सारा विवाद 'ही' के कारण है। 'भी' सत्य को प्रकट करनेवाला है, सघर्ष का शमन करने वाला है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतो का समन्वय करना ही जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। वस्तु अनेकान्तात्मक है, यह स्वत सिद्ध है, इसको सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। जो पिता है, वह किसी का पुत्र भी है, किसी का भाई है किसी का चाचा भी है, किसी का मामा भी है, किसी का बहनोई भी है आदि आदि।

इस प्रकार अनेकान्त दर्शन हमारे दुराग्रह को दूर कर हमारे विचारों को निर्मल बनाता है। आज यदि ससार के बडे राष्ट्रो के राजनीतिज्ञ अनेकान्त के स्वरूप को समझलें तो ससार से युद्धों की विभीषिका समाप्त हो सकती हैं और मनुष्यो की समानता का बोध जागृत हो सकता है।

जब वस्तु अनेकान्तमयी है, तो विरोधी अपने विरोधी की बात भी सहानुभूति पूर्वक सुनेगा, उसके विचारो से अवगत होगा—इस तरह उसके विचारो मे निर्मलता आएगी जो स्वाभाविक रूप से उसे समन्वय की प्रेरणा देगी। उसकी वाणी कटु न होकर मधुर होगी। इस तरह मन की शुद्धि के बाद वह वचन शुद्धि की ओर भी बढ़ेगा—जैनाचार्यो ने वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का कथन करने के लिए स्यात् शब्द के प्रयोग की आवश्यकता जताई है। भाषा मे या शब्दो मे इतनी सामर्थ्य नही है कि वह वस्तु के समग्र रूप का कथन एक समय मे एक साथ कर सके। वह एक समय मे एक ही धर्म को कह सकती है। यहाँ 'स्यात्' शब्द से शायद का अर्थ नही है—स्यात् का अर्थ है सुनिश्चित दृष्टिकोण। 'स्यादस्ति' से अभिप्राय है कि स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, कदाचित् है या सम्भव है। कथन को निर्दोष बनाने के लिए इस शैली का आलम्बन लेना पडता है। इससे वचन शुद्धि होती है।

मानस शुद्धि के लिए 'अनेकान्त दर्शन' और वचन शुद्धि के लिए "स्याद्वाद शैली" जैन-दर्शन की भारतीय दर्शन को अमूल्य देन है। बोलते समय वक्ता को इतना तो ध्यान रहना ही चाहिए कि किसी वस्तु के बारे मे जो बात वह कह रहा है, वस्तु केवल उतनी ही नही है, उसके अतिरिक्त भी उसके गुण धर्म है—परन्तु भाषा एक समय मे सबको एक साथ कहने मे असमर्थ है। परन्तु जो कुछ वह कह रहा है वह निश्चित रूप मे है, उसमे किसी प्रकार का सशय नही।

जैनाचार्यो ने इस तरह वस्तु का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करके उसके स्वरूप को सही ढग से कहने का मार्ग भी दिखाया। इन दोनो दृष्टियो को साथ लेकर चलने पर ही पूर्ण अहिंसा का निर्वाह हो पाता है, अन्यथा नही। अनेकान्त दृष्टि के अपनाने पर यदि उसी प्रकार की भाषा शैली न होती तो उसका उपयोग दुर्गम था। अत अनेकान्त दृष्टि का ठीक-ठीक खुलासा करने वाली 'स्याद्वाद' भाषा शैली है। यह स्याद्वाद जैन-दर्शन मे सत्य का प्रतीक है।

इस प्रकार कहना होगा अनेकात ने भारतीय चिन्तन को स्पष्ट और सतुलित दृष्टि दी है, तो स्याद्वाद ने भारतीय वाणी-वैभव को सापेक्ष सत्य-कथन के सौन्दर्य से अलंकृत किया है।

स्याद्वाद और सापेक्षवाद

एक अनुचिन्तन

—प्रसिद्धप्रवक्ता श्री पुष्करमुनिजी

अहिंसा और अनेकान्त जैनदर्शन के प्राणभूत तत्त्व हैं। हमारे शरीर मे जो स्थान मन और मस्तिष्क का है वही स्थान जैनदर्शन मे अहिंसा और अनेकान्त का है। अहिंसा आचारप्रधान है और अनेकान्त विचारप्रधान है। अहिंसा व्यावहारिक है, उसमे प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा, मैत्री, व आत्मौपम्य की निर्मल भावना अगडाईया लेती है तो अनेकान्त बौद्धिक अहिंसा है, उसमे विचारो की विषमता, मनोमालिन्य, दार्शनिक विचारभेद और उससे उत्पन्न होनेवाला सघर्ष नष्ट होता है। सहअस्तित्व, सद्व्यवहार के विमल विचारो के फूल महकने लगते हैं।

आज का जन-जीवन सघर्ष से आक्रान्त है, चारो ओर द्वेष और द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। मानव अपने ही विचारो के कटघरे मे आबद्ध है, आलोचना और प्रत्यालोचना का दुश्चक्र तेजी से चल रहा है। मानव एकान्त पक्ष का आग्रही होकर अधविश्वासो के चगुल मे फस रहा है। क्षुद्र व सकुचित मनोवृत्ति का शिकार होकर एक दूसरे पर छीटाकसी कर रहा है। वह अपने विचारो को सत्य और दूसरे के विचारो को मिथ्या सिद्ध करने मे लगा हुआ है। 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त को विस्मृत होकर 'मेरा सो सच्चा' इस सिद्धान्त की उद्घोषणा कर रहा है, परिणामत इस सकीर्णवृत्ति से मानव समाज मे अशान्ति की लहर लहराने लगी है। उतना ही नही, जब मानव मे सकीर्ण वृत्ति से उत्पन्न हुआ अहकार, आग्रह तथा असहिष्णुता का चरमोत्कर्ष होता है तो धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र मे भी रक्त की नदिया बहने लगती हैं। उस परिस्थिति के निराकरण के लिए ही जैनदर्शन ने विश्व को अनेकान्तवाद की दिव्य दृष्टि प्रदान की।

जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म है। वह अनन्त गुणो और विशेषताओ को धारण करनेवाला है। वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने का अर्थ है, सत्य आकाश की तरह अनन्त है और उस अनन्त सत्य को निहारने के लिए दृष्टि भी अनन्त चाहिए। विराट् दृष्टि के द्वारा ही उस अनन्त सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। एकागी व सीमितदृष्टि से सत्य के

पूर्ण रूप को कभी भी देखा व परखा नही जा सकता। एक ही दृष्टि से पदार्थ के पर्यालोचन की पद्धति एकांगी व अप्रमाणित है।

गणधर गौतम एक समय विचारो के सागर मे गहराई से डुबकी लगा रहे थे कि सामने सन्निकटवर्ती वृक्ष पर एक भ्रमर गुजार करता हुआ दिखलाई दिया। उन्होंने उसी समय भ० महावीर से प्रश्न किया—"भगवन्! यह जो सामने भ्रमर उड रहा है, उसके शरीर मे कितने रग है?"

भगवान् ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—गौतम! व्यवहार नय से भ्रमर एक ही रग का है और वह रग काला है किन्तु निश्चय नय से उसके शरीर मे पाँचो वर्ण है।[1]

इसी प्रकार गुड के सम्बन्ध मे भी गौतम ने प्रश्न उपस्थित किया—"भगवन्! फाणित-प्रवाहित गुड मे कितने वर्ण, कितने गध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं?

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! व्यवहारनय की दृष्टि से तो वह मधुर कहा जाता है पर निश्चयदृष्टि से उसमे पाँच वर्ण, दो गध, और आठ स्पर्श है।[2]

निश्चय नय से वस्तु के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है और व्यवहार नय से बाह्य स्वरूप का। इससे स्पष्ट है कि वस्तु का वास्तविक स्वरूप कुछ और है और इन्द्रिय-ग्राह्य स्वरूप कुछ और है। जो अल्पज्ञ छद्मस्थ हैं वे वस्तु के बाह्य स्वरूप को ही जान सकते है, पर सर्वज्ञ वस्तु के बाह्य और आभ्यन्तर दोनो स्वरूप को जानते है, देखते है।

अनेकान्तवाद पदार्थ के उन अनन्त धर्मों की ओर ध्यान केन्द्रित करता हुआ कहता है, वस्तु अनन्तगुणात्मक है। उसमे एक नही, अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणो को जानने के लिए अपेक्षा दृष्टि की आवश्यकता है और यह अपेक्षा दृष्टि ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

सभी ज्ञानो की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[3] इसीकारण मे वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है, जिसमे अनेक अर्थ, भाव, सामान्य-विशेष गुण-पर्याय रूप से पाये जाय वह अनेकान्त है।[4] 'केवलज्ञान मे वस्तु तत्त्व अनेक धर्मात्मक होता है, उस अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को जब भाषा के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है तब स्याद्वाद कहलाता है'[5] अनेकान्त केवल एक ज्ञानात्मक अनुभूति है और यह अनुभूति जब वाणी द्वारा अभिव्यक्त होती है तो उसे स्याद्वाद कहा जाता है। इसलिए अनेकान्त और स्याद्वाद मे तात्त्विकदृष्टि से अन्तर हैं। जिन आचार्यों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को एक कहा है वह स्थूलदृष्टि से कह दिया है। आप्तमीमासा मे आचार्य समन्तभद्रने स्पष्ट रूप से कहा है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो ही वस्तु तत्त्व के स्पष्ट प्रकाशक है। दोनो मे अन्तर इतना ही है कि एक मे वस्तु का साक्षात् ज्ञान होता है और

---

१ भगवती सूत्र १८।६

२ भगवती सूत्र १८।६

३ अनेकान्तात्मक वस्तुगोचर सर्वसंविदाम्। —न्यायावतार—सिद्धसेन

४. अर्थोऽनेकान्त। अनेके अन्ता, भावा, अर्था, सामान्यविशेषगुणपर्याया यस्य सोऽनेकान्त

५. अनेकान्तात्मकार्यकथन स्याद्वाद। —लघीयस्त्रयी—अकलक

दूसरे मे असाक्षात् ज्ञान होता है। एक प्रत्यक्ष है दूसरा परोक्ष है। एक के अभाव मे दूसरा अवस्तु हो जाता है।[६] स्याद्वाद परोक्ष है इसलिए आचार्यों ने उसे श्रुत भी कहा है।[७] स्याद्वाद मे स्यात् शब्द का विशिष्ट स्थान है। यह निपात है और अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला है। स्यात् अर्थ का प्रतिपादक होने से श्रुत केवली द्वादशगी की रचना करते समय इसका प्रयोग करते है।[८] केवलज्ञान मे क्रम नही होता, पर स्यादवाद क्रमभावीज्ञान है।[९] स्याद्वाद मे एकान्तवाद का परिहार होने से स्याद्वाद का अपर नाम कथचित्वाद भी है।[१०] स्याद्वाद की दृष्टि से वस्तु कथचित् सद्रूप है, कथचित् असद्रूप हैं, कथचिद् एक है, कथचित् अनेक है, कथचित् भेदरूप है, कथचित् अभेद रूप है, कथचित् सामान्यरूप है, कथचित् विशेषरूप है। इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय स्याद्वाद से ही हो सकता, क्योकि वस्तुतत्त्व का सम्यक् निरूपण अर्पणा या अनर्पणा[११] या गौण या मुख्य भाव हो सकती है। एकान्तवाद से न तो वस्तु का सम्यक् बोध ही होता है और चिन्तन में निर्मलता ही आती है।

जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। स्याद्वाद उसी का विकास मात्र है। भगवद् वाणी स्याद्वादमयी होती है[१२] इसलिए स्याद्वाद का जन्म तीर्थंकर के भव्य उपदेश के साथ हुआ है। स्याद्वाद के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव है। जैसा भगवान् ऋषभदेव ने उपदेश दिया वैसा ही उपदेश अन्य तीर्थंकरो ने भी दिया है क्योकि सभी तीर्थंकर एक ही समान अर्थ का प्ररूपण करते हैं।[१३]

सूत्रकृताङ्ग मे एक पश्न है कि भिक्षु को किस प्रकार की भापा का प्रयोग करना चाहिए ? उत्तर मे कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग करे।[१४] जैनदृष्टि से विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद है, जिस दृष्टि से, जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो, उस दृष्टि से उसका उत्तर देना स्याद्वाद है। किसी एक अपेक्षा से इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है। किसी दूसरी अपेक्षा से इस प्रश्न का उत्तर अन्य भी हो सकता है। इस प्रकार एक प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसीकारण स्याद्वाद को अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद और विभज्यवाद कहा जाता है। तथागतबुद्ध ने भी विभज्यवाद का प्रयोग किया था पर उनका विभज्यवाद महावीर की तरह विकसित न हो सका। महावीर ने इस

---

६ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्ववस्तु प्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्। —आप्तमीमासा १०५, समन्तभद्र

७ स्याद्वाद श्रुतमुच्यते।

८ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेपक।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि। —आप्तमीमासा, १०३,

९ क्रमभावी च यज्ज्ञान स्याद्वादनय सस्कृतम्। —आप्तमीमासा

१० स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिदिवधि। —वही

११ अर्पितानर्पितसिद्धे —तत्त्वार्थसूत्र

१२ स्याद्वाद भगवत्प्रवचनम्। —न्यायविनिश्चय विवरण पृ० ३६४

१३ सव्वे तित्थयरा एवमेव अत्थ भासयन्ति। —आचाराग

१४ भिक्खू विभज्जवाय च वियागरेज्जा। —सूत्रकृताङ्ग १।१४।२२

दृष्टि से अत्यधिक वल दिया है, पर बुद्ध ने यथावसर उसका प्रयोग तो किया, परन्तु उस पर विशेप भार नही दिया। किन्तु महावीर उस पर हमेशा वल देते रहे हैं, जैसे उदाहरण के रूप मे देखिए, भगवती का एक सुन्दर प्रसंग है—

जयन्ती—भगवन् ! सोना अच्छा है या जगना अच्छा है ?

महावीर—जयन्ति ! कुछ जीवो को सोना अच्छा हैं और कुछ जीवो का जगना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग है, अधर्मनिष्ठ है, अधर्माख्यायी हैं अधर्मप्रलोकी है, अधर्मप्ररञ्जन है अधर्म समाचार हैं, अधार्मिकवृत्तियुक्त है वे सोते रहे यही श्रेष्ठ है। यदि वे सोते रहेगे तो अनेक जीवो को पीडा नही होगी। इस प्रकार वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया मे नही लगायेंगे, एतदर्थ उनका सोना अच्छा है। जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं, यावत् धार्मिकवृत्ति वाले हैं उनका जगना अच्छा है क्योकि वे अनेक जीवो को सुख देते हैं, स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य मे सलग्न करते है, इसलिए उनका जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन् ! वलवान् होना अच्छा है या निर्वल होना ?

महावीर— जयन्ति ! कुछ जीवो का वलवान् होना अच्छा है और कुछ जीवो का निर्वल होना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे ?

महावीर जो जीव अधार्मिक है यावत् अधार्मिकवृत्तिवाले हैं उनका निर्वल होना अच्छा है, क्योकि यदि वे वलवान् होगे तो अनेक जीवो को कष्ट देंगे। जो जीव धार्मिक है यावत् धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका वलवान् होना अच्छा है क्योकि वे वलवान् होने से अधिक जीवो को सुख देंगे।[१५]

इसप्रकार महावीर के अनेको सवाद आगमसाहित्य मे विखरे पडे हैं, पर निवन्ध कही अधिक विस्तृत न हो जाय इस दृष्टि से उन सभी की चर्चा हम यहां पर नही कर रहे हैं। महावीर की दृष्टि का पता लगाने के लिए ये सवाद पर्याप्त हैं। महावीर से जो प्रश्न पूछे गये उन प्रश्नो का उन्होंने विश्लेपण किया। इन प्रश्नो का क्या तात्पर्य है, अपेक्षादृष्टि से इसका क्या उत्तर हो सकता है। जितनी भी दृष्टियाँ सामने आई उतनी ही दृष्टियो से प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया गया। प्रश्नोत्तरो की यह शैली विचारो के गूढ रहस्यो को सुलझानेवाली है। बुद्ध ने इस दृष्टि का नाम विभज्यवाद दिया है और इससे जो विपरीत दृष्टि है उसे एकाशवाद कहा है। महावीर ने इस दृष्टि को स्याद्वाद कहा है।[१६]

स्याद्वाद समन्वय करनेवाला और शान्ति का सर्जक है। वह मानव की बुद्धि की विपमता को हटाकर समता का साम्राज्य स्थापित करता है। जीवन और जगत के प्रत्येक क्षेत्र मे इसकी अत्यन्त उपयोगिता है। पाश्चात्य विचारक थामस ने स्याद्वाद के सम्वन्ध मे अपने मननीय विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"स्याद्वाद का सिद्धान्त वडा गम्भीर है यह वस्तु की भिन्न-भिन्न

---

१५ भगवती सूत्र १२।२।४४३

१६ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २८०

स्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद के अमरसिद्धान्त का दार्शनिक जगत मे बहुत ऊँचा स्थान है, वस्तुत स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुन्जी है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया हैं। 'स्यात्' शब्द को एक प्रहरी के रूप मे स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नही जाने देता। यह अविवक्षित धर्मों का सरक्षक है, सशयादि शत्रुओ का सशोधक व भिन्न दार्शनिको का सपोषक है।" जीवन की गहन से गहन समस्याओ का सही समाधान करने की क्षमता स्याद्वाद मे हैं।

महान् दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क मे अनेकान्तवाद को विश्व का गुरु कहा है। उनका मन्तव्य है कि इस अनेकान्त के विना लोक का व्यवहार चल नही सकता। "मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हू जो जन-जन के जीवन की आलोकित करनेवाला गुरु है।[१७] अनेकान्तवाद केवल तर्क का सिद्धान्त नही, किन्तु अनुभव मूलक सिद्धान्त है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है 'कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय मे मति होती है उसी विषय मे वह अपनी युक्ति को लगाता है, परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस वात को स्वीकार करता है जो युक्ति-सिद्ध होती है।[१८]

भगवान् महावीर की मूलवाणी मे जो अनेकान्तवाद बीज रूप मे सुरक्षित था, उसे बाद के आचार्यों ने पल्लवित और पुष्पित ही नही किया, अपितु स्याद्वाद और सप्तभगी पर होनेवाले आक्षेपो और प्रहारो का तर्क सगत उत्तर भी दिया। अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों मे सिद्धसेन का नाम प्रमुख है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सन्मति तर्क' मे अनेकान्त की प्रौढभाषा मे और तर्क-पुष्ट पद्धति से व्याख्या की है। दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र ने भी आप्तमीमासा ग्रन्थ मे जो अनेकान्त की विशद व गहन व्याख्या की है, वह अपने ढग की अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने अपने "अनेकान्तवाद प्रवेश" और "अनेकान्तजय पताका" जैसे विशिष्ट ग्रन्थो मे अनेकान्त का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकलक ने "सिद्धि विनिश्चय" ग्रन्थ मे अनेकान्त का उज्ज्वल रूप उपस्थित किया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अनेकान्त व्यवस्था' 'जैन तर्कभाषा', नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, अनेकान्त प्रवेश' आदि ग्रन्थो मे नव्य न्याय की शैली मे अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभगी, नयवाद पर महत्त्वपूर्ण लिखा है जो अपने आप मे अद्भुत है।

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद

एकान्तवाद किसी एक दृष्टि का समर्थन करता है। वह हमेशा दो विरोधी रूपो मे दिखलाई देता है। कभी सामान्य और विशेष के रूप मे मिलता है तो कभी सत् और असत् के रूप मे। कभी निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है तो कभी हेतु और अहेतु के रूप मे। जो व्यक्ति सामान्य का समर्थन करते हैं वे अभेदवाद को विश्व का मौलिक तत्त्व मानकर भेद को मिथ्या बताते हैं और जो भेदवाद का समर्थन करते हैं व अभेद को विल्कुल ही मिथ्या मानते है। और भेद को ही प्रमाण मानते हैं। एकान्तरूप से सद्वाद का समर्थन करनेवाले किसी भी कार्य की उत्पत्ति और विनाश को सही नही मानते। कारण और कार्य मे वे भेद नही देखते। जो असद्वाद का समर्थन करते हैं वे

---

१७ जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ। तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमो अणेगत-वायस्स।
—सन्मति तर्क

१८ आग्रही वत निनीषति युक्ति, तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।

प्रत्येक कार्य को नवीन मानते है। कारण मे कार्य नही होता है, किन्तु कारण से विल्कुल ही अलग एक नवीन तत्त्व उत्पन्न होता है। कितने ही एकान्तवादी विश्व को अनिर्वचनीय मानते हैं, उनका मन्तव्य है विश्व न सत् है और न असत् है अपितु अन्य लोग विश्व का निर्वचन कर सकते हैं। उनको दृष्टि से वस्तुमात्र का निर्वचन असभव नही है। इस प्रकार हेतुवाद और अहेतुवाद मे भी परस्पर विरोध है। हेतुवाद का समर्थन करनेवाले तर्क पर वल देते हुए कहते हैं कि तर्क से सभी कुछ जाना जा सकता है, कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जो तर्क से न जाना जाय। अहेतुवादी हेतुवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं तर्क मे तत्त्व का निर्णय कदापि सभव नही है। तत्त्व तर्क से अगम्य है।

इसप्रकार एकान्तवाद मे एक वात पर वल दिया जाता है और दूसरे का खण्डन किया जाता है। अत एकान्तवाद क्लेश का मूल कारण है। सत्य का दावा करनेवाले प्रत्येक दो विरोधी पक्ष परस्पर क्यो लडते हैं? यदि दोनो ही पूर्णसत्य हैं तो विरोध किस वात का! दोनो पूर्णरूप से मिथ्या भी नही हो सकते, क्योकि वे जिस वात का प्रतिपादन करते हैं उसकी प्रतीति भी अवश्य होती है। विना प्रतीति के किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन संभव नही है।

जैन-दर्शन का वज्र आघोष है कि वस्तु मे अनेक धर्म है। इन धर्मों मे से किसी एक धर्म का निषेध नही किया जा सकता। जो एक धर्म का निषेध कर दूसरे धर्म का समर्थन करते है वे एकान्तवाद से ग्रसित हो जाते हैं। वस्तु कथचित् भेदात्मक है, कथचित् अभेदात्मक है, कथचित् सत्कार्यवाद के अन्तर्गत है, कथचित् असत्कार्यवाद के अन्तर्गत है, कथचित् निर्वचनीय हैं कथचित् अनिर्वचनीय है 'कथचित् तर्कगम्य है, कथचित् तर्क से अगम्य है। प्रत्येक दृष्टि व प्रत्येक धर्म की एक मर्यादा है उस, मर्यादा का उल्लघन करनेवाला सत्य के साथ न्याय नही कर सकता। व्यक्ति जव तक एकान्तवाद के आग्रह का परित्याग नही करता, तव तक तत्त्व का सही स्वरूप समझ नही सकता। किसी वस्तु के एक धर्म को सर्वथा सत्य मानना और दूसरे धर्म को सर्वथा असत्य कहना, वस्तु की पूर्णता को खण्डित करना है। परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म अवश्य ही एक दूसरे के विरोधी है, किन्तु सम्पूर्ण रूप से विरोधी नही है। वस्तु तो दोनो को समान रूप से आश्रय देती है।

एकान्तवाद मे मिथ्यात्व का गहन अधकार है। अनेकान्तवाद मे सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगा रहा है, अनेकान्तवाद की यह महान् विशेषता है कि वह वस्तु के अन्य विद्यमान धर्मों की ओर उपेक्षा करके किसी एक ही धर्म को ग्रहण नही करता। वह जिस वस्तु का निरूपण करता है उसके विविध धर्मो का परिज्ञान कराता है, इस अपेक्षा से ऐसा 'भी' है और अन्य अपेक्षा से ऐसा भी है। वह 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है। 'ही' और 'भी' मे वहुत अन्तर है 'ही' मे एकान्तवाद का आग्रह है तो 'भी' मे अनेकान्तवाद है। जव हम किसी लड्डू के सम्वन्ध मे कहते हैं, इसमे रूप भी है, रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है, तव हम स्याद्वाद का प्रयोग करते है, और इसके विपरीत जव हम एकान्तवाद के आग्रह मे आकर कहते हैं कि लड्डू मे रस ही है, रूप ही है, गध ही है, तव हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते है। 'भी' मे दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है जव कि 'ही' मे दूसरे धर्मों का स्पष्टत निषेध है। जव हम कहते है कि रूप भी है। इसका तात्पर्य है कि लड्डू मे रस आदि धर्म भी है और जव हम कहते हैं कि फल मे रूप ही है तो इसका यह तात्पर्य है कि फल में मात्र रूप ही है, रस आदि कुछ भी नही है, यह भी और ही का अन्तर है।

एक व्यक्ति किसी चोराहे पर खडा है। एक ओर से नन्हा मुन्ना आया, उसने कहा पिताजी! दूसरी ओर से एक वृद्ध सज्जन आये, उन्होने कहा-पुत्र!' तीसरी ओर से एक युवक आया उसने कहा भाई! चौथी ओर से एक लडका आया उसने कहा प्रोफेसर साहब! साराश यह है कि उसी व्यक्ति को कोई चाचा, कोई ताऊ, कोई मामा कोई भानजा कहता है। सभी परस्पर सघर्ष करते हैं कि यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, प्रोफेसर ही हैं, चाचा, ताऊ, मामा, या भानजा ही है, अब बताइए किस प्रकार निर्णय हो। उनका सघर्ष किस प्रकार समाप्त हो, वस्तुत वह आदमी क्या है। यहाँ पर स्याद्वाद न्यायाधीश के पद को ग्रहणकर मुन्ने को कहता है यह पिता भी है। यह तुम्हारे लिए पिता है क्योकि तुम इसके पुत्र हो, पर अन्य लोगो का यह पिता नही है, वृद्ध से कहता है, हाँ, यह पुत्र भी है, आपकी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगो की अपेक्षा से नही है, क्या यह सारे ससार का पुत्र है? तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से प्रोफेसर है। इसी तरह अपनी-अपनी अपेक्षा से, चाचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, आदि सब कुछ है। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक आदमी मे अनेक धर्म है। यह नही कि उसी पुत्र की अपेक्षा से पिता, उसी की अपेक्षा से पुत्र, उसी की अपेक्षा से भाई, प्रोफेसर, चाचा, ताऊ, और भानजा हो, इस प्रकार नही हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमो से विपरीत है।

स्याद्वाद के गभीर रहस्य को बताने के लिए आचार्यों ने एक बहुत सुन्दर व सरल उदाहरण प्रस्तुत किया है। किसी व्यक्ति ने पूछा—आपका स्याद्वाद क्या है? आचार्य ने अपना कनिष्ठा और अनामिका दोनो अगुलिया फैलाते हुए कहा—इन दोनो मे से बडी कौन-सी है? उसने उत्तर दिया—अनामिका! कनिष्ठा को समेटकर मध्यमा अगुली फैलाते हुए पूछा—अब बताइए दोनो मे से छोटी कौन-सी है? उत्तर दिया–अब अनामिका छोटी है, आचार्य ने कहा—यही हमारा स्याद्वाद है, सापेक्षवाद है, जो आप एक ही अगुली को छोटी भी कहते हो और बडी भी कहते हो।[१९]

इन उदाहरणो से अपेक्षावाद की मूल भावना स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक वस्तु लघु भी है और महान् भी है। इसीतरह प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते है और उन्हे समझने के लिए अपेक्षावाद का सिद्धान्त उन पर लागू होता है, दर्शन की भाषा मे इसे ही अनेकान्तवाद कहते हैं

नित्य और अनित्य

जैन दर्शन कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण व्यक्ति यह बात सुनते ही घपले मे पड जाते हैं कि जो नित्य है वह अनित्य किसप्रकार हो सकता है, किन्तु जैन दर्शन अनेकान्त के द्वारा गभीर समस्या को सुलझा देता है। नित्यत्व पदार्थ के उस मूल स्वभाव अथात् द्रव्य से सम्बन्ध रखता है,जिसका कभी भी नाश नही होता। पदार्थ अपने मूल रूप मे ध्रुव है शाश्वत है। अनित्यत्व पदार्थ की पर्याय से सम्बन्धित है। कल्पना कीजिए—एक मिट्टी का घडा है वह नित्य भी है और अनित्य भी है। मिट्टी और घड को आकृति ये दोनो घडे के निज रूप है, उसका एक रूप विनाशी है, वह आज है, कल नही है,घडे का जो आकार है वह विनाशी है,घडा बनता भी है और मिटता भी है, जैनदर्शन ने इस अनित्य रूप को पर्याय कहा है। पर्याय बदलता है इसलिए नाशवान है। घडे का दूसरा रूप मिट्टी है, वह अतीत काल मे भी थी, वर्तमान मे भी है और आगामी काल मे भी रहेगी। अर्थात् घडे के विनाश हो जाने

---

१९ यथा अनामिकाया कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्व, मध्यमामधिकृत्य ह्रस्वत्वम्। —प्रज्ञापना वृत्ति

पर भी मिट्टी रूप मे विद्यमान ही रही है। जैन-दर्शन ने पदार्थ के इस द्विविध रूप को द्रव्य और पर्याय कहा है। इस दृष्टि से पदार्थ न एकान्त नित्य है न एकान्त अनित्य है, पर नित्य-अनित्य है।

जीव भी कथचित् शाश्वत है और कथचित् आश्वत है। गौतम के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—गौतम ! द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।[२०] यहा पर दो दृष्टियो से उत्तर दिया गया। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। किसी भी अवस्था मे क्यो न हो, जीव मे जीवत्व का कभी अभाव नही होता, वह सदा जीव ही रहता है, अजीव नही होता। यह द्रव्य दृष्टि है। इस दृष्टि से जीव नित्य शाश्वत है। किन्तु जीव हमेशा एक रूप मे ही नही रहता, उसके पर्याय बदलते रहते हैं। वह एक पर्याय को छोडकर दूसरे पर्याय को ग्रहण करता है। ये पर्याय भी व्यजनपर्याय और अर्थपर्याय रूप मे दो प्रकार की है। व्यजनपर्याय स्थूल अवस्था है, जो चर्म-चक्षुओ के द्वारा देखी जा सकती है। जैसे जीव की देव, मनुष्य पशु-पक्षी आदि पर्याय। यह पर्याय दीर्घकाल तक रहती है किन्तु अर्थ-पर्याय एक समय की होती है। आत्मा मे प्रतिपल-प्रतिक्षण जो परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही है, उसे अर्थ-पर्याय कहते हैं। इन दोनो पर्यायो की दृष्टि से सभी जीव और अन्य सभी पदार्थ अशाश्वत और अनित्य है।

जीव की तरह लोक भी कथचित् शाश्वत है और कथचित् अशाश्वत है। लोक का तीनो कालो मे अस्तित्व रहा है, ऐसा न कभी समय आया और न आयेगा जिस समय लोक का अस्तित्व न हो, इसलिए लोक भी नित्य और शाश्वत है। कालचक्र के परिवर्तन-प्रभाव से लोक अशाश्वत भी है। अवसर्पिणी के पश्चात् उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणीकाल आता है।[२१] यह क्रम अनादि काल मे चला आरहा है। काल भेद की दृष्टि से कभी उसमे सुख की मात्रा वढ जाती है और कभी दुःख की मात्रा वढ जाती है, इस दृष्टि से लोक अनित्य और अशाश्वत है।

सत् और असत्

जैनदृष्टि से प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी है। प्रश्न हो सकता है जो पदार्थ सत् है वह असत् किस प्रकार हो सकता है, और जो असत् है वह सत् किस प्रकार हो सकता है ? एक ही वस्तु मे दो विरोधात्मक धर्म किस प्रकार पाये जा सकते हैं। प्रस्तुत रहस्य को जानने के लिए अनेकान्त वादी दृष्टि की अपेक्षा है। अनेकान्तवाद का कथन है—स्वरूप से पदार्थ सत् है, पररूप से असत् है। दूध, दूध के रूप मे सत् है, दही के रूप मे असत् है। दूध की दूध के रूप मे सत्ता स्वीकार न की जायेगी तो वह शून्य हो जायेगा, यदि दही के रूप से सत्ता मानी जाए तो वह अनुभव विरुद्ध है। प्रत्येक पदार्थ का वस्तुत नियत स्वरूप ज्ञात होता है जव उसे सत्-असत् उभय रूप मे स्वीकार करें।

त्रिपदी

ससार के सभी पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं इसके लिए

---

२० जीवाण भते ! किं सासया, असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया।
गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया। —भगवती ७।२।७७३

२१ भगवती सूत्र २।६।३८७

जैनदर्शन मे क्रमश उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दो का प्रयोग किया गया है।[22] इसे त्रिपदी भी कहते हैं, एक वस्तु मे परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है, इसके लिए आचार्य समन्तभद्र ने एक रूपक दिया है,[23] तीन व्यक्ति एक साथ स्वर्णकार की दुकान पर पहुचे, एक को स्वर्ण का घडा चाहिए था, दूसरे को स्वर्ण का मुकुट चाहिए था और तीसरे को सोना चाहिए था। उस समय सुवर्णकार स्वर्ण कलश को तोडकर स्वर्ण का मुकुट बना रहा था, यह देखकर पहले व्यक्ति को परिताप हुआ, दूसरे व्यक्ति को प्रसन्नता हुई, तीसरा व्यक्ति मध्यस्थभाव से देखता रहा, क्योकि उसे स्वर्ण की आवश्यकता थी। एक ही स्वर्ण मे तीन व्यक्ति तीन रूप देख रहे हैं। कलश रूप का विनाश है, मुकुट रूप की उत्पत्ति है और स्वर्ण रूप की ध्रुवता है। प्रस्तुत रूपक से पदार्थ के तीनो गुण धर्मों की वास्तविकता का परिज्ञान होता है। तीनो तत्त्व एक ही वस्तु मे स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भी दिया गया है। गोरस दूध रूप से नष्ट हुआ तो दधि के रूप मे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अपेक्षा भेद से एक पर्याय का विनाश और अन्य पर्याय का उत्पाद है।[23]

जैनदृष्टि से पदार्थ गुण और पर्याय का आश्रय स्थल है। गुण पदार्थ का स्वभाव है और पर्याय उसकी अवस्था है। पर्याय मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, अत उत्पाद और विनाश का क्रम भी चलता रहता है। इस क्रम मे पदार्थ अपने मौलिक स्वभाव का कभी त्याग नही करता।

जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही है जहा पर स्याद्‌वाद का उपयोग न हो। जहा पर दार्शनिकवाद विवाद को मिटाने के लिए स्याद्‌वाद की आवश्यकता है, वहा सामाजिक, राजनैतिक गुरु-ग्रन्थियो को भी सुलझाने मे उपयोगी है। महात्मा गाधी ने लिखा—'अनेकान्तवाद (स्याद्‌वाद) मुझे बहुत प्रिय है। उसमे से मैंने मुसलमानो की दृष्टि से उनका, ईसाइयो की दृष्टि से उनका (इस प्रकार अन्य सभी का) विचार करना सीखा है। मेरे विचारो को कोई गलत मानता, तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहले क्रोध आता था। अब मैं उनका दृष्टिविन्दु उनकी आखो से देख सकता हू, क्योकि मैं जगत के प्रेम का भूखा हू। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।''

वैज्ञानिक क्षेत्र मे भी स्याद्‌वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। वस्तु को अनेक दृष्टियो से अवलोकन करना, और उनके विविध धर्मों से, गुणो से परिचित होना क्या अनेकान्तवाद नही है ? विज्ञान यदि अपनी पूर्व मान्यताओ पर ही दृढ रहता तो क्या आज अपूर्व वैज्ञानिक प्रगति दृष्टिगोचर हो सकती थी। 'लोहा अत्यन्त भारी है और वह पानी मे डूब जाता है'' ऐसी रूढ मान्यता थी किन्तु वैज्ञानिको ने अनेकान्त दृष्टि से लोहे को अन्य वस्तुओ के मिश्रण से हलका कर लोहे के जलयान वनाये और अनन्त सागर पर तैर रहे है। विजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि सभी अन्वेषण अनेकान्त दृष्टि पर अवलम्बित है।

---

२२ उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्। —तत्त्वार्थसूत्र ५।२९

२३ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
उत्पन्न दधिभावेन नष्ट दुग्धतया पय।
गोरसत्वात् स्थिर जानन् स्याद्वाद-द्विड्जनो ऽपि क ? —आप्त-मीमासा

१९

वैज्ञानिक जगत जब अनेक समस्याओं से परेशान था, तब सन् १९०५ में प्रोफेसर अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद प्रस्तुत किया जिससे अनेक समस्याओं का समाधान हो गया। गणित की बहुत सारी पहेलियों के कारण सापेक्षवाद दुरूह भी बन जाता है। सापेक्षवाद को सरलता से समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। एक बार आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे कहा—"सापेक्षवाद क्या है, यह मैं कैसे समझूं ?" आइन्स्टीन ने एक दृष्टान्त से उत्तर दिया "जब एक मनुष्य सुन्दर लड़की से बात करता है तो उसे एक घंटा भी एक मिनट जैसा लगता है। उसे ही गर्म चूल्हे पर बैठा दिया जाय तो उसे एक मिनट भी एक घंटे के बराबर लगता है, यह सापेक्षवाद है।"

परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य को समझाने के लिए प्रोफेसर आयन्स्टीन ने सापेक्ष उदाहरणों का प्रयोग किया है। वे एक स्थान पर लिखते हैं 'जिस किसी घटना के सम्बन्ध में हम यह कहते हैं कि यह घटना आज या अभी हुई, हो सकता है कि वह घटना सहस्रों वर्ष पूर्व हुई हो। जिस प्रकार एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार नीहारिकाओं (क ख) में विस्फोट हुए और वहाँ दो नये तारे उत्पन्न हुए। इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिए अपने यहाँ की घटना तत्काल हुई मालूम होगी, किंतु दोनों के बीच लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी होने से, 'क' का दर्शक 'ख' की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित हुई कहेगा, जबकि दूसरा दर्शक अपनी घटना को तत्काल और 'क' की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित होने वाली बताएगा। इस प्रकार विस्फोट, विस्फोट का परमार्थ काल नहीं, सापेक्ष काल ही बताया जा सकता है।

इसी प्रकार प्रो० एडिंगटन भी दिशा की सापेक्षता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सबसे सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनबरा की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से एक अन्य दिशा है। इसी तरह और अपेक्षाओं से हम यह कभी नहीं विचारते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या है ?"

प्रो० आइन्स्टीन प्राकृतिक स्थितियों के सम्बन्ध में अपेक्षा-प्रधान बात कहते हैं। वे लिखते हैं 'प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, वास्तविक गति का निर्णय असंभव ही है।" ऐसा क्यों है, इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स के शब्दों में इस प्रकार है 'गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं, एक जहाज, जो स्थित है वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थित है किन्तु पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाए, तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायेगा। किन्तु दोनों उस समय भी आस-पास के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति शून्य हो जाए, तो भी ग्रह दूरस्थ नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही मिलेंगे। आकाश में इस प्रकार यदि हम आगे से आगे जाएँगे, तो हमें पूर्ण स्थिति जैसी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।"

स्याद्वाद और सापेक्षवाद ये दोनों अपेक्षा-प्रधान हैं, और सत्य-तथ्य के समुद्घाटक हैं, वस्तुतः स्याद्वाद और सापेक्षवाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। आज संसार में जो भी विषमता है वे स्याद्वाद और सापेक्षवाद से समता के रूप में परिवर्तित की जा सकती है।

●●

स्याद्वाद

सत्य को समझने की सही दृष्टि

—मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'कमल' काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

'स्याद्वाद' जैनदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' के विना जीवन-जगत का व्यवहार चल नही सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। 'स्याद्वाद' इसमे दो शब्दो का सयुक्तीकरण है 'स्यात्' और 'वाद'।

'स्यात्' का अर्थ है अपेक्षा, दृष्टिकोण और 'वाद' का अर्थ है सिद्धान्त या मन्तव्य। दोनो शब्दो का अर्थ हुआ **'सापेक्ष-सिद्धान्त'**। अर्थात् जो अपेक्षा को लेकर चलता है और भिन्न-भिन्न विचारो का एकीकरण करता है।

'स्याद्वाद' को अपनाए विना सपूर्ण सत्य के निकट हम पहुच नही सकते, विना इसके वस्तु का सही निर्णय कर नही सकते। 'वस्तु' अनन्त धर्मात्मक है और हम यदि किसी एक ही धर्म को पकडकर वैठ जाए, अन्य धर्मों की उपेक्षा करके अपनी, केवल अपनी ही अपनी राग अलापते रहे, मनमानी ठानते रहे, वस, जो कुछ हमने निर्णय कर दिया है यही सत्य है और सव मिथ्या है, इस प्रकार का राग आलापते रहे तो नि सदेह हमे अटकना पडेगा, काफी भटकना पडेगा, असफल रहना पडेगा। अधिक क्या ? **'एयन्ते निरवेक्खे न सिज्झई विविहयावग दव्व के'** अनुसार ऐसे व्यक्ति कभी सत्य को पा ही नही सकते। आपके सामने एक उदाहरण है, आप अपने पिता को पिता कहते हैं, ठीक है, एकदम आप सत्य के निकट है, किन्तु यहाँ प्रश्न है, क्या अपका जग-पिता है ? वह सम्पूर्ण सृष्टि का पिता है ? उत्तर स्पष्ट है—नही ? क्योकि आपके पिता आपकी अपेक्षा से ही पिता है, किसी अन्य की अपेक्षा से नही। किसी अन्य की अपेक्षा से वे भाई भी है, पुत्र भी है, चाचा भी है, मामा भी है, तो फिर हम एकात रूप से यह किस प्रकार कहे कि ये केवल पिता ही है। हमेशा एकात आग्रह से ही विग्रह वढते हैं, क्लेश वढता है। भगवान महावीर ने इन क्लेशो से, वैचारिक पूर्वाग्रहो और मतवादो से मानव जाति को मुक्ति दिलाने के लिए ही स्याद्वाद का दर्शन दिया। उन्होने केवल 'ही' का नही, अपितु 'भी' का प्रयोग करने के लिए कहा। इसी वात को समझने के लिए लीजिए भगवती सूत्र के ये दो तीन प्रश्नोत्तर हमारे समक्ष हैं—

"भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत है ? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—गौतम ! जीव किसी दृष्टि से शाश्वत है और किसी दृष्टि से अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है। पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।

गौतम—जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

महावीर—जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है ! गौतम ने पुन शका रखी—भगवन् ! यह किस प्रकार ?

महावीर—जीव दो प्रकार के है ?

(१) ससारी और (२) मुक्त।

मुक्त तो अवीर्य है। ससारी जीव दो प्रकार के होते हैं—शैलेशी-प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न। शैलेशी-प्रतिपन्न लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है। अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी और अवीर्य भी है। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है। और जो जीव पराक्रम नही करते वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है।

ऐसे एक दो नही, अनेक प्रश्नोत्तर प्रसग आदि हैं जिन से तत्त्व निरूपण की सुन्दर शैली व्यक्त होती है।

स्याद्वाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो समस्त विरोधो का शमन करता है, वादी, प्रतिवादी दोनो को न्याय देता है, परस्पर एक दूसरे को टकराने से रोकता है। जटिल से जटिल उलझनो को सुलझा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र की भाषा मे " 'स्याद्वाद दृष्टि' अनेक अपेक्षाओ से एक ही वस्तु मे नित्यता, अनित्यता, सदृशता, विसदृशता, वाच्यता, अवाच्यता, सत्ता असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मो का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर, यथार्थ समन्वय प्रस्तुत करती है।"

हरिभद्र सूरि, समन्तभद्र, सिद्धसेन जैसे अनेक महान् दार्शनिको ने इसका गम्भीर विवेचन किया है जो उनके ग्रन्थो—आचार्य श्री हरिभद्र की 'अनेकान्त जयपताका' आचार्य समन्तभद्र की 'आप्त-मीमासा' सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' मे तथा उपाध्याय यशोविजयजी की 'अनेकान्तव्यवस्था' आदि से अच्छी तरह जाना जा सकता है। 'स्याद्वाद' सिद्धान्त जैन सस्कृति का तो आधारभूत सिद्धान्त है ही पर अन्य दर्शनो ने भी शब्दान्तर के साथ आश्रय लिया है, सच बात तो यह है कि 'अनेकान्त' व स्याद्वाद के बिना कोई भी दार्शनिक विवेचन अधूरा रहेगा, वक्ता मूक व लडखडाता रहेगा, वाणी अव्यवस्थित रहेगी व सिद्धान्त पगु !

स्याद्वाद की सर्वव्यापकता

ईशावास्योपनिषद मे आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है—

तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः। अर्थात् आत्मा चलती भी है, दूर भी है, समीप भी है सबके अन्तर्गत भी है और बाहर भी है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती से किसी ने पूछा—आप विद्वान है या अविद्वान ? तो उन्होंने उत्तर दिया—दार्शनिक क्षेत्र में विद्वान हू और व्यापारिक क्षेत्र मे अविद्वान।

बुद्ध के विभज्यवाद को भी एक प्रकार से अनेकान्तवाद ही कह सकते है।

साख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मान कर स्याद्वाद को ही स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद मे भी—'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋग्वेद—१६४, ४६) एक ही सत् तत्त्व को विद्वान् विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। यह स्याद्वाद का बीज वाक्य है।

शकराचार्य ने सत्य की तीन अवस्थाए मानी और उन्हे नाम दिया, परमार्थसत्य, व्यवहार-सत्य और प्रतिभाससत्य।

ब्रेडले ने एक ही वाक्य मे कहा है कि झूठी से झूठी वात मे भी सत्य रहता है। अल्प से, अल्प पदार्थ मे भी सत् तत्व रहता है।

और यह पक्ति—**दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्**—इस लोक मे दिखाई देनेवाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है न निर्गुण है। वस्तु के अनेक रूपो को ध्वनित करती है।

'लुई फिशर' ने गाधी जी का एक वाक्य लिखा है "मैं स्वभाव से ही समझौतापसद व्यक्ति हू क्योकि मैं ही सच्चा हू ऐसा मुझे कभी विश्वास नही होता।"

आधुनिक विज्ञान ने भी अपने अन्वेषणो के माध्यम से इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। विज्ञान ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिन पदार्थों को हम स्थित, नित्य और ठोस समझते हैं वे पदार्थ बडे वेग से गतिशील है, इतना ही नही परिवर्तनशील एव खोखले भी है।"

प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्वर्ट आइस्टीन ने कहा—हम तो केवल सापेक्षिक सत्यो (Relative Truth) को जान सकते है, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकता है।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त पदार्थों को सत् और असत् इन दो मे समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता एव विश्व की विविधता सिद्ध की है। प्लेटो ने कहा—हम लोग महासागर के किनारे खेलनेवाले उन बच्चो के समान हैं जो अपनी सीपियो से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं। हम उन सीपियो से महासागर का पानी खाली नही कर सकते फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियो मे जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं वे उस सागर के पानी का एक ही अश है, इसमे कोई सशय नही और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ सम्पूर्ण सत् और असत् के बीच अर्ध सत् जगत मे रहते हैं। (सी० ई० एम० जोड—फिलासोफी फार आवर टाइम्स पृष्ठ, ४९)

उसने जगत को सदसद् कहते हुए कहा—पानी, वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य 'आदि हैं' और "नही है", अर्थात् एक दृष्टि से है और अन्य दृष्टि से 'नही है' अथवा एक समय मे 'है' और दूसरे समय मे 'नही है' अथवा न्यून या अधिक है, अथवा परिवर्तन या विकास की क्रिया से गुजर रहे हैं। वे 'सत्' और असत् दोनो के मिश्रण रूप से है अथवा सत् और असत् के बीच मे है—(एरिक-लेअन-प्लेटो पृष्ठ, ६०)

उसकी व्याख्या के अनुसार नित्य वस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन सायन्स (विद्या) है और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आकलन अथवा सपूर्ण अज्ञात 'नेस्यन्स' (अविद्या) है किंतु इन्द्रिय-गोचर जगत् सत् और असत् के बीच का है। इसलिए उसका आकलन भी 'सायन्स' 'नेस्यन्स' के बीच का है। (वही पृष्ठ ६४)।

उसने इसके लिए 'ओपिनियन' शव्द का प्रयोग किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नालेज' का अर्थ पूर्ण ज्ञान है और 'ओपिनियन' का अर्थ अश ज्ञान है। उसने 'ओपिनियन' की व्याख्या 'सभावना विपयक विश्वास' (Truse in Probabilitics) भी की है। अर्थात् ऐसा होना भी सभव है तुझे ऐसा लगता है।

एक तामिल लोकोक्ति को भी देखिए—स्याद्वाद की कितनी स्पप्ट ध्वनि है उसमे **"मलयत्तन पापई कडिय तन पुण्य"** अर्थात् मलय पर्वत जितने पाप मे भी तृण जितना पुण्य रहता ही है। वडे मे वडे पापी मनुष्य मे भी पुण्य का कुछ अश तो होता ही है।

आज की आवश्यकता

इस प्रकार विश्व के लगभग सभी दर्शनो ने स्याद्वाद को स्वीकार किया है। वस्तुत स्याद्वाद भेदो मे अभेद देखने की दिव्य दृष्टि देता है, संघर्पो मे समन्वय की सृष्टि करता है, स्याद्वाद सकीर्णता को तनिक भी स्थान नही देता। स्याद्वाद हमेशा यही दृष्टि लेकर चलता है कि जो भी सच्चाई है वह मेरी है, भले ही वह किसी भी जाति, धर्म, शास्त्र, ग्रन्थ आदि मे ही क्यो न हो स्याद्वाद ही धार्मिक सहिष्णुता एव सर्व धर्म समभाव का सर्जक है, न केवल धार्मिक, अपितु वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रत्येक क्षेत्र मे आनद का सचार करनेवाला है।

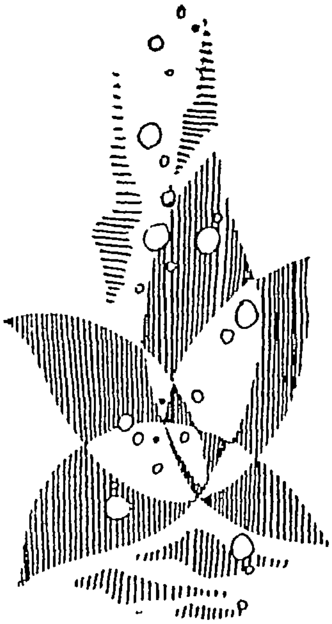
वडे खेद के साथ कहना पडता है कि कहा तो जैन सस्कृति का इतना उदार दृष्टिकोण और कहा है आज हम? आज हम अनेकात के गीत उछल-उछल कर गाते है, लम्बी चौडी वाते वनाते हैं पर आज हमारा अन्तर अनेकात से एकदम रिक्त है, सूना है, सच तो आज हम 'एकातवाद' के परले सिरे के पुजारी वन वैठे है। जिस स्याद्वाद के माध्यम से जैन आचार्यो ने परस्पर विरोधी दर्शनो मे समन्वय करने का प्रयास किया, वही जैन समाज आज एक प्रकार के कलहो से ग्रस्त हो गया। आनदघनजी ने ठीक ही तो कहा—**'गच्छना वहु भेद नयने निहालता तत्व नी बात करता, तमे लाज नी आवै।**

अनेक छोटी-छोटी वाते जो तथ्यहीन है, जिनमे कोई चेतना नही, व्यर्थ ही उन्हे पकड कर आज हम मुट्ठी भर जैन परस्पर लड रहे है, सघर्ष कर रहे हैं। दिगम्वर किधर तो श्वेताम्वर किधर। और तो क्या, आज स्थानकवासी, स्थानकवासी भी एक नही, एक दूसरे पर कीचड उछाला जा रहा है, हम सच्चे हैं, उत्कृष्ट आचारवान है, तुम झूठे हो, शिथिलाचारी हो। जमाना किधर जा रहा है और हम? कुछ लिखा नही जाता कितनी विचित्र स्थिति है आज हमारी?

महावीर का जो स्याद्वाद अथवा अनेकान्त सिद्धान्त विश्व की उलझी हुई कडियो को सुलझाकर विश्व एकता का उज्ज्वल आदर्श लेकर आया, उस अमूल्य थाती को पाकर भी हम जहर फैला रहे हैं, परस्पर विभिन्न प्रकार की भिन्नताओ मे विभाजित हैं। इससे वढकर और क्या भाग्य-हीनता हो सकती है! आवश्यकता है परस्पर प्रेम, स्नेह, सौहार्द का वातावरण पैदा करने के लिए इसे हृदय की गहराई से आत्मसात् करे, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन की वीणा के तार जो बुरी तरह से उलझ गए हैं—और उनसे जो वेसुरी आवाज आ रही है, सुमधुर सगीत सुनने के लिए स्याद्वाद के द्वारा उन्हे सुलझाए।

★

❀ देवता बान्धवा सन्तः ❀
संत - सवसे बड़े देवता व जगद्‌बंधु हैं।



जैन और बौद्ध-दर्शन

एक तुलनात्मक समीक्षा

—डा० भागचन्द जैन 'भास्कर' एम ए पी-एच डी
अध्यक्ष—पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

आध्यात्मिक चिन्तन की दिशा मे श्रमणदर्शन का योगदान अविस्मरणीय है। जैन-बौद्ध आदि श्रामणिक चिन्तको ने जिस समानता और निष्पक्षता की आधारशिला नियोजित की है, वह विश्व-दर्शन के सौम्य प्रासाद की सरचना मे नि सन्देह नीव के पत्थर के रूप मे कार्य कर रही है। समाज की चतुर्मुखी प्रगति और उत्थान की पृष्ठभूमि मे उसका विशेष मूल्याङ्कन किया जाना अपेक्षित है।

जैन-बौद्ध धर्म के पुरस्कर्ता और सस्थापक चिन्तन की लगभग समान भूमि पर प्रतिष्ठित रहे। भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने जिस क्रान्तिकारी मार्ग को पकडा वह मूलत परस्पर बहुत अधिक भिन्न नहीं था। यही कारण है कि दोनो चिन्तक किसी विषय पर समान रूप से सोचते हुए दिखाई देते हैं, तो कही एक गम्भीर होता है और दूसरा व्यावहारिक। उनकी मन स्थिति और चिन्तन परम्परा ने दोनो दर्शनो को अपने-अपने ढग से प्रभावित किया है। उत्तरकाल मे यह चिन्तन अधिक गहरा होता गया। परिवेश के आधार पर प्रत्येक दर्शन की शाखा प्रशाखाओ का भी उद्भव हुआ। फलत चिन्तन की गहराई बढती गई। इसके बावजूद मूल भूमिका से वे अधिक तिरोहित नही हुए।

प्रस्तुत निबन्ध मे हम इसी उद्देश्य को लेकर सक्षेप मे जैन-बौद्ध दर्शन मे सादृश्य और वैसादृश्य को उपस्थित करते हुए उन पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत करेंगे।

१ समाज व्यवस्था—

श्रमण-सस्कृति सम, शम और श्रम पर आधारित है, अत समाज और सास्कृतिक व्यवस्था की दृष्टि से दोनो दर्शनो मे कोई विशेष भेद नही। वैदिक सस्कृति जैसी जातिवाद की सीमा यहाँ नही। यहा तो व्यक्ति को कर्म से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र कहा गया है। उत्तराध्ययन मे कहा है कि "केवल मुण्डन से श्रमण, ओकार के जपन से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि और कुश-चीवर धारण से तपस्वी नही होता, प्रत्युत समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तपाराधन से तपस्वी होता है।"[1] हरिएसिज्ज अध्याय इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है।

---

१ न दीसई जाइविसेस कोई —उत्तरा० १२।३७

रविषेण ने इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह शूद्र अथवा चाण्डाल है इसलिए गर्हित है और यह ब्राह्मण है इसलिए पूज्य है, यह तथ्य संगत नही। वस्तुत गुण कल्याणकारी होते है, क्योकि कर्म से कोई चाण्डाल ही क्यो न हो, यदि वह व्रती है तो वह ब्राह्मण माना गया है :—

न जातिर्गर्हिता काचित् गुणा. कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डाल तं देवा ब्राह्मण विदु ॥[१]

भगवान् बुद्ध ने भी समाज की व्यवस्था का यही आधार बनाया। पालि त्रिपटक के प्रमुख ग्रन्थ सुत्तनिपात आदि मे जातिवाद और वर्णवाद को जन्मना न मानकर कर्मणा स्थिर किया गया है। बुद्धघोष ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ नही। उसकी श्रेष्ठता तो उसके उत्तम कर्म, विद्या, धर्म और शील से है—

कम्म विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तम।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा ॥[२]

जैन-बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचने का अधिकार है। उसमे उसे किसी ईश्वर के प्रसाद की आवश्यकता नही। वह तो उसके स्वय के पुरुषार्थ का फल होता है।

२ कर्मकाण्ड की निरर्थकता—

दोनो दर्शनो मे कर्मकाण्ड की उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह खडा किया है। बुद्ध और महावीर दोनो ने प्रारम्भ मे ही वैदिक कर्मकाण्ड की तीव्र निन्दा की थी। उनकी लोकप्रियता का भी यह कारण सिद्ध हुआ। दोनो महापुरुष क्रियावादी थे और अक्रियावाद के घोर निन्दक थे। अगुत्तर निकाय मे एक उद्धरण आता है जहा निगण्ठनातपुत्त बुद्ध को अक्रियावादी कह कर उनकी आलोचना करते हैं। बुद्ध इसका उत्तर देते है और कहते हैं कि वे क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो हैं। अक्रियावादी इसलिए है कि अकुशल कर्मो को न करने का उपदेश देते हैं और क्रियावादी इसलिए है कि कुशल कर्मो को करने का उपदेश देते हैं।[3] बुद्ध की यह व्याख्या अपने ढग की है।

जैन दर्शन भी कर्मकाण्ड को मुक्तिदायक नही मानता। सद्भाव से की गई अर्चा, पूजा अवश्य शुभोपयोग का कारण है[४] पर मात्र कर्मकाण्ड सद्गति देने मे सहायक नही हो सकता। दोनो दर्शनो के उत्तरकालीन विकास मे कर्मकाण्ड का कुछ भाग समाहित हो गया। विशेषरूप से जैन दर्शन मे समागत कर्मकाण्ड का उत्तरदायित्व आचार्य जिनसेन को है। आदिपुराण मे प्रतिपादित कर्मकाण्ड का विरोध सोम देव ने यशस्तिलकचम्पू मे किया अवश्य, पर कुछ दबी आवाज मे। सम्भवत उस समय तक वह अधिक प्रचलित हो गया होगा। बौद्धदर्शन का कर्मकाण्ड तो महायान और तन्त्रयान तक पहुँचते-पहुचते अत्यन्त वीभत्स हो गया। और यदि यह कहा जाय कि वही कर्मकाण्ड बौद्धधर्म को पतित एव विनष्ट करने मे कारण बना तो अत्युक्ति नही होगी।

---

१ पद्मचरित, ११।२०३
२. विसुद्धिमग्गो
३ अगुत्तरनिकाय (रोमन), भाग ४, पृ० १८२
४. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार

कर्मकाण्ड का यह प्रकोप जैन दर्शन को नही झेलना पडा। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनाचार्य उस पर यथासमय अकुश लगाते रहे। कर्मकाण्ड यहा अपनी सीमा का अतिक्रमण नही कर सका। शायद यही कारण है कि भट्टारकीय परम्परा द्वारा प्रदत्त कर्मकाण्ड घातक न होकर किसी अश तक साधक ही रहा।

३ आत्मा एव पुर्नजन्म—

दोनो दर्शन पुनर्जन्म को एक मत से स्वीकार करते है। पर आत्मा के विपय मे कुछ मत भेद है। जैन दशन मे आत्मा (जीव) के स्वरूप को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचार किया गया है। द्रव्यत वह उपयोगमयी, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, ससारस्थ, सिद्ध और ऊर्ध्वगामी है, तथा पर्यायत वह ससार मे भ्रमण करनेवाला है।[१] रागादि कारणो से आत्मा को अनादिवद्ध माना गया है। यह अनादिवद्धता दूर की जा सकती है, यदि व्यक्ति को स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाये। इसी को जैन दार्शनिक परिभापा मे भेद-विज्ञान कहा जाता है। यही आत्मदृष्टि है। इसी को सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आत्मा मूलत विशुद्ध और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणो से युक्त माना गया है।[२] मुक्तावस्था मे ये गुण उसमे पूर्ण रूप से प्रगट हो जाते हैं। गुण कभी की गुणी से पृथक् नही रह सकता। किसी कारण से आवृत भले ही हो जाये। मोहादि कारणो से यह आवृतावस्था वनी रहती है। उनके दूर होने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध दर्शन के विपय मे साधारणत यह माना जाता है कि वह आत्मवादी नही है। पर हमारा मत है कि बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व को कभी अस्वीकार नही किया। छठी शताब्दी ई० पू० मे तीर्थिक आत्मवाद को लेकर परस्पर तीक्ष्ण विवाद किया करते थे और जन समुदाय को विमोहित करने का प्रयत्न करते थे।[३] बुद्ध ने यह देखकर उससे दूर रहने का प्रयत्न किया और आत्मा की सर्वप्रथम अपने ढग से यह व्याख्या की कि चूकि यह समूचा जगत् अनित्य, भयावह और दुखकारी हैं अतएव इसे अनात्म (अपना नही है) मानो।[४] ज्ञान प्राप्ति का यही साधन है। तथागत के शिप्यो ने उसके वाद अत्तभाव की परवर्ती व्याख्या अहभाव भी की, जिसका परित्याग निर्वाणोन्मुख व्यक्ति के लिए अपरिहार्य है।

इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि बुद्ध ने ससार से वैराग्य जागृत करने के लिए दुख समुदय-निरोध की भावना से अनात्मवाद की स्थापना की। इसीलिए दुख-समुदय का मूल कारण तृष्णा का निरोध हो जाने से प्रतिसख्याज्ञान की उत्पत्ति वतायी है। ५ स्कन्ध, १२ आयतन और १८ धातु, इन ३६ धर्मों को तथागत ने अनात्मा माना और उनसे आसक्ति तथा मोहाच्छन्नता को दूर करने का उपदेश दिया है।[५] अनात्मवाद के विकास का यह प्रथम चरण है।

---

१ तत्वार्थसूत्र २-८-९, उत्तराध्ययन, २८-१०, द्रव्यसग्रह, ३-१३,

२ नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा,
वीरियं उवओगो य एय जीवस्स लक्खण ॥ —उत्तरा० २८।११

३ दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, आदि, सूयगडाग प्रथम अध्याय।

४ पटिसम्भिदामग्ग, २,१००-१।

५. मज्झिमनिकाय, ३,५,६

२०

जन समुदाय ने वुद्ध के इस व्यावहारिक दृष्टिकोण के अनुकरण की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखायी। उत्तरकाल मे वुद्ध के शिष्यो ने विशेष रूप से अनात्मवाद की प्रस्थापना मे तीव्र आयास किया। विकास की इस चरम सीमा तक पहुचने के लिए अनात्मवाद को अनेक चरण पार करने पडे। इसमे नागार्जुन और आर्य देव की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण रही।

वौद्धधर्म मे आत्मवाद की जो जैसी भी स्थिति वनी, पर यह निश्चित है कि वहा आत्मा के अस्तित्व को मूलत अस्वीकार नही किया गया। जहा तक कर्म का प्रश्न है, वौद्धधर्म ससारी को कम्म-दायाद, कम्मयोनि और कम्मपटिसरण कहता है।[१] कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। कर्म और पुनर्जन्म के स्वीकार करने से आत्मा की असत् स्थिति कमजोर हो जाती है। शायद इसीसे वचने के लिए वौद्धधर्म ने आत्मा के स्थान पर सन्तान आदि शव्दो का प्रयोग किया हो। जन्मान्तर ग्रहण मे प्रथम जन्म के अन्तिम विज्ञान का अन्त होते ही दूसरे जन्म के प्रथम विज्ञान का प्रारम्भ माना है।

जैनदर्शन मे इस प्रकार आत्मा के जिस स्वरूप को स्वीकार किया गया है, वौद्ध दर्शन सन्तान, विज्ञान आदि शव्दो के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से उस स्वरूप को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है।

(४) प्रमाण स्वरूप—

प्रमाण का लक्षण साधारणत यह किया जाता है—"**प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्**" अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थो का ज्ञान हो वह प्रमाण है। प्रमाण के इस स्वरूप पर दार्शनिको मे काफी विवाद होता रहा है। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण कहा।[२] वाद मे सिद्धसेन ने उसमे 'वाधविवर्जित' शव्द और जोड दिया।[३] अकलक ने प्रमाण पर और मन्थनकर उसे कही व्यवसायात्मक[४] कहा और कही अविसवादी होना आवश्यक वताया।[५] विद्यानन्द ने उसे और स्पष्ट कर सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा[६] तथा माणिक्यनन्दि ने अकलक की परिभाषा मे 'अपूर्व' पद जोडकर उसे अनिश्चित अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण स्वीकार किया है।[७]

प्रमाण लक्षण की इस जैन परम्परा से यह स्पष्ट है कि वहा स्वसवेदित्व, अविसवादित्व अथवा व्यवसायात्मकत्व जैसे विशेषण दिये गये हैं। यहा "**प्रमाकरण प्रमाणम्**" मे प्रमा का मूल करण क्या है, यह विशेष विवाद का प्रश्न है। न्यायवैशेषिक सन्निकर्ष और ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, साख्य इन्द्रियवृत्ति को, प्रभाकर अनुभूति को और जैन ज्ञान को ही करण मानते हैं। जैनदर्शन मे इस प्रमा को चेतन स्वीकार किया गया है। चेतन क्रिया मे साधकतम करण चेतन ही हो सकता है, अचेतन नही। अत यहा प्रमा का करण ज्ञान हो सकता है, सन्निकर्ष नही।

---

१ वही, ३-४५
२ स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि वुद्धिलक्षणम्—**वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र, ६३**
३ प्रमाण स्वपराभासिज्ञान वाधविवर्जितम् –**न्यायावतार, १**
४ व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम्—**लघीयस्त्रय-६०**
५ प्रमाणमविसवादिज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्—**अष्टशती अष्टसहस्री, पृ० १७४**
६ सम्यग्ज्ञान, प्रमाण स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान—**प्रमाणपरीक्षा**
७ स्वापूर्वार्थव्यसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्—**परीक्षामुख, १**

बौद्ध परम्परा मे अविसवादिज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है और सारूप्य, तदाकारता और योग्यता को करण माना गया है ।

प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः ।
अविसवादनं शाब्देस्वभिप्रायनिवेदनात् ॥[1]

इस स्थिति मे सवसे वडा प्रश्न यह है कि अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थों के आकार रूप मे कैसे परिणत हो सकता है । यह आवश्यक नही कि ज्ञान मे जो ज्ञेय प्रतिभासित हो वे सशयादि दोपो से निर्मुक्त ही हो । अन्यथा सीप मे चादी का प्रतिभास कैसे होता ! फिर भी बौद्धदर्शन मे ज्ञान जैन-दर्शन की तरह स्वसवेदत्व धर्म से विभूपित है । वह मीमासको के समान न तो परोक्ष है, नैयायिको के समान न ज्ञानान्तरवेद्य है और न साख्यो के समान प्रकृति का धर्म है । विज्ञानवाद वाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नही करता अत वहा अविसवाद और प्रामाण्य व्यवहाराश्रित है । परन्तु सौत्रान्तिक वाह्यार्थवादी है । अत यह अविसवादित्व स्वलक्षण पर आधारित है ।

आचार्य अकलक ने अपने प्रमाण के लक्षण मे जो 'अविसवादि' शब्द नियोजित किया है वह निश्चित ही बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति की देन है । उनके ही द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के लक्षण का अनुकरण किया गया है । अकलक ने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही कहा है और कथञ्चित् अपूर्वग्राही ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि मे रखा है । बौद्ध और मीमासक भी ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करते है । इस प्रमाण से सम्बन्ध धारावाहिक ज्ञान का है । धारावाहिकज्ञान का तात्पर्य है—उत्तरकाल मे लगातार ज्ञान का होना । बौद्ध धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नही मानते जवकि मीमासक उसे स्वीकार करते है ।

दिगम्बर जैन परम्परा मे धारावाहिक ज्ञान को लेकर दो विचारधारायें हैं । प्रथम परम्परा अकलक की है जिसके अनुसार धारावाहीज्ञान प्रमाण नही है, पर यदि उसका उत्तरवर्ती ज्ञान कुछ वैशिष्ट्यमय हो तो उसे प्रमाण कहा जा सकता है । यह मत अनेकान्तवाद पर आश्रित है । द्वितीय परम्परा विद्यानन्द[2] और प्रभाचन्द्र[3] की है । उसके अनुसार 'अपूर्व' विशेपण की कोई आवश्यकता नही । धारावाहिकज्ञान ग्रहीतग्राही हो अथवा अग्रहीतग्राही । यदि वह 'स्वार्थ' का विनिश्चायक है तो उसे प्रमाण कहा जायगा । स्मृति को यदि ग्रहीतग्राही होने से प्रमाण नही कहा जा सकता तो धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण नही हो सकता । श्वेताम्वर परम्परा निर्विवाद रूप से धारावाही ज्ञान को प्रमाण मानती है ।[4]

प्रामाण्य व्यवस्था मे भी जैन-बौद्ध दर्शन मे अन्तर है । जैन-दर्शन अभ्यासदशा मे स्वत और अनभ्यासदशा मे परत प्रामाण्य मानता है ।[5] अभ्यस्तदशा का तात्पर्य है परिचित परिस्थितिया और अनभ्यस्तदशा का तात्पर्य है अपरिचित परिस्थितिया । मीमासक वेद को स्वत प्रमाण मानते हैं क्योकि

---

१ प्रमाणवार्तिक, २ १ प्रमाणसमुच्चय, पृष्ठ २४
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १ १०
३ प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ-५६
४ प्रमाणमीमासा १ १ ४
५ तत्प्रामाण्य स्वत परतश्च—परीक्षामुख, १ १३

प्रथम तो वह अपौरुषेय है और फिर नियमो आदि का विधायक है।[१] मीमासक उसे स्वत न मानकर परत —प्रामाण्य मानते हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि वेद ईश्वरकर्तृक है।[२] साख्य दोनो को स्वत और नैयायिक दोनो को परत मानते हैं। इन सभी से भिन्न बौद्धो का मत है। उनके अनुसार दोनो, प्रामाण्य और अप्रामाण्य—अपनी अवस्था विशेप पर निर्भर रहते हैं।[३] बौद्धो की यह प्रामाण्य-व्यवस्था निश्चित ही उत्तरकालीन है।

प्रमाण सप्लव मे अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति एक ही प्रमेय मे देखी जाती है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी होने के कारण अनिश्चित अश के निश्चित करने मे प्रमाणसप्लव को स्वीकार करता है।[४] पर बौद्ध चूकि क्षणिकवादी हैं, इसलिए वहा प्रमाणसप्लव के लिए क्षेत्र है ही नही।

५ प्रमाण भेद—

दार्शनिको मे प्रमाण-सख्या एक से लेकर छह तक देखी जाती है। सब से कम सख्या चार्वाक् दर्शन मानता है और सबसे अधिक मीमासक।

१ चार्वाक्	—प्रत्यक्ष
२ जैन	—प्रत्यक्ष और परोक्ष
३. बौद्ध	—प्रत्यक्ष और अनुमान
४ वैशेपिक	—प्रत्यक्ष और अनुमान
५ साख्य	—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द
५ नैयायिक	—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान
७ मीमासक	—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव

जैनदर्शन मे प्रमाण की चर्चा प्रारम्भ करने का श्रेय आचार्य उमास्वाति को है। उनके पूर्व आगम युग मे ज्ञान और ज्ञेय पर विचार किया गया है। उसी आधार पर कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किये हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। उमास्वाति ने इस परम्परा को स्वीकार कर उनके पूर्व मान्य ज्ञान के पाच भेदो का विभाजन कर दिया। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कह दिया और अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान के अन्तर्गत रख दिया।[४]

जैनदर्शन आत्मिक-प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परोक्ष। यह मान्यता बिलकुल निराली है। उसके प्रतिपक्ष मे जैनेतर दार्शनिको ने अनेक प्रश्न किये। फलत प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये—साव्यावहारिकप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्ष अथवा पारमर्थिकप्रत्यक्ष। जैनतर दर्शनो मे जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता था उस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को यहा साम्व्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नियोजित कर दिया। तथा स्मृति आदि प्रमाणो को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया।[५] अकलक के उत्तरवर्ती विद्वा-

---

१ न्यायकुसुमाञ्जलि, २-१

२ तत्त्वसग्रहपञ्जिका, का ३१२३

३ अप्टसहस्री, पृ ४

४ आद्ये परोक्षम् प्रत्यक्षमन्यत्—तत्त्वार्थसूत्र, १ ११-१२

५ लघीयस्त्रय, १०.

नन्द आदि आचार्यों ने और तो सब स्वीकार कर लिया पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रमाण को परोक्ष के अन्तर्गत सयोजित किया। इस प्रकार प्रमाण के भेद जैनदर्शन मे इस प्रकार निश्चित हुए—

- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
    - साव्यावहारिक
      - अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा
    - पारमार्थिक (मुख्य)
      - अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान केवलज्ञान
  - परोक्ष
    - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम

बौद्धदृष्टि मे प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये भेद उसके प्रमेय विषयक मान्यता पर आधारित हैं। प्रमेय दो प्रकार के हैं स्वलक्षणात्मक और सामान्यलक्षणात्मक। स्वलक्षण मे वस्तु का स्वरूप शब्दादि के विना ही ग्रहण किया जाता है। यह वस्तु-ग्रहण प्रत्यक्ष का विपय है। पर सामान्यलक्षण मे वस्तुग्रहण अनेक वस्तुओ के साथ होता है। यही वस्तुग्रहण अनुमान का विपय होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आगमादि प्रमाणो का अन्तर्भाव अनुमान मे ही हो जाता है क्योकि शब्दादि से सम्वद्ध परोक्ष अर्थ का वोध लैङ्गिक होता है जो अनुमान का ही पर्यायवाचक है। अर्थापत्ति, स्मृति, अभाव, प्रत्यभिज्ञान, उपमान आदि प्रमाणान्तरो को भी अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। क्योकि उनके मतानुसार सम्वद्ध अर्थ का ज्ञान शव्द से ही होता है और वह शव्द लिङ्ग रूप ही है। अत लिङ्ग रूप से उत्पन्न ज्ञान लैङ्गिक अथवा अनुमान ही होगा। वौद्धो का यह प्रमाण-भेद दार्शनिक युग की देन है।

६ प्रत्यक्ष प्रमाण—

जैनदर्शन मे स्पष्ट अथवा विशद ज्ञान को प्रयत्क्ष कहा गया है।[१] विशदज्ञान वह है जिसे ज्ञानान्तरो की सहायता अपेक्षित नही होती।[२] यह विशद ज्ञान आत्मिक ज्ञान होने पर ही सभव है। उसके कालान्तर मे दो भेद हुए—साव्यावहारिकप्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इसके विपय मे हम पीछे प्रमाण-भेद के सन्दर्भ मे लिख चुके है। वहाँ निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमा मे आता हैं।

वौद्ध दर्शन मे भी प्रत्यक्ष की परिभाषा मे विशदत्व अपेक्षित है।[३] यह विशदत्व निर्भ्रान्त होना

---

१ प्रत्यक्ष लक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमञ्जसा—न्यायविनिश्चय, ४

२ लघीयस्त्रय, ४

३ प्रत्यक्षकल्पनापोढ वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्—तत्वसग्रह, १२३४

चाहिए ।[1] यहा निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के वाद ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक ज्ञान को विशदता सविकल्पक मे प्रतिभासित होने लगती है। परन्तु जैनदर्शन इसे स्वीकार नही करता। उसके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान निराकार होता है और निराकार ज्ञान निश्चयात्मक कैसे हो सकता है ?

सन्निकर्षजन्य पदार्थज्ञान होने के सन्दर्भ मे जैन मान्यता चक्षु और मन को ही अप्राप्यकारी मानती है पर बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी स्वीकार करते हैं। पर यदि वह अप्राप्यकारी होता तो श्रोत्र के ही भीतर प्रविष्ट मच्छर आदि का शब्द नही सुनाई देना चाहिए।

बौद्धदर्शन मे प्रत्यक्ष के चार भेद मिलते हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसवेदनप्रत्यक्ष, और योगिप्रत्यक्ष। स्वलक्षण को विषय करनेवाला इन्द्रियप्रत्यक्ष है। मन से उत्पन्न होनेवाला मानसप्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक ज्ञान को स्वसवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है और समाधि से उत्पन्न प्रत्यक्ष को योगिप्रत्यक्ष कहा है। यहा प्रथम तीन प्रत्यक्ष जैन दर्शन के साव्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप मे है और अन्तिम योगिप्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

हीनयान द्वारा अनात्मवाद स्वीकार किये जाने पर वस्तुप्रत्यक्ष आन्तरिक बाह्येन्द्रियो पर निर्भर हो गया, माध्यमिको ने शून्यवाद की स्थापना की और विज्ञानवादियो ने आलयविज्ञान को प्रस्तावित कर अनात्मवाद के विपरीत उपस्थित प्रश्नो को समाधानित करने का प्रयत्न किया। यही विज्ञानधारा आलयविज्ञान और प्रवृत्तिज्ञान के क्रम से पदार्थदर्शन करती हैं। क्षणभगवाद की स्थिति मे इन्द्रियसपर्क होते ही वस्तु अतीत हो जाती है और तज्जन्य ज्ञान अर्थ के आकार मे परिणत हो जाता है।[2]

७. परोक्षप्रमाण—

अविशद ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। अविशद ज्ञान वह है जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति मे अन्य ज्ञानो की अपेक्षा रखे। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम प्रमाणो का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण मे हो जाता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष अशत विशद होने से प्रत्यक्ष की सीमा मे आ जाते हैं।

स्मृतिप्रमाण—पूर्वज्ञात वस्तु का स्मरण होना स्मृतिप्रमाण है। अनुमानादि मे भी स्मृति का होना आवश्यक है। बौद्ध स्मृति चूकि ग्रहीतग्राही है अत उसे प्रमाण कैसे कहा जाय ? पर इस स्थिति मे तो कभी प्रत्यक्ष भी अप्रमाण की कोटि मे आ जायगा।

प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मृति के माध्यम से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। बौद्ध इसे भी प्रमाण नही मानते। उनका कहना है कि स्मृति और प्रत्यक्ष ये दोनो परस्पर विरोधी प्रमाण हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? पर वस्तुत यह सही नही। क्योकि अनुमान मे प्रत्यभिज्ञान भी एक कारण है।

तर्कप्रमाण—व्याप्ति-ज्ञान को तर्क कहते है। साध्य-साधन के अविनाभाव को व्याप्ति कहा जाता है। अविनाभाव का तात्पर्य है साध्य के बिना साधन का न होना अथवा साधन के बिना साध्य का[1]

---

१ प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादिसयुतम्—प्रमाणवार्तिक, ३-२४३

२ प्रमाणवार्तिक, ३, २८७

३ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः—लघीयस्त्रय १, १६

का न होना । तर्क प्रमाण मे प्रत्यक्ष, स्मरण और साहृश्य प्रत्यभिज्ञान का कारण होते है, व्याप्तिज्ञान मे प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ कारण होते हैं ।

बौद्ध तर्क को भी स्वीकार नही करता क्योकि वह प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत विपय का ही सग्राहक हैं ।[1] पर जैन उसे अपने विषय मे अविसवादी होने से प्रमाण मानते हैं । आचार्य अकलक इस मत के विशेष पुरस्कर्ता हैं ।

८ अनुमान प्रमाण—

साधन (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्ग) का ज्ञान होना अनुमान है ।[2] जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान होना साधन और साध्य के बीच अविनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए । इसलिए अकलक ने उसे साधन (हेतु) का लक्षण 'साध्याविनाभाव' किया है । 'अन्यथानुपपत्ति' भी उसका लक्षण किया जाता है ।

बौद्धदर्शन मे साध्याविनाभाव को हेतु का लक्षण न मानकर उसके तीन लक्षण स्थापित किए हैं —पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षअसत्व । यही त्रैरूप्य ही हेतु का लक्षण है । यह लक्षण असिद्ध, विरूद्ध और अनैकान्तिक दोषो से विरहित है ।

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । स्वार्थानुमान वह ज्ञान है जो निश्चित साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान कराये और परार्थानुमान वह ज्ञान है जो अविनाभावी साध्य-साधन के वचनो से साध्य का ज्ञान कराए । इस परिभापा के आधार पर स्वार्थानुमान को ज्ञानात्मक और परार्थानुमान को शव्दात्मक कहा जा सकता है । स्वार्थानुमान के तीन अङ्ग हैं—धर्मी, साध्य और साधन । धर्मी को पक्ष भी कहा जाता है । परार्थानुमान के दो अवयव है—प्रतिज्ञा और हेतु ।

उपर्युक्त हेतु के स्वरूप को नैयायिक पञ्चरूप वाला मानते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अवाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व । त्रैरूप्यवादी बौद्ध हेतु के इन पचरूप मे से अवाधित-विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक मानते है । तथा अविनाभाव को तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियत वताते हैं । वहाँ हेतु के तीन भेद कहे गए हैं—स्वभावहेतु, कार्यहेतु, और अनुपलव्धिहेतु । प्रथम दो हेतु विधिसाधक हैं और अन्तिम हेतु प्रतिपेधसाधक हैं । जैनदर्शन मे हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण पूर्वचर, उत्तरचर, और सहचर भेद किये गये हैं । जैनदर्शन मे हेतु के सामान्यत दो भेद मिलते हैं—उपलव्धिरूप और अनुपलव्धिरूप । ये हेतु विधेयात्मक और प्रतिषेधात्मक होते है । उनमे प्रत्येक के ६ भेद हैं—स्वभाव, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर । बौद्धदर्शन मे स्वभाव और कार्य ये दो ही भेद स्वीकार किये गये है । जैन दर्शन मे हेतु का एक ही रूप माना गया है—अविनाभाव । उसके दो भेद हैं—सहभावनियम और क्रमभाव नियम ।

९. हेत्वाभास—

हेतु के स्वरूप से विरहित होकर भी जो हेतु की तरह प्रतिभासित होता हो वह हेत्वाभास कहलाता हैं । नैयायिक हेतु के पचरूप के समान पाच हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक

---

१ प्रमाणवार्तिक, मनोरथ, पृ०७

२ साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्—**न्यायविनिश्चय** १६७

३ प्रमाणवार्तिक, ३, १४

कालात्ययपदिष्ट और प्रकरण-सम । बौद्ध त्रैरूप्य के रूप मे तीन हेत्वाभास मानते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकान्तिक । जैन दर्शन मे भी साधारणत इन्ही हेत्वाभासो को स्वीकार किया गया है । पर अकलंक मात्र असिद्ध को हेत्वाभास मानते हैं ।

१० वाद-विवाद—

वादविवाद की परम्परा भारतीय सस्कृति मे बहुत प्राचीन है । मिलिन्दपञ्ह मे वाद के दो रूपो का उल्लेख आया है—पण्डितवाद और राजवाद । पण्डितवाद मे शैक्षणिक स्तर पर वाद विवाद किया जाता है । पर राजवाद मे कठोर अनुशासन बना रहता हे । न्यायशास्त्र मे इसके तीन भेद मिलते हैं—वाद, जल्प और वितण्डा । वीतरागकथा को वाद कहा जाता है । इसमे तत्त्वनिर्णय करना मुख्य उद्देश्य है । यहा छल, जाति आदि निग्रहस्थानो का प्रयोग नहीं किया जाता । परन्तु जल्प और वितण्डा मे जय-पराजय की भावना होती है । और उसमे छलादि निग्रह स्थानो का यथासभव प्रयोग किया जाता है । जैन-दर्शन प्रारम्भ से ही अहिसा, सयम और त्याग की भूमिका पर अडिग रहा ह इसलिए वहा छलादि का प्रयोग किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही किया गया ।[1] बौद्धदर्शन मे उपायहृदय आदि ग्रन्थो मे निग्रह स्थानो का प्रयोग प्रचलित रहा है, परन्तु धर्मकीर्ति ने उनका प्रयोग अनुचित बताया । यहा अहिंसा का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है । इसलिए धर्मकीर्ति ने असाधनागवचन और अदोषोद्भावन नामक दो निग्रह-स्थानो को स्वीकार किया है ।

११ शब्द अथवा आगम-प्रमाण—

शब्द अथवा आगम प्रमाण भी विवादास्पद विषय है । वैशेषिक शब्द को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते है । मीमासक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध बताते हैं तथा शब्द को नित्य मानकर वेद को अपौरुषेय मानते है । वैयाकरणो के अनुसार शब्द क्षणिक होने से अर्थबोधक नही होते अत वे स्फोट नामक एक अन्य नित्य तत्व मानते है तथा यह मत व्यक्त करते हैं कि सस्कृत शब्दो मे ही अर्थबोधक शक्ति होती हैं । पालि-प्राकृत आदि देशी भाषा मे उस शक्ति का अभाव है । जैनदार्शनिक शब्द या आगम प्रमाण को तीर्थकर के वचनो से निबद्ध साक्षात् या प्रणीत ग्रन्थो तक ही सीमित नही रखते, बल्कि व्यवहार मे सकेतादि से उत्पन्न ज्ञान को भी आगम प्रमाण मे गर्भित कर लेते हैं ।

परन्तु बौद्ध शब्द को ही प्रमाण नही मानते, क्योकि शब्द का अर्थ के साथ उनकी दृष्टि मे न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति । उनकी दृष्टि मे शब्द विकल्प-वासना से उत्पन्न होते हैं अत वे बाह्यार्थ का ग्रहण कराने मे असमर्थ है, जैसे—"अगुलि के अग्रभाग मे सौ हाथी हैं ।" इस प्रकार के तथ्यहीन वाक्यो के उच्चारण मे व्यक्ति अथवा वक्ता दोषी नही । क्योकि यदि वक्ता गूगा हो तो वह इस प्रकार का असत्य ज्ञान नही करा सकता । इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने मे तो शब्दो की ही महिमा मूल कारण है । अतः पुरुष भी यदि ये शब्द बोलेगा तब भी असत्य ज्ञान होगा । अत विकल्प-वासना से शब्दो का जन्म होता है और शब्दो से विकल्पो का जन्म होता है । शब्द अर्थ का स्पर्श भी नही कर सकता है ।[2]

---

१ सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि

२ प्रमाणवार्तिक टीका १,पृ० २८८ । जैन न्याय, पृ. १३६ ।

१२. अनेकान्तवाद—

किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ के विपय मे छद्‌मस्थ जीवन परिपूर्ण रूप से जानने मे असमर्थ होता है। चिन्तक अपने-अपने दृष्टिकोण से उसके विपय मे विचार करता है। विचार वैभिन्न्य होने के कारण सघर्प का जन्म होता है। ऐसे ही सघर्पों को दूर करने के लिए जैनदर्शन ने स्याद्वाद (भापागत) और अनेकान्तवाद (विचारगत) की प्रस्थापना की। इस सिद्धान्त मे प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण का समादर किया है। हठ और कदाग्रह की भावना इस विचार मे नही है। पालिसाहित्य मे भगवान वुद्ध ने विभज्जवाद सिद्धान्त को प्रस्तुतकर लगभग इसी भावना को प्रस्फुटित किया है। वहा विभज्जव्याकरणीय के माध्यम से प्रश्नो का विभाजनकर उत्तर प्रस्तुत किया जाता है। अहिंसा की भावना इन दोनो सिद्धातो मे समाहित हैं।

इस प्रकार जैनदर्शन और वौद्धदर्शन मे अनेक सादृश्य और वैसादृश्य परिलक्षित होते है। उनकी पृष्ठभूमि मे श्रमणसस्कृति की मूल भावनाएँ सन्निहित हैं। पर चूकि चिन्तन परम्परा की दिशा कथचित् पृथक् थी इसलिए कालान्तर मे वैसादृश्य वढता गया। सादृश्य की भूमिका अवश्य एक थी। इन सादृश्यो और वैसादृश्यो के वावजूद दोनो दर्शनो ने भारतीय चिन्तन परम्परा को वहुत कुछ दिया है, जिसकी समीक्षा करना अभी भी शेप है।

श्रद्धा और मेधा

जैनदर्शन मे जितना महत्व श्रद्धा का है, उतना ही तर्क का भी है। तर्क के द्वारा वस्तुतत्व का सम्यक् परीक्षण किया जाता है, और फिर श्रद्धा के द्वारा उसका स्वीकरण। श्रद्धा और मेधा का सम्मिलन ही—सम्यग्‌दर्शन है। साधक के लिए आगमो मे इसीलिए दो विशेष शब्दो का प्रयोग हुआ है—'सड्ढी' और 'मेहावी' श्रद्धावान और मेधावान।

बुद्धि को ताक पर रखकर विश्वास करना—अंध-विश्वास है, अंधश्रद्धा है और श्रद्धा-शून्य तर्क-वितर्क करना—केवल कुतर्क, विवाद एवं विग्रह है।

श्रद्धा और मेधा का संतुलित विचार मंथन ही—जैन दर्शन है।

—मधुकर मुनि

जैनधर्म का साधना-मार्ग
एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

—श्री कन्हैयालाल लोढा एम० ए०

'जैनधर्म'—जैन और धर्म दो शब्द से बना है। 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जैसे आग का स्वभाव उष्णता, आग का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अनत-ज्ञान, दर्शन, आनन्द अर्थात् 'सच्चिदानन्द स्वरूप' आत्मा का धर्म है। जब आत्मा का स्वभाव परपदार्थ-पुद्गल के निमित्त से राग-द्वेष, विषय, कषायरूप विकारी अवस्था को प्राप्त हो, अशुद्ध हो जाता है तो वह विभाव कहा जाता है, इसे ही अधर्म भी कहा जाता है और जिन कारणो से यह विभाव अवस्था होती है उन कारणो को भी, उन पर कार्य का आरोप कर उपचार से अधर्म कहा जाता है। अधर्म मिटने पर धर्म स्वत उपलब्ध हो जाता है।

धर्म के दो रूप हैं—पहला आत्मा का स्वभाव रूप धर्म है और दूसरा जिन उपायो, कारणो से विभाव छूटकर स्वभाव की उपलब्धि हो उन उपायो को भी कारण मे कार्य को आरोप कर उपचार मे धर्म कहा जाता है। धर्म के पहले रूप का निरूपण निश्चयनय मे किया गया है और यह साध्य रूप धर्म है। धर्म का दूसरा रूप उपचार पर आधारित है अत. इसका निरूपण व्यवहारनय का विषय है। और यह साधन या साधना रूप धर्म है। अत धर्म के दो रूप हुए—एक निश्चयनय से और दूसरा व्यवहारनय मे। निश्चयनय से 'साध्य' धर्म है और व्यवहारनय मे 'साधना' धर्म है। साधना से ही साध्य की उपलब्धि होती है अर्थात् व्यवहार से ही निश्चय की प्राप्ति होती है। अत साधक को साध्य अर्थात् गन्तव्यस्थल को लक्ष्य करके साधना-पथ पर अपने प्रगतिरथ को सतत आगे बढाते रहना चाहिए।

साधना-पथ के पथिक को ही साधक या जैन कहा जाता है। जैन का अर्थ है जीतने का प्रयत्न करनेवाला। जो विषय-कषाय रूप विकारो पर, अधर्म पर विजय पाने का प्रयत्न करता है, साधना करता है, वह जैन है। अत 'जैनधर्म' का अर्थ हुआ—वह मार्ग, जिस पर चलकर विकारो पर विजय पायी जाय, अनिष्ट अवस्थाओ से छुटकारा पाया जाय। इस प्रकार जैन-साधना जीवन-साधना है, जन-साधना है, प्राणीमात्र की साधना है, आनन्द पूर्वक जीने की पद्धति है।

आध्यात्मिक चिकित्सा :

जैन साधना को हम आध्यात्मिक चिकित्सा भी कह सकते है। क्योकि चिकित्सा उसे कहा जाता है जिससे विकार दूर हो व स्वास्थ्य की प्राप्ति हो। जिससे शरीर के विकार या रोग मिटकर शरीर स्वस्थ हो, उसे शारीरिक चिकित्सा कहा जाता है। जिससे मन के विकार या रोग मिटकर मन स्वस्थ हो, उसे मानसिक चिकित्सा कहा जाता है। इसीप्रकार जिससे आत्मा के विकार मिटकर आत्मा स्वस्थ होवे उसे आध्यात्मिक चिकित्सा कहा जा सकता है। यही कार्य साधना का भी है अत. साधना एक प्रकार से आध्यात्मिक चिकित्सा ही है। साधना की सारी प्रक्रिया प्राय चिकित्सा की प्रक्रियाओं से मिलती है।

ऊपर कहा गया है कि आत्मा के विकारो पर विजय पाने का उपाय ही जैनसाधना है। विजातीय तत्व का सयोग ही विकार है। शरीर मे जब विजातीय तत्व का सयोग होता है तब शरीर मे विकारोत्पत्ति होती है जो रोग के रूप मे प्रकट होती है, इसीप्रकार आत्मा का जब विजातीय तत्व पुद्गलद्रव्य से सयोग होता है तब आत्मा विकार ग्रस्त होती है और वे ही विकार कर्मोदय के रूप मे जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, दु ख, दारिद्रय आदि अनिष्ट दशाओ मे प्रकट होते हैं जो किसी भी प्राणी को इष्ट नही है। जिस प्रकार शारीरिक विकारो या रोगो से छुटकारा पाने या स्वस्थ होने के दो उपाय हैं—(१) पथ्य और (२) उपचार। पथ्य-पालन से नये विकारो की उत्पत्ति रुक जाती है और दवा आदि के उपचार से शरीर मे सचित विकार नष्ट हो जाते हैं और शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इसीप्रकार आत्मा के विकारो या कर्मों से छुटकारा पाने के भी दो उपाय हैं—(१) सवर और (२) तप। सवर यह पथ्य रूप उपाय है। इससे आत्मा मे नये विकारो की उत्पत्ति या कर्म वध होना रुक जाता है और निर्जरा से आत्मा मे सचित कर्म क्षय हो जाते हैं। जिससे आत्मा पूर्ण स्वस्थ हो जाती है, अर्थात् स्वरूप मे स्थित हो जाती है। इसी को मुक्ति कहा जाता है। मुक्ति अर्थात् सर्व विकारो से, कर्म वन्धनो से, अनिष्ट दशाओ से, दु खो से सदा के लिए छुटकारा।

सवर

आश्रव का निरोध करना अर्थात् कर्मवन्ध के कारणो का निवारण करना सवर है। सवर का कार्य पथ्य-पालन करने के समान है। जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा मे पथ्य-पालन का तात्पर्य है—ऐसा आहार-विहार न करना जो विकार वढाता हो प्रत्युत ऐसा आहार-विहार करना जो विकार घटाने मे सहायक हो। इसीप्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा मे, साधना क्षेत्र मे सवर से तात्पर्य है—ऐसी प्रवृत्ति न करना जो विकार वढाती हो, कर्म वध की कारण हो प्रत्युत ऐसी प्रवृत्ति करना जो विकार घटाने मे सहायक हो। अत सवर के दो रूप हुए—(१) निषेध-परक रूप अर्थात् निवृत्ति—कर्मवध के हेतुओ को यथाशक्य रोकना और (२) विधि-परक रूप अर्थात् शुभ योगो की प्रवृत्ति—खाना पीना, उठना-बैठना, वोलना-चालना आदि क्रियाए विवेकपूर्वक करना, नम्रता, सरलतापूर्वक व्यवहार करना, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ आदि शुभ भावनाओ का चिन्तन करना।

कर्म वध के पाच हेतु हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) अशुभयोग। इनके निवारण करने के साधन हैं—(१) सम्यक्त्व (२) विरति (३) अप्रमाद-

सजगता (४) अकपाय या कपायमदता और (५) शुभयोग। ये ही सवर है। यहा इन कषायो व इनके निवारण के उपायो पर प्रकाश डाला जा रहा है—

सम्यक्त्व—जो वस्तु जैसी नही है उसे वैसी मानना मिथ्यात्व है। पर को 'स्व' मानना सवसे वडा मिथ्यात्व है। यही अन्य सव मिथ्यात्वो की भूमिका है। 'पर' वह है जो आत्मा से भिन्न है, जो आत्मा के साथ सदा न रहे। इस दृष्टि से धन, धाम, धरा आदि वस्तुए तो 'पर' हैं ही, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि भी पर है। इन्हे मैं मानने से इनमे आत्मभाव, अपनत्वभाव, जीवन वुद्धि हो जाती है। प्राणी इनकी प्राप्ति मे ही अपना जीवन मानने लगता है और इनके नाश मे अपना नाश मानने लगता है। फलत वह इनके अधीन हो जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। 'पर' मे अपनत्व भाव होने से प्राणी मोह मे आवद्ध हो जाता है, अपना भान भूल जाता है जिससे अहता-ममता, विपय-वासना, कपाय-कामना आदि समस्त विकारो की उत्पत्ति होती है जो समस्तवधनो व दुखो के कारण हैं।

विरति—मिथ्यात्व के कारण जीव 'पर-पदार्थों' की उपलव्धि मे ही जीवन मानता है। पर मे जीवन वुद्धि होने से पर के भोग मे जीव को सुख की प्रतीति होती है। सुख की प्रतीति होने से पदार्थों के प्रति रति या अनुरक्ति भाव उत्पन्न होता है। यही रति या सुख लोलुपता वासनाओ एव कामनाओ को जन्म देती है, जिनके अधीन हो वेचारा उनकी पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है। उसकी यही रागात्मक वृत्ति की पूर्ति हेतु की गई प्रवृत्ति अविरति है। अविरति मे आवद्ध व्यक्ति की वृत्ति या प्रवृत्ति भोगो की प्राप्ति के लिए स्वच्छन्दता का रूप धारण कर लेती है। यही स्वच्छन्दता असयम कहलाती है। असयम अविरति भाव का ही क्रियात्मक रूप है।

सम्यक्त्व प्राप्ति से साधक इस तथ्य को जान लेता है कि पर-पदार्थ मेरे से भिन्न है और मेरा सुख-परपदार्थों के आधीन नही है। परपदार्थों से सुख की प्राप्ति यथार्थ सुख न होकर सुख की प्रतीति मात्र है, सुखाभास है। परपदार्थो से सुख की प्राप्ति होती है, इस मान्यता के हटते ही साधक का पर-पदार्थों के प्रति विराग भाव उत्पन्न हो जाता है। फिर उसे अपना हित व सुख भोगो, वासनाओ, कामनाओ के त्याग मे अनुभव होने लगता है। फलत वह भोगो, वासनाओ, कामनाओ व पापो को त्यागने, सकुचित व सयमित करने हेतु व्रत धारण करता है। व्रत विरतिभाव का क्रियात्मक रूप है, इसी को सयम भी कहते हैं।

विरति के दो रूप हैं—(१) पापरूप आरम्भ-प्रवृत्तियो का त्याग, यह विरति सवर साधना का निपेधपरक रूप है। (२) विरति का दूसरा रूप विधिपरक है इसमे अणुव्रत, महाव्रत, ईर्या, भापा, एपणा आदि समितियो का पालन करना, अनित्य, अशरण आदि भावनाओ का चिन्तन करना इत्यादि शुभयोग की प्रवृत्तियां आती है। क्योकि ये प्रवृत्तियां राग घटाने व वृत्तियो से अतीत शुद्ध अवस्था प्राप्ति मे हेतु हैं, इसलिए साधना की अग हैं। विरति से राग घटता है। राग घटने से साधक मे निराकुलता, शान्ति व स्वाधीनता के भावो को वल मिलता है व आत्मस्थिरता मे वृद्धि होती है। विरति या व्रत धारण करना सवर साधना का प्रधान क्रियात्मक व विधिपरकरूप है। अत यह व्यवहार मे सवर का पर्यायवाची सा वन गया है।

अप्रमाद—भोग-जन्य सुख-लोलुपता मे प्रमत्त (मस्त) होना प्रमाद है। प्रमत्तता से प्राणी मे जडता आती है, सजगता नही रहती है। फलत उसमे साध्य की प्राप्ति के प्रति उदासीनता, शिथिलता आ जाती है, जिससे साधना की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के सुख मे आवद्ध रहना, साधना मे वर्तमान मे तत्पर न होकर भविष्य के लिए टालते रहना प्रमाद है। दूसरे शब्दो मे पर के सग जनित विषय-कषाय के सुख मे प्रमत्तता रूप सुप्तावस्था प्रमाद है।

विरति भाव से ससार की असारता, अनित्यता, अशरणता आदि वैराग्य भावो की उत्पत्ति होती है जिससे साधक की कर्म, पराधीनता व राग आदि दोषो से जनित दु खो पर दृष्टि जाती है और दु खो के कारणभूत वे दोष उसे असह्य होने लगते हैं। यह असह्यता ही उसे सजग वनाती है और दोषो व विकारो के निवारण के लिए कटिवद्ध करती है। पापो, दोषो की निवारक रूप साधना को भविष्य के लिए न टालना, पूर्ण सामर्थ्य से वर्तमान मे ही साधना मे तत्पर होना अप्रमाद है।

पाप या दोषो या विकारो का एक अश भी विद्यमान रहते जीवन मे शांति व सुख अनुभव करना पराधीनता मे आवद्ध रहना है जिसके परिणामस्वरूप प्राणी को भयकर दु ख भोगना पडता है। जिस प्रकार प्रत्येक छोटे से वीज मे वृक्ष की सत्ता विद्यमान हैं जो अनुकूल निमित्त पाकर प्रकट हो जाते हैं इसीप्रकार पाप या कषाय के एक सूक्ष्म अश मे भी समस्त पाप या विकारो की सत्ता विद्यमान है जो अनुकूल निमित्त मिलने पर प्रकट हो सकते है। अत पाप, कषाय, विषय-विकार का अश मात्र भी विद्यमान रहते उसके नाश का उपाय न करना, शाति से वैठे रहना अपना घोर अहित करना है, यह महा प्रमाद है। प्रमाद महा शत्रु है। साधना मे सतत सजग व अनवरत रत रहना ही अप्रमाद है। अप्रमाद मानव मात्र का कर्त्तव्य है। साधक को भ० महावीर का यह सूत्र सदैव स्मरण रखना चाहिये —**समय गोयम मा पमायए**, अर्थात् हे गोतम! हे साधक! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

अकषाय—जिन भावो से कर्मों का कर्षण हो वे कषाय है। कषाय का मूल है राग या आसक्ति। आसक्ति पर से होती है अत यह पर के सग मे आवद्ध करती है, पराधीन वनाती है। पराधीनता ही वध है। आसक्ति से ही क्रोध, क्षोभ, मान, अहत्व, ममत्व, माया, प्रवचना, लोभ, सग्रहवृत्ति आदि दोषो का जन्म होता है। आसक्ति से पर के प्रति आकर्षण होता है। जिससे कर्म खिचकर आत्मा से बध जाते है। कर्म बधने से आत्मा भारी हो जाती है, आत्मा का पतन हो जाता है।

वैराग्य की तीव्रता से सजगता आती है। सजगता से राग, द्वेष, कषाय या आसक्ति जनित आकुलता असह्य हो जाती है जिससे साधक कषाय रहित होने का प्रयत्न करता है। कषाय रहित होना व कषाय की तीव्रता कम करना सवर है।

शुभयोग—मन, वचन, काया के योगो की पाप रूप प्रवृत्तिया अशुभयोग हैं। अशुभयोगो, दुर्व्यसनो से पाप कर्मों का वध होता है, जो दु ख का हेतु है। अत अशुभयोगो का साधना मे किंचित् भी स्थान नही है।

सवर और निर्जरा की क्रियात्मक साधना व चारित्र पालन निर्भर करता है मन, वचन व काया की शुभ प्रवृत्तियो पर। मन, वचन, काया की प्रवृत्तियो अर्थात् योगो के अभाव मे सवर और निर्जरा की विधिपरक साधना, साधुचर्य्या का पालन व तप करना सभव ही नही है। अत मन, वचन, काया के जिन योगो से सयम पालन हो, तप हो अर्थात् सवर-निर्जरा की क्रिया हो वे शुभ योग कहे जाते हैं। शुभ योग विषय-कषाय को मद व क्षीण करनेवाले, और वैराग्यवृत्ति वढाने वाले होने से सवर हैं।

निर्जरा—कर्मक्षय की वह प्रक्रिया, जिससे प्राणी पूर्व सचित कर्मों को, विना फल भोगे ही परिपाक काल के पूर्व ही क्षय कर देता हे उसे निर्जरा कहा जाता हैं। निर्जरा का कार्य उपचार के समान है, जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा मे उपचार का तात्पर्य है—दवा आदि का ऐसा प्रयोग जिसमे शरीर मे सचित विकार रोग के रूप मे प्रकट होने के पूर्व ही नष्ट हो जाय। इसीप्रकार आध्यात्मिक चिकित्सा या साधना जगत मे निर्जरा का तात्पर्य है—उपवास, ध्यान, स्वाध्याय आदि का ऐसा प्रयोग जिसमे आत्मा के सचित कर्म उदय मे आये विना ही, फल दिये विना ही नष्ट हो जाये।

निर्जरा को 'तप' भी कहा जाता है **'तपसा निर्जरा च'** [तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ मूत्र ३] सूत्र के अनुसार तप मे सवर भी रहता ही है अर्थात् तप-सवर से भी ऊपर की साधना 'निर्जरा' है।

जिस प्रकार ताप से वीज भस्म हो जाता है या भस्म नही होता तब भी ताप से उसकी सरसता नष्ट हो जाती है जिससे वह निष्प्राण हो जाता है और फल देने मे असमर्थ हो जाता है, इसी प्रकार तप से कर्म भस्म या निष्प्राण हो जाते हैं। उनमे फल देने का सामर्थ्य नही रहता है। जिसप्रकार वीज मे फ ल देने की शक्ति उसकी सरसता मे है। सरसता का अत होते ही वह निष्प्राण हो जाता है, इसीप्रकार कर्मो मे फल देने की शक्ति उनकी सरसता अर्थात् कपाय मे है। क्षीण होते ही 'रसवध' नष्ट हो जाता है। रसवध के नष्ट होते ही स्थितिवध नष्ट हो जाता है। इन दोनो वधो के नाश होते ही प्रकृतिवध व प्रदेशवध का नाश हो जाता है, कारण कि प्रकृति वध को सजीव रखने वाला रसवध व प्रदेशवध को टिकाने वाला स्थिति वध ही होता है। इन चारो प्रकार के कर्म वधो के क्षय होते ही कर्म खिर जाते हैं, निर्जरित हो जाते है। फलितार्थ यह है कि विना फल भोगे ही कर्मों के क्षय का उपाय है—कषाय का क्षय। कपाय क्षय का उपाय ही निर्जरा या तप रूप साधना है। जिस प्रकार ताप से एक-एक वीज भस्म न होकर अगनित बीज एक साथ भस्म हो जाते हैं, इसीप्रकार तप से एक-एक कर्म भस्म या क्षय न होकर असख्य कर्मों का एक साथ क्षय होता है।

कर्म-क्षय का उपाय कपाय-क्षय है और कपाय-क्षय का उपाय है कपाय को निर्जीव बनाना। कपाय सजीव रहता है राग के रस से अर्थात् रति या दोप-जनित सुख लोलुपता से। सुख लोलुपता का कारण है सुख भोग की मधुरता। जैसे सर्प के विष के प्रभाव से मानव मोह-ग्रस्त हो जाता है और सुध-वुध खोकर जडता को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार सुख की मधुरता मे ग्रस्त व्यक्ति मोह, प्रमाद व जडता को प्राप्त हो जाता है जो मृत्यु तुल्य है। इतना ही नही, विप के सेवन से तो एक वार प्राणान्त होता है, परन्तु विपय-कषाय के सुख के भोगी को अनेक वार जन्म-मरण की असह्य वेदना सहनी पडती है।

सुख-लोलुपता ही समस्त दोपो, कर्म बधनो व असाधनो की जननी है। सुख-लोलुपता सुख का प्रलोभन, सुख की दासता, सुख भोग की रुचि, सुख की आशा, आसक्ति आदि सुख-भोग रूप रति या अविरति के ही विविध रूप हैं। रति न हो तो दोपो की उत्पत्ति ही न हो। दोप ही दु ख के जनक हैं। स्वभाव से ही दु ख किसी को भी प्रिय नही है। अत दु ख का अन्त करने का प्रयत्न सभी करते हैं, परन्तु प्राणी फलरूप दु ख का ही अन्त करना चहता है, दु ख के मूल 'दोप' या रति या सुख-लोलुपता का नही। इससे दु ख का, वन्धन का आत्यतिक क्षय नही हो पाता हैं।

पराधीनता-जनित सुख का भोग करते व सुखभोग की रुचि रहते दु खो का अन्त करने का प्रयत्न निष्फल है। जिसप्रकार शरीर मे उत्पन्न रोग शरीर मे स्थित विकार का परिणाम है, कारण

नही। रोग के लक्षण रूप मे प्रकट होने पर रोगी को दु ख व पीडा होती है, जिसे दूर करने के लिए रोगी दवा लेता है। दवा दो प्रकार की होती है—एक प्रकार की दवा रोग-जनित वेदना को दबानेवाली होती है और दूसरे प्रकार की दवा विकार नाश करनेवाली होती है। प्रथमप्रकार की दवा से शरीर पर प्रकट रोग के लक्षण व पीडा कुछ काल लिए के दब जाते या लुप्त व शात हो जाते हैं परन्तु शरीर के भीतर का विकार व उसके कारण ज्यो के त्यो विद्यमान रहते हैं, जो कुछ समय पश्चात् पुन रोग के रूप मे प्रकट हो जाते हैं। अत इस रोग को मिटा समझना भूल है। वास्तव मे तो रोग तब ही मिटता है जब आतरिक विकार नष्ट हो जाय, दूसरे प्रकार की दवा यही कार्य करती है। उपचार का यही सिद्धान्त आध्यात्मिक जीवन पर भी चरितार्थ होता है। प्राणी का दु ख उसकी आत्मा मे सचित विकारो का परिणाम या लक्षण है। दु ख को सुख की सामग्री जुटाकर उसका उपयोग कर मिटाना दु ख को सुख रूप दवा से दबाना मात्र है। इससे दु ख का अन्त नही होता है कारण कि इस स्थिति मे विकार व उनके कारण ज्यो के त्यो विद्यमान रहते हैं। जो कुछ समय पश्चात् पुन. दु ख रूप मे प्रकट हो जाते हैं। अत इससे दु ख का अन्त नही होता दु ख केवल कुछ समय के लिए शान्त ही होता है। दु ख का अन्त तो तब ही सभव है जब दु ख के कारणभूत दोषो या विकारो का क्षय किया जाय। आत्मा मे विकार या कर्म विद्यमान रहते दु ख मिटा समझना भयकर भूल है। इसी भूल के कारण प्राणी अब तक दु.ख से मुक्त नही हो सका है। यह तथ्य है कि फल का विनाश वास्तविक विनाश है। दु ख फल है और रागादि विकार रूप सुख भोग की रुचि या सुख-लोलुपता इसका मूल है। अत सुख भोग की रुचि के नाश मे ही दु ख का नाश निहित है।

सुख भोग की रुचि या सुख-लोलुपता के क्षय का उपाय हैं—सुख मे दु ख का दर्शन करना। सुख मे दु ख-दर्शन का उपाय है दु ख को सजीव बनाना। सजीव दु ख वह है, जो इतना असह्य हो जाय कि दु खी विद्यमान दु ख के निवारण से सन्तुष्ट न होकर दु ख के मूल कारण सुखलोलुपता के निवारण के लिए उद्यत हो जाय। निर्जीव दु ख वह है जो सहन हो जाय, सुख-भोग से दब जाय और दु ख के मौलिक कारण के निवारण के प्रयत्न की जिज्ञासा ही उत्पन्न न हो।

दु ख की अनुभूति ताप है। ताप को सजीव बनाने की क्रिया तप है। तप का कार्य है दोष-जनित सुख-भोग की रुचि का नाश करना। सुख-भोग का आश्रय है तन और मन। तन-मन के तादात्म्य या तन-मन मे जीवन बुद्धि से ही सुख-भोग की रुचि उत्पन्न होती है। अत सुख-भोग की रुचि मिटाने के लिए तन-मन से तादात्म्य भाव हटाना आवश्यक है। शरीर से तादात्म्यभाव हटाने की क्रिया बाह्यतप है और मन से तादात्म्य भाव हटाने की क्रिया आभ्यन्तर तप है।

बाह्यतप—शरीर से तादात्म्यभाव हटाने की क्रियाएँ बाह्यतप है। ये क्रियाए छ है—१—अनशन २—उनोदरी ३—वृत्तिसक्षेप ४—रसपरित्याग ५—काय-क्लेश और ६ –विविक्त शय्यासन।

अनशन का प्रभाव सीधा शरीर पर पडता है। इससे क्षुधा की पीडा उत्पन्न होती है। इस पीडा को भोजन पूर्त्ति से मिटाकर सुख प्राप्त करने की आशा से सहन करना, निर्जीव पीडा है। भूख की ऐसी निर्जीव पीडा प्राय सभी प्राणी अनन्तकाल से भोगते आ रहे हैं परन्तु उनकी भूख की पीडा अब तक भी ज्यो की त्यो विद्यमान है। भूख की सजीव पीडा वह है, जिसमे प्राणी भूख का आत्यतिक अभाव करने के लिए उसके आदि कारण को खोजता है तो वह पाता है कि इस पीडा का निकटतम व

प्रकट कारण शरीर है, शरीर प्राप्ति का कारण कर्म वध है, कर्म-वध का कारण विपय-कपाय आदि विकार हैं, विकार-उत्पत्ति का कारण है विकार जनित सुख-लोलुपता। अत पीडा का वास्तविक कारण सुख-लोलुपता है। सुख-लोलुपता से विकार, विकार से कर्म और कर्म से शरीर की उपलब्धि होती है तथा शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य भाव होता है जिससे शरीर मे आत्मवुद्धि—जीवनवुद्धि होती है और प्राणी अपने को शरीर रूप ही समझने लगता है, शरीर की विद्यमानता मे अपना जीवन व शरीर के नाश मे अपना नाश 'मृत्यु' मानने लगता है।

क्षुधा की पीडा को सजीव वनाने की क्रिया ही अनशन है। क्षुधा की पीडा सजीव अर्थात् असह्य होते ही इसका आश्रय क्षेत्र शरीर, उसका तादात्म्य, तथा परम्परा कारण कर्म, दोप व सुख-लोलुपता असह्य हो जाती है तथा इससे आत्यतिक क्षय की भावना प्रवल हो जाती है, जिससे साधक मे शरीर, दोप व सुख की दासता से मुक्त होने की भावना उत्कट हो जाती है। सुख, दुख का मूल होने से उसे सुख, दुखरूप अनुभव होने लगता है अर्थात् विरति हो जाती है। उसे विकार जनित सुख मे पराधीनता, नश्वरता, आकुलता, जडता, क्षुब्धता को वेदना की अनुभूति होने लगती है। इस विरति रूप अनुभूति मे वह इन दोषो व दुखो से छूटने के लिए व्यग्र हो उठता है। यह व्यग्रता उसे प्रमाद से छुडाकर उसमे सजगता लाती है। यह सजगता दोष अर्थात् कषाय की विद्यमानता को असह्य कर देती है। जिससे कषाय व कषाय-जनित सुख-लोलुपता, रति, राग, सुखभोग की कामना गलने लगती है। कपाय-जनित सुख या रस सूखने से कपाय नीरस या निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कषाय के क्षय होते ही कर्मो का रस-वध व स्थिति-वध का क्षय हो जाता है। रस-वध के क्षय होते ही कर्म नीरस, निष्प्राण, निर्जीव हो जाते हैं और स्थिति वध का क्षय हो जाने पर कर्म खिर जाते हैं, निर्जरित हो जाते है। तात्पर्य यह है कि दुख या ताप की सजीवता से कर्मो का क्षय या निर्जरा होती है। अनशन, उनोदरी आदि वाह्य तप शरीर, इन्द्रिय आदि के ताप अर्थात् दुख को सजीव वनाते हैं। तप के प्रताप से शरीर व इन्द्रिय-जनित विषय सुख सूखता है, क्षीण होता है, शरीर के प्रति आत्मबुद्धि, जीवनवुद्धि, तादात्म्य हटता है तथा विरति व सजगता (अप्रमाद) की वृद्धि होती है जिससे कपाय-क्षय होता है। कपाय-क्षय होने से कर्म-क्षय होते है।

शारीरिक रोग दूर करने के विविध उपाय हैं। प्रथम उपाय उपवास है इससे जठराग्नि की शक्ति जो पहले भोजन पचाने का काम करती थी अव पेट मे भोजन न जाने से शरीर मे सचित विकारो को भस्म करने लगती है। दूसरा उपाय है—रोगजनित पीडा का घटाना। तीसरा उपाय है—रोगो की सख्या घटाना। चौथा उपाय है—जो रोग शेप रहे हैं उनका प्रभाव क्षीण करना। पाचवा उपाय है—शल्य आदि क्रियाओ को कष्ट सहन करके भी मवाद आदि विकृत द्रव्य निकालना और छट्ठा उपाय है—अपनी शक्तियो को अपव्यय से वचाना। इसी प्रकार के आत्मिक विकार जो शरीर व इन्द्रियो के विपयो को अर्थात् इनकी वृत्तियो से सम्वन्ध रखते हैं उन्हें मिटाने के भी विविध उपाय है। प्रथम उपाय है—उपवास। दूसरा उपाय है उणोदरी अर्थात् वृत्तियो को नियन्त्रित करना व कुछ रोकना। तीसरा उपाय है—वृत्तिसक्षेप अर्थात् इन्द्रियो की वृत्तियो को घटाकर सक्षिप्त करना। चौथा उपाय है—रस परित्याग अर्थात् जो वृत्तियाँ शेष रह गई हैं उसमे भी रस न लेना। पाचवा उपाय है—काय-क्लेश अर्थात् काया के कष्टो को समभाव से सहन करना। छट्ठा उपाय है—सलीनता अर्थात् आत्म-

शक्तियो को शरीर और इन्द्रियो के विपयो मे लीन न कर आत्मा मे लीन करना। वृत्तियो को इन्द्रियो के विकारो से हटाकर आत्मस्वरूप मे तल्लीन होना।

आभ्यन्तर तप—विनय, वैय्यावृत्य, ध्यान, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और प्रायश्चित्त—ये छ आभ्यन्तर तप हैं। इनका सम्बन्ध अन्तर से अर्थात् अन्तसमन से होने से इन्हे आभ्यन्तर तप कहा गया है। जिस प्रकार वाह्यतप द्वारा शारीरिक दु खो को सजीव कर, उनके कारणो को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप द्वारा मानसिक दु खो को सजीव कर उनके कारणो को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है। तन व इन्द्रियो के विपय स्थूल होने से उनके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले कर्मो का क्षेत्र ससीम है पर मन सूक्ष्म व तरल है अत तरगायित होता रहता है। जैसे तरल जल के ताल मे पवन के निमित्त से अगणित तरगे उठा करती है इसीप्रकार अति तरल होने से चित्त के सागर मे परिग्रह के निमित्त से वासनाओ व कामनाओ की असख्य तरगे उठा करती हैं। ये तरगे चित्त को चचल, अशान्त व उद्विग्न करती हैं। चित्त की चचलता, अशान्तता, उद्विग्नता से मानव को दु ख होता है। मानव इन दु खो को कामना पूर्त्ति के सुख प्राप्ति की आशा से सहन करता है तथा कामना पूर्त्ति से प्राप्त सुख से इन्हे दवाता है परन्तु इनके मूल कारण को खोजकर दूर करने का प्रयत्न नही करता है। परिणाम स्वरूप अनन्त-अनन्त प्राणी अनन्त जन्मो मे अनन्त कामनाओ की पूर्त्ति अनन्त-अनन्त वार कर चुके हैं फिर भी कामना-अपूर्त्ति का दु ख ज्यो का त्यो विद्यमान है अत मानसिक दु खो का अन्त उनके कारणो को खोजकर, उनका अन्त करने से ही सम्भव है।

मानसिक दु खो के कारणो की खोज से ज्ञात होता है कि इन दु खो का आश्रय-स्थल है—चित्त। चित्त-उत्पत्ति का कारण है कर्म। कर्म का कारण है—कामनाएँ। कामना उत्पत्ति का कारण है—कामना-पूर्त्ति जनित सुख-लोलुपता। कामनापूर्त्ति जनित सुखलोलुपता या सुखभोग से रागादि विकार, विकार से कर्म, कर्म से चित्त की उपलब्धि होती है तथा चित्त के साथ आत्मा का तादात्म्य भाव होता है जिससे प्राणी अपने को चित्तरूप ही देखने लगता है।

विनय, वैयावृत्य आदि आभ्यन्तर तप चित्त मे चचलता, अशान्ति, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव आदि दु खो को सजीव बनाते है अर्थात् इनको सहन न करके इन दु खो के मूल कारण चित्त का तादात्म्य, कर्म, अहता, ममता, मोह आदि दोपो व इन दोपो मे मिलनेवाले सुखो के त्याग की भावना प्रवल होती है। कामनापूर्ति-जनित सुख जडता, नश्वरता, आकुलता, क्षीणता, निर्वलता से युक्त है अत सुख नही सुखाभास है। वास्तविक सुख कामनापूर्ति मे नही, निष्काम होने मे है, इस तथ्य का साक्षात्कार करता है। इससे साधक मे सुखो के प्रति विरति उत्पन्न होती है। विरति से सजगता आती है। सजगता कामना या कपाय की विद्यमानता को असह्य कर देती है। जिससे सुख-लोलुपता रूप रस सूखने लगता है। रस सूखने से कपाय निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कषाय के क्षय होने से कर्म-निर्जरित होजाते है।

विनय से अहता, वैय्यावृत्य से ममता, ध्यान से चचलता, स्वाध्याय से पराधीनता, व्युत्सर्ग से सगता और प्रायश्चित्त से दोषता का नाश होकर निरहकारता, निर्ममता, निर्विकल्पता, स्वाधीनता, असगता और निर्दोषता की उपलब्धि होती है। जिससे कषाय क्षीण होकर कर्म खिरते है।

जिस प्रकार ताप से एक-एक वीज भस्म या निर्जीव न होकर अगणित वीज एक साथ निर्जीव होते हैं व फल देने की शक्ति खो देते है, इसी प्रकार तप से असख्य कर्म एक साथ रसहीन व निर्जीव

२२

हो जाते हैं तथा अपनी फल देने की शक्ति खो देते हैं अथवा जिस प्रकार ताप के प्रभाव से, रस (जल) के अभाव से पौधे पर लगे प्रचुर पुष्प निर्जीव होकर विना फल दिये ही खिर जाते है, इसी प्रकार तप के प्रभाव से, व कपाय-रस के अभाव से असख्य कर्म निर्जीव होकर विना फल दिये ही निर्जरित हो जाते हैं।

मवर (सयम) और निर्जरा (तप) रूप साधना ही धर्म है। सवर और निर्जरा रूप धर्म का फल तत्काल मिलता है। क्योकि ये क्रियाए कोई कर्म नही है, जिसका फल पीछे मिले। कर्म का फल कालान्तर मे मिलता है, धर्म का फल तत्काल न मिलकर पीछे मिले ऐसा कोई कारण या हेतु नही है। सवर और निर्जरा आत्मा के विकारो को दूर करने की क्रिया है। यह नियम है कि विकार दूर होते ही तत्काल प्रमाद मिलता है। ऐसा नही होता है कि विकार तो अभी दूर हो और फल कभी मिले। जिसप्रकार शारीरिक विकार (रोग) जिस समय दूर होते हैं उसी समय पीडा मिटकर शान्ति व सुख की अनुभूति होती है। यह नही होता कि शरीर का रोग तो आज मिटे और शान्ति कल मिले। इसी प्रकार सवर और निर्जरा से आत्मिक विकार दूर होते ही तत्काल प्रसन्नता, स्वाधीनता व शान्ति की अनुभूति होती है।

जैन साधना पद्धति का आधार आत्मा के विकार दूर करना है। आत्मा मे उत्पन्न विकार ही प्राणी के तन, मन आदि स्तरो पर प्रकट होते है। अत तन-मन मे उत्पन्न विकृतियो—रोगो के आदि कारण आत्मा के विकार ही है। आत्मा के विकार दूर होने पर, कर्म क्षय हो जाने से तन, मन के रोग भी स्वत दूर हो जाते हैं। अत जैनसाधना अर्थात् आध्यात्मिक चिकित्सा मे शारीरिक और मानसिक चिकित्साएँ भी अन्तर्गभित हो जाती हैं। इस प्रकार जैन साधना सर्वागीण या परिपूर्ण चिकित्सा पद्धति का भी कार्य करती है।

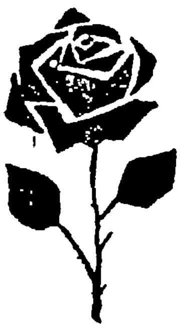
जैन साधना से केवल आत्मा से तन, मन के विकार ही दूर होते हो इतना ही लाभ नही है। इससे साधक व्यक्ति के अन्तस्तल मे विद्यमान शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं। आत्मा अनन्त शक्तियो व गुणो का भडार है, ऋद्धियों-निधियो का स्वामी है। जैसे ही आत्मा के विकार हटते हैं वे सब गुण व शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। व्यक्ति परम शान्ति, स्वाधीनता, सरसता, आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। उसका दु ख दुम दवाकर भाग जाता है। वेदना विदा हो जाती हैं। पीडा पलायन कर जाती है। अभाव-अभाव को प्राप्त हो जाता है। अत जैन साधना जीवन-साधना है, जीवन को आनन्दमय वनाने का साधन है।

जैसे आम का वृक्ष लगाने का वास्तविक लाभ उस वृक्ष के फलो के मधुर रस का आस्वादन करना है। उस वृक्ष से मिलनेवाली छाया की शीतलता के उपभोग का लाभ तो उसका आनुपागिक फल है। इसी प्रकार जैन साधना का वास्तविक लाभ आत्मा की विभूतियो का उद्घाटन करना व उनसे उपलव्ध शान्ति, मुक्ति व परमानन्द का रसास्वादन करना है। इससे होनेवाले शारीरिक व मानसिक रोगो का निवारण, परिवार, समाज व राज्य का सुन्दर निर्माण, कीर्ति व सम्पत्ति की प्राप्ति आदि लाभ तो आनुपगिक फल हैं। जिसका मूल्य मुख्य लाभ के समक्ष कुछ भी नही है।

साराश यह है कि 'जैन-साधना' परमानन्दपूर्वक जीने की साधना है, सुख-शान्ति पूर्वक जीने की कला है। इससे जीवन की समस्त आधियाँ, व्याधियाँ व उपाधियाँ दूर हो जाती हैं और जीवन पूर्ण स्वस्थता, सफलता व प्रसन्नता युक्त विताया जा सकता है। ●



देवता बान्धवा सन्तः
संत- सबसे बड़े देवता व जगद्बंधु हैं।



जैन-साधना पद्धति : एक विवेचन

—डा० उम्मेदमल मुनोत एम० बी० बी० एस०

हिन्दू धर्म—जिसे भारतीय धर्म की पृष्ठभूमि मे अभिहित किया है—की सशक्त कडी—जैन धर्म प्रधानत आत्म-साधनात्मक धर्म है । इस धर्म की प्रत्येक मान्यतायें,परम्पराये,रीतियाँ—रूढियाँ एव मूल्य आत्म-साधना पर आधारित है । एक तरह से यह सर्वतोमुखी साधना का धर्म है । और जैसा कि ज्ञात है,विना साधना के, बिना निष्ठा एवं लगन के—किसी सामान्य कार्य मे भी गति, प्रगति किंवा सफलता का मिलना कठिन है,फिर जीवन के ऊर्ध्वगामी प्रयास मे आत्मोत्थान के मार्ग मे तो साधना का एकमात्र साम्राज्य है। वैसे तो हिन्दू धर्म की प्रत्येक कडियो ब्राह्मण,बौद्ध एव जैन के लिये साधना का महत्व असदिग्ध है किन्तु जैन मत मे इसका प्रचुर प्रावधान है ।

साधना के क्षेत्र मे जैनधर्म के रत्नत्रय का स्थान वडा महत्वपूर्ण है । रत्नत्रय मे ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को सन्निविष्ट किया गया है । यह सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय मनीषा अनादिकाल से ज्ञान के अन्वेपण मे सलग्न रही है । भारतीय सस्कृति का दिव्य मन्त्र—**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** इसका ज्वलन्त प्रतीक है । अभिप्राय यह कि भारतीय मनीषा ज्ञान के प्रकाश को जीवन के लिये सर्वोपरिस्थान देती आई है और उसका आज भी वही महत्व है । इसी प्रकार ज्ञान के बोध के साथ दर्शन की साधना को अपरिहार्य माना गया है जिससे आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत आदि का शाश्वत ज्ञान प्राप्त होता है । और, इन दोनो की स्थायी प्राप्ति के लिये चारित्र की साधना परमावश्यक है । अग्रेजी मे एक सूक्ति है—

"It wealth is lost, nothing is lost
It health is lost something is lost
It charaeter is lost everything is lost"

अर्थात् चारित्र के अवसान के पश्चात् जीवन मे कुछ रह ही नही जाता । इसलिये जैन धर्म मे विचार (ज्ञान + दर्शन) की साधना के साथ-साथ आचार (चारित्र) की साधना को महिमामय स्थान दिया है । एक प्रकार से यह रत्नत्रय—ज्ञान, दर्शन एव चारित्र गगा, यमुना एव सरस्वती के तथा कथित सगम स्थल के समान धर्म की पावन प्रयाग भूमि (सगम) है । यही वह सेतु है, जिसके कारण जैन धर्म को समन्वयवादी परिवेश मे एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

साधना किसकी—?

जैसा कि मैंने ऊपर सकेत किया है, जैन आचार मे साधना का वडा महत्व है। और साधना का लक्ष्य है—मोक्ष, निर्वाण। जीवन-मरण के दुख से मुक्त होना ही साधना के केन्द्रविन्दु है। फिर भी यह प्रश्न स्वाभाविक है कि साधना किसकी की जाय? शरीर की अथवा मन की? वस्तुत साधना के दो रूप हैं, एक वाह्य साधना जिसमे शरीर की इन्द्रियो को तपाकर साधित किया जाता है और दूसरी आन्तरिक साधना है जिसमे मन को साधित करके उसकी वायु के समान चचलगति को वश मे करके एक केन्द्रविन्दु पर स्थिर किया जाता है। एक केन्द्र विन्दु पर मन को स्थिर करके ही व्यक्ति अचूक लक्ष्य का साधक वन सकता है। महाभारत मे यह कथा प्रसिद्ध है कि गुरु द्रोणाचार्य जव अपने शिष्यो को लक्ष्य वेध की विद्या सिखा रहे थे तो एक रोज उनके लक्ष्यवेध की परीक्षा हेतु एक काठ का पक्षी वनाकर पेड की झुरमुट मे ऊँची डाल पर रख दिया और पाचो पाडवो से पृथक-पृथक प्रश्न किया कि तुम्हे सामने क्या दिखाई दे रहा है? युधिष्ठिर, भीम, नकुल एव सहदेव—चारो भाइयो ने अपने उत्तर मे चिडिया के साथ न्यूनाधिक पास के परिवेश को भी अपने लक्ष्य मे वताया किन्तु एक अर्जुन ने चिडिया की आख और आँख मे भी सिर्फ उसकी पुतली देखी। ज्ञातव्य है—लक्ष्यवेध पुतली का ही करना था। इस पर गुरु द्रोणाचार्य के आदेश पर अर्जुन ने वाण चलाये और चिडिया की पुतली विंध गयी—शेप चारो भाइयो के लक्ष्य चूक गये।

इससे यह स्पष्ट है कि साधना चाहे अतरग हो चाहे वहिरग उसमे सम्यक्त्व का होना नितान्त आवश्यक है। वहिरग और अतरग साधना मे जव तक समन्वय नही होगा साधना सम्पूर्णत सफल नही हो पायेगी। अत साधक के लिये साधना का प्रथम लक्ष्य सम्यक्त्व की साधना है। सम्यकत्व का अर्थ है साधना का आत्माभिमुखी होना। और जव साधना आत्माभिमुखी हो जाती है तो उसे 'पर' मे भी 'स्व' के दर्शन होने लगते है। अत सम्यकत्व हमे अतरग और वहिरग के समन्वय के माध्यम से समता पथ की ओर अभिमुख करती है। और यही समता का पथ आत्मा की ऊर्ध्वमुखी गति-प्रगति का कारण है।

इसप्रकार विश्लेपण करने पर यह पाते हैं कि जैनधर्म की साधना मुख्यरूप से आत्मा की साधना है आत्मा के विकास की साधना है। जैसा कि ज्ञात है, जैन धर्म मे किसी अवतार का प्राविधान नही स्वीकारा गया है अर्थात् जैन धर्म को अवतार मे विश्वास नही है। जैन धर्म के जितने भी अरिहत अथवा तीर्थंकर होते हैं—सभी आत्मा की साधना द्वारा आत्मा का ऊर्ध्वमुखी विकास करके उक्त पद को प्राप्त करते हैं। किसी तथा कथित भगवान अथवा तीर्थंकर का मानव रूप मे अवतार जैनधर्म को स्वीकार्य नही है। जैन धर्म मे एकमत से यह स्वीकारा गया है कि जीव अपने राग का ऊर्ध्वमुखी विकास करके उसे अ-राग अर्थात वीतराग वन कर—ईश्वरत्व पद को प्राप्त करता है। इसे ईश्वर की सत्ता मे विश्वास है, अत यह आस्तिक धर्म है, किन्तु किसी अवतारी ईश्वर मे इसे विश्वास नही। इसके अनुसार विन्दु ही अपना विकास करके सिंधु वनता है, सिन्धु किसी परिस्थिति विशेष मे अपने को विन्दु रूप मे अवतरित नही करता और मुख्य रूप से जैन धर्म की साधना का यही मार्ग है,यही शाश्वत पथ है जिसे यह रत्नत्रय के रूप मे प्राप्त करता है।

जव हम जैन धर्म की गहराई मे पहुचते हैं तो हमे साधना की सूक्ष्मता का ज्ञान होता है। वाह्य से लगता है कि मुक्ति (साध्य) प्राप्ति का मार्ग (साधन) जैन दर्शन मे अनेको दर्शाये गये है, इसी

कारण इसे सहस्त्ररूपा साधना भी कहा गया है। कही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो को मोक्ष का मार्ग बताया गया है।[१] कही ज्ञान, दर्शन और चारित्र–इन तीनो को मुक्ति का मार्ग बताया गया है।[२] वास्तव मे इनमे कोई भेद नही है। क्योकि तप का अतर्भाव चारित्र मे कर लेने पर साधना त्रिरुप रह जाती है कारण जिस साधना से पापकर्म तप्त होता है, वह तप है[3] और चारित्र भी तो कर्म का नाश ही करता है—अज्ञान से सचित कर्मो के उपचय को रिक्त करना चारित्र है।[४] अत तप का अन्तर्भाव चारित्र मे हो जाता है। यहाँ हम साधना के इन्ही तीनो मार्गों–सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

सम्यक्ज्ञान–

ज्ञान वह प्रकाश है,जो हमे कुज्ञान के अथवा अज्ञान के अन्धकार से हटाकर शाश्वतज्ञान पथ का पथिक बनाता है। ज्ञान के अभाव मे मनुष्य अनेकानेक अकर्म्य कर्मों का भी सतत सचय करता हुआ महापाप का भागी बनता है। अत ज्ञान का न होना भी अपने आप मे महान पाप है। हम कौन है ? हमे क्या करना चाहिये ? हमारा कर्त्तव्य पथ क्या है ? तथा हमे अन्त मे कहाँ जाना है ? क्या बनना है ? ऐसे अनेकानेक प्रश्नो का समाधान हम ज्ञान प्राप्ति के पश्चात ही कर पाते हैं। जब तक हमारे अन्त पट पर ज्ञान की विकाश किरणे प्रकीर्ण नही हो जाती—हमारा मानस दर्पण न तो तब तक प्रतिबिम्बित हो पाता है और न ही हम वस्तुस्थिति का सही ज्ञान कर पाते हैं। और जब साधक को सही स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह ज्ञान के ज्ञापक अर्थ और जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'केवल ज्ञान' को प्राप्त कर लेता है। केवल ज्ञान जीवन्मुक्ति को कहते हैं अर्थात केवलज्ञानी पुरुष सशरीरी होते हुये भी सदेह सिद्ध हो जाते हैं। केवलज्ञान की दशा सर्वविकल्पातीत दशा, जिसे हम कल्पातीत अवस्था कहते हैं, उस अवस्था मे विधि-निषेध जैसी किसी वस्तु की मर्यादा नही रहती। वैदिक सस्कृति मे इसी को त्रिगुणातीत अवस्था कहते हैं—"**निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधि को निषेध· ?**" यह ज्ञान साधना की चरम अवस्था है जहाँ न भक्ति की आवश्यकता है न कर्म की। आत्मा अपने विशुद्ध रूप मे स्वत ही परिणमन करती है। जैनधर्म मे यह आत्मा की स्वरूप अवस्था- अर्थात् सिद्ध अवस्था हैं ?

सम्यक्दर्शन—

सम्यक् दर्शन की साधना साधक को भोग से योग की ओर ले जाती है। जीव और जगत की सही स्थिति का दृष्टिगत होना ही सम्यक्दर्शन है। यही कारण है कि इस साधना से साधक अपने-अपने सही पथ का अनुसरण कर मन के विकारो और विकल्पो पर विजय पाने का प्रयत्न (साधना) करता है। मनोगत विकारो को पराजित कर आत्मविजय की प्रतिष्ठा करना ही उनका जयघोष रहा है। आत्मा

---

१ **नाण च दसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥ —उत्तराध्ययन २८।२

२ (क) **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** —तत्त्वार्थसूत्र १।१
(ख) **परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारण, न लिंगादीनि।** उत्तरा० चूर्णि० २३

३ **तप्यते अणेण पाव कम्ममिति तपो।** —निशीथचूर्णि ९६

४ **अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरण चारित्तं।** —वही, ४६

के एक अशुद्ध भाव को जीत लेने पर चार क्रोधादि कषाय और मन जीत लिया जाता है और इन पाँचो के जीत लेने पर दश—मन, कषाय और पाँच इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं।[५]

जैसा कि पूर्व मे सकेत किया है, जैनधर्म की साधना 'स्व' भाव की साधना है। 'स्व' भाव मे रमण अर्थात् विश्व के सभी प्राणियो के सुख-दुखो को अपना सुख-दुख समझना—यह समताभाव ही सम्यक्दर्शन की आधार शिला है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का महामत्र साधक इसी साधना के द्वारा प्राप्त करता है। ऐसा कर लेने के पश्चात् साधक के लिये 'स्व' और 'पर' कोई पृथक-पृथक तत्व नही रह जाते दोनो एक मे समाहित हो जाते हैं। 'स्वाकार' हो जाते है। और यही 'स्वाकार' की स्थिति 'स्वरूप' की स्थिति है। और जब साधक स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वही वह मुक्त दशा को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन की साधना द्वारा भी साधक अपने उसी चिरतन लक्ष्य—मोक्ष, निर्वाण पद को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता हैं। इसी स्थिति मे राग का ऊर्ध्वीकरण हो जाता है और क्रमश साधक स्वय अ-रागी किंवा वीतराग पुरुष बन जाता है।

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र का पर्याय है—सम्यक् आचार। आचार जैनधर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोपान है। आचार ही मानव की उन्नति का प्रमुख साधन है और यही प्रथम धर्म है। जैनधर्म मे आचार के पाँच प्रकार के आचरण बताए गये है। उनके नाम है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन्हे 'पचमहाव्रत' कहा गया है। इन पाचो पर यहाँ पृथक्-पृथक् विवेचन करना सम्भव नही, किन्तु सक्षेप मे इतना उल्लेख्य है कि अहिंसा की साधना द्वारा जैन धर्म भाव और द्रव्य दोनो प्रकार की हिंसा का निषेध करता है। हा, द्रव्य से अधिक भाव हिंसा को पाप का मूल माना गया है। इसी प्रकार सदाचरण सत्य का ध्वन्यर्थ है। किसी का कोई भी सामान यहा तक कि दात साफ करने की दातून भी बिना उसके स्वामी की आज्ञा लेना वर्जित किया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा मन एव इन्द्रियो को अर्थात् इन्द्रिय-जन्य वासनाओ को वश मे करना निर्देशित किया गया है। और ध्यातव्य है कि ब्रह्मचर्य बडा व्यापक शब्द है जिसका मात्र स्त्री-सभोग त्याग से ही मतलब नही है बल्कि हर प्रकार की वासनाओ के परित्याग से है। इसी प्रकार अपरिग्रह की साधना मूर्च्छात्याग की साधना है। किन्तु वस्तु के प्रति जब हमारे मन मे आसक्ति होती है,तभी हम येनकेन प्रकारेण उसके सग्रह की ओर प्रवृत्त होते है। और वस्तु के सग्रह की प्रवृत्ति साधक को ससाराभिमुखी बनाती है—साधना के लक्ष्य से विमुख कर देती है। अतः मूर्च्छा के त्याग को जैन साधना मे विशेष महत्व दिया गया है।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र की साधना व्यक्ति के चारित्रिक विकास की महान् साधना है जो साधक को बहिरग जगत् से अतरग की ओर आने को निर्दिष्ट करती है।

इस प्रकार सक्षेप मे विचार करने पर हम पाते हैं कि साधना के तीनो सोपानो मे साधक क्रम से आत्मा की ओर झुकता है। आत्मा को विशाल एव विराट स्वरूप मे परिणत करता है। और अत मे वही अरिहत, तीर्थंकर एव केवलज्ञानी के परमपद को प्राप्त कर परमात्मा बन जाता है। जैनधर्म मे आत्मा के विकास का यही शाश्वत साधना पथ है।

---

५ उत्तराध्ययन सूत्र, २३, ३६,

प्रमाणवाद

एक पर्यवेक्षण

—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

आगम—साहित्य मे प्रमाणवर्णन

आगम-साहित्य मे प्रमाण के सम्बन्ध मे विस्तार से चर्चा है। स्वतन्त्र रूप से प्रमाण के सम्बन्ध मे चिंतन किया गया है।

भगवती सूत्र[1] का मधुर प्रसग है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! जिस प्रकार केवली अन्तिम शरीरी [जो इसीभव से मुक्त होनेवाला हो और वर्तमान शरीर के पश्चात् फिर कभी शरीर धारण नही करेगा] को जानते है। उसी प्रकार क्या छद्मस्थ भी जानते हैं ?

भगवान् महावीर ने समाधान करते, हुए कहा—गौतम! वे अपने आप नही जान सकते, या तो किसी से श्रवण कर जानते है या प्रमाण से जानते है।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—किससे सुनकर ?

उत्तर—दिया गया—केवली से

पुन प्रश्न उद्‌बुद्ध हुआ—किस प्रमाण से जानते है ?

उत्तर दिया गया—प्रमाण चार प्रकार के कहे गये हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम। इनके विषय मे जैसा अनुयोगद्वार मे वर्णन है उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए।

स्थानाङ्ग सूत्र मे प्रमाण और हेतु इन दो शब्दो का प्रयोग हुआ है। निक्षेपपद्धति की दृष्टि से प्रमाण के द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव प्रमाण[2] ये चार भेद किये गये हैं।

---

१ गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा।
से किं त पमाण ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते।
त जहा—पच्चक्खे अनुमाणे ओवम्मे, आगमे, जहा अणुओगदारे तहा णेयव्व पमाण॥

—भगवती सूत्र ५।३।१९१-१९२

२ चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते त जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे भावप्पमाणे।

—स्थानाङ्ग ३२१

स्थानाङ्ग मे जहाँ पर हेतु शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद मिलते है।[3]

कही-कही पर प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते है। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यवसाय का अर्थ निश्चय है। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। व्यवसाय के तीन प्रकार हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक।[4]

प्रमाण के भेदो के सम्बन्ध मे विविध परम्पराए है। कही पर तीन का उल्लेख है तो कही पर चार का वर्णन है। साख्यदर्शन ने तीन प्रमाण माने है और न्यायदर्शन ने चार। ये दोनो परम्पराए स्थानाङ्ग मे प्राप्त होती हैं।

अनुयोगद्वार मे प्रमाण की विस्तार से चर्चा है। उस चर्चा का सक्षेप मे साराश इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष :

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष (२) चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष (३) घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष (४) जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष (५) और स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष ये पाँच भेद है।

पाँच इन्द्रियो मे मानस-प्रत्यक्ष का समावेश कर लिया है इसलिए मानसप्रत्यक्ष को स्वतन्त्र रूप से नही गिनाया है। बाद के दार्शनिको ने इसको स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया है।

अनुमान

अनुमान प्रमाण के– पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट-साधर्म्यवत् ये तीन भेद किये गये हैं। न्यायदर्शन[5] बौद्धदर्शन[6] और साख्यदर्शन[7] ने भी तीन भेद माने है।

पूर्ववत्

पूर्व-परिचित हेतु द्वारा पूर्व-परिचित पदार्थ का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। एक माता अपने पुत्र को बाल्यकाल मे देखती है। पुत्र कही विदेश चला गया। वर्षों के पश्चात् वह लौटता है किन्तु

---

३ स्थानाङ्ग ३३८

४ तिविहे ववसाए पण्णत्ते त जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, अणुगामिए। —स्थानाङ्ग ३३८

(ख) व्यवसायो निश्चय स च प्रत्यक्ष अवधिमनपर्यय केवलाख्य प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात्। नमित्ताज्जात प्रात्ययिक साध्यमग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति योधमादिहेतु सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगामिकम् अनुमानम्, तद् यो व्यवसायआनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्ष स्वयदर्शनलक्षण प्रात्ययिक आप्तवचनप्रभव तृतीयस्तथवेति।

—स्थानाङ्ग, अभयदेववृत्ति

५ न्यायसूत्र १।१।५

६ उपायहृदय पृ० १३

७ साख्यकारिका ५-६

कुछ समय तक माता उसे पहचान नही पाती। किन्तु उसके शरीर पर कोई चिन्ह देखकर शीघ्र ही उसे स्मृति हो आती है कि यह मेरा ही पुत्र है। यह है पूर्ववत् अनुमान।[८]

शेषवत्

शेषवत् अनुमान के (१) कार्य से कारण का अनुमान (२) कारण से कार्य का अनुमान (३) गुण से गुणी का अनुमान (४) अवयव से अवयवी का अनुमान (५) आश्रित से आश्रय का अनुमान ये पाच प्रकार है।

कार्य मे कारण का अनुमान जैसे शब्द से शख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित से वृषभ का अनुमान करना।

कारण मे कार्य का अनुमान जैसे—तन्तु से ही पट होता है, पट से तन्तु नही, मिट्टी के पिण्ड से ही घडा बनता है, घडे से मिट्टी का पिण्ड नही इत्यादि कारणो से कार्य—व्यवस्था करना।

गुण से गुणी का अनुमान जैसे—कसौटी से सोने का, गध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना।

अवयव मे अवयवी का अनुमान जैसे शृ ग से भैंसे का, दात से हाथी का, दाढ से वराह का, पख से मयूर का, खुर से घोडे का, केसर से सिंह का अनुमान किया जाता है।

आश्रित से आश्रय का अनुमान जैसे धूम से अग्नि का, बगुले की पक्ति से पानी का, बादलो से वृष्टि का, शीलवृत्त मे कुलपुत्र का अनुमान किया जाता है।

कारण और कार्य को लेकर दो भेद किये हैं पर गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, आश्रित आश्रय के दो-दो भेद नहीं किये गये हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है यह आगममर्मज्ञो के लिए चिन्तनीय है।

दृष्टसाधर्म्यवत्

सामान्यदृष्ट व विशेषदृष्ट इस प्रकार इसके दो भेद हैं। किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान करना, या जाति के ज्ञान से किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है।

अनेक वस्तुओ मे से किसी एक वस्तु को अलग करके उसका परिज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे एक स्थान पर सैकडो पुरुष खडे हो उनमे से किसी विशेष पुरुष को पहचानना कि यह वही पुरुष है जिसे पूर्व मैंने अमुक स्थान पर देखा था।

सामान्यदृष्ट उपमान के समान है और विशेषदृष्ट प्रत्यभिज्ञान के समान है।

अनुयोगद्वार मे काल की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद किये हैं। वे इस प्रकार है—

(१) **अतीतकालग्रहण**—घास व अन्य वनस्पतियो लहलहाती पृथ्वी, जल से छलछलाते हुए कुण्ड, तालाब, नदी आदि को देखकर यह अनुमान करना यहाँ पर वर्षा बहुत अच्छी हुई।

---

८ माया पुत्त जहा नट्ठ जुवाण पुणरागय।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई॥
त जहा—खेत्तेण वा वण्णेण वा लछणेण वा मसेण वा तिलएण वा।—अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाणप्रकरण

(२) प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षा के समय सुगमता से अच्छी तरह से भिक्षा खूब प्राप्त होने पर यह अनुमान करना कि यहाँ पर सुभिक्ष है।

(३) अनागतकालग्रहण—उमड-घुमड कर घनघोर घटाए आ रही हो, बिजली कौंध रही हो, मेघ की गम्भीर गर्जना हो रही हो, रक्त और स्निग्ध सध्या फूल रही हो इन सभी को देखकर यह जान लेना कि अत्यधिक वर्षा होगी।

इन तीन लक्षणो से विपरीत लक्षणो को देखकर विपरीत अनुमान भी किया जा सकता है। सूखे जगलो को देखकर अनावृष्टि का, भिक्षा प्राप्त न होने पर दुर्भिक्ष का, वर्षा के लक्षणो को न देखकर वर्षा के अभाव का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान के अवयव :

यद्यपि मूल आगमो मे अवयव की चर्चा नहीं है। दूसरो को समझाने के लिए अनुमान के हिस्सो का प्रयोग करना अवयव का अर्थ है। अनुमान का प्रयोग किसप्रकार करना चाहिए, वाक्यो की सगति उसके लिए किसप्रकार बैठानी चाहिए, अधिक से अधिक वाक्य के कितने प्रयोग हो सकते हैं, कम से कम कितने वाक्य का प्रयोग होना चाहिए। अवयव की चर्चा मे इन सभी पर विचार किया गया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति मे अवयवो की चर्चा करते हुए दो से लेकर दस अवयवो के प्रयोग का समर्थन किया है।[९] दस अवयवो का दो प्रकार प्रयोग बतलाया गया।[१०] दो अवयवो की परिगणना करते हुए उदाहरण का नाम दिया है, हेतु का नहीं।

दो—प्रतिज्ञा, उदाहरण

तीन—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण

पाच—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, निगमन

(१) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसहार, उपसहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि।

(२) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशका, तत्प्रतिषेध, निगमन।

स्मरण रखना चाहिए कि दो, तीन और पाच अवयवो के नाम वे ही हैं जिनकी चर्चा अन्य दार्शनिको ने भी की है[११] किन्तु दस अवयवो के नामो का वर्णन आर्यभद्रबाहु के अतिरिक्त कही भी नही मिलता है।[१२]

उपमान

साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत ये उपमान के दो भेद हैं।

साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है—

(१) किञ्चित् साधर्म्योपनीत (२) प्राय. साधर्म्योपनीत और (३) सर्व-साधर्म्योपनीत।

---

९ दशवैकालिक निर्युक्ति ५०

१० दशवैकालिक निर्युक्ति ९२

११. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा।—न्यायसूत्र १।१।३२

१२. देखिए—जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५०

किञ्चित् साधर्म्योपनीत– जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है। ये उदाहरण किञ्चित् साधर्म्योपनीत उपमान के हैं, आदित्य और खद्योत का, कुमुद और चन्द्र का किञ्चित् साधर्म्य है।

प्राय साधर्म्योपनीत—जिस प्रकार गौ है वैसा गवय है, जिस प्रकार गवय है वैसा गौ है। गौ और गवय का यहाँ पर अत्यधिक साधर्म्य है।

सर्व-साधर्म्योपनीत—किसी व्यक्ति की उपमा अन्य किसी व्यक्ति से न देकर उसी व्यक्ति से दी जाती है तब वह सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान होता है, इन्द्र इन्द्र ही है, तीर्थंकर तीर्थंकर ही है। चक्रवर्ती चक्रवर्ती ही है।

वैधर्म्योपनीत के भी तीन भेद हैं किञ्चिद् वैधर्म्योपनीत, प्रायोवैधर्म्योपनीत और सर्ववैधर्म्योपनीत।

किञ्चिद् वैधर्म्योपनीत—जैसा शावलेय है वैसा बाहुलेय नही है, जैसा बाहुलेय है वैसा शावलेय नही है।

प्रायोवैधर्म्योपनीत—जैसा वायस (कौआ) है वैसा पायस (दूध) नही है। जैसा पायस है वैसा वायस नही है।

सर्ववैधर्म्योपनीत—जैसे उत्तमपुरुष ने उत्तम पुरुष के समान ही कार्य किया। नीच ने नीच के समान ही कार्य किया। डा० मोहनलालजी मेहता का मन्तव्य है कि ये उदाहरण ठीक नही है, कोई ऐसा उदाहरण देना चाहिए जिसमे दो विरोधी वस्तुए हो। नीच और सज्जन, दास और स्वामी आदि उदाहरण दिये जा सकते हैं।[१३]

आगम

आगम के लौकिक व लोकोत्तर ये दो भेद किए गए है—लौकिक आगम महाभारत, रामायण आदि और लोकोत्तरआगम सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररुपित आचाराग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती आदि हैं।[१४]

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किये गये हैं।[१५]

एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं—आत्मागम, अनन्तरागम, और परम्परागम।[१६] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप मे दो प्रकार हैं। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अत अर्थरूप आगम तीर्थंकरो का आत्मागम कहलाता है क्योकि वह अर्थागम उनका स्वय का है, दूसरो से उन्होने नही लिया है। किन्तु वही अर्थागम गणधरो ने तीर्थंकरो से प्राप्त किया हैं। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नही है, एतदर्थ गणधरो के लिए वह

---

१३ जैनदर्शन—डा० मोहनलालमेहता पृ० २५१

१४ अनुयोगद्वार ४९—५० पृ० ६८ पुण्यविजय जी सम्पादित।

१५ त जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य। —अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

१६ अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा—अत्तागमे, अणतरागमे परपरागमे य।
—अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[१७] इसलिए सुत्तागम गणधरों के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरों के साक्षात् शिष्यों को गणधरों से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं होता। इसलिए उन शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है क्योंकि वह उन्होंने अपने धर्मगुरु गणधरो से प्राप्त किया है, किन्तु वह गणधरों को भी आत्मागम नहीं था, उन्होंने भी तीर्थंकरों से प्राप्त किया था। गणधरो के प्रशिष्य और उनकी परम्परा मे होनेवाले अन्य शिष्य-प्रशिष्यों के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागत है।[१८]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन आगमो मे प्रमाण के सम्बन्ध मे पर्याप्त चर्चा की गई है। ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय मे आगमों मे सुन्दर सामग्री का सकलन है। यह सत्य है कि आगम-साहित्य को आधार बनाकर ही वाद के आचार्यों ने तर्क के आधार पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप मे महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है, वह अनूठा है, अपूर्व है।

प्रमाण का लक्षण :

यथार्थज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है, प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान के दो प्रकार है—यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही निर्णायक है वह यथार्थ है। जिसमे सशय, विपर्यय आदि होता है वह अयथार्थ है। संशय आदि मे रहित यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—'प्रमायाः करण प्रमाणम्' प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'तद्वति तत्प्रकारानुभव. प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानना प्रमा है। करण का अर्थ साधकतम है। एक अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक सहकारी होते हैं किन्तु उन सभी सहकारियों को 'करण' नही कह सकते। 'करण' वह कहलाता है—जिसका व्यापार फल की सिद्ध मे विशेष रूप से उपकारक होता है। जैसे गन्ने को छीलने मे हाथ और चाकू दोनो चलते है पर करण चाकू ही है। गन्ने को छीलने का निकटतम सबध चाकू से है। हाथ साधक है और चाकू साधकतम है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण के सबध से दार्शनिको मे विवाद नही है, किन्तु 'करण' के सबध मे एक मत नही है। बौद्धदर्शन मे सारूप्य और योग्यता को करण माना गया है।[१९] नैयायिक सन्निकर्ष

१७ अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तेइ ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ९२

१८ तित्थगराण अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणतरागमे, गणहर सीसाण सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परम्परागमे, तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणतरागमे, परम्परागमे। — अनुयोगद्वार ४७० पृ० १७९

१९ (क) न्यायविन्दु १।१९।२०
(ख) बौद्ध दर्शन के अभिमतानुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारूप्य भी कहा जाता है।

और ज्ञान इन दोनो को करण मानते हैं। किन्तु जैन दर्शन ज्ञान को ही 'करण' मानता है।[20] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ का परिज्ञान करने के लिए सहायक अवश्य है किन्तु ज्ञान सबसे अधिक निकट है और वही ज्ञान और ज्ञेय के मध्य सबध स्थापित करता है।

प्रमाण की परिभाषा का विकास

आचार्यों ने प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ निर्माण की है। जैनदृष्टि से 'निर्णायक ज्ञान' प्रमाण की आत्मा है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे लिखा है—[21]

"तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञान मानमितीयता। लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ॥

पदार्थ का यथार्थ निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है। अन्य सभी विशेषता व्यर्थ है, तथापि परिभाषा के पीछे जो अनेक विशेषण लगे हैं उनके प्रमुख तीन कारण हैं—

(१) दूसरो के प्रमाण लक्षण से अपने लक्षण को अलग करना।

(२) दूसरो के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण करना।

(३) बाधा का निराकरण।

न्यायावतार मे आचार्य सिद्धसेन ने 'स्व' और 'पर' को प्रकाशित करनेवाले अबाधित ज्ञान को प्रमाण कहा है।[22] मीमासक ज्ञान को स्वप्रकाशित नही मानते। उनकी दृष्टि मे ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। हम अर्थ को जानते हैं इससे ज्ञात होता है कि अर्थ को जाननेवाला ज्ञान है। अर्थ के परिज्ञान से ही ज्ञान का परिज्ञान होता है—यह परोक्षज्ञानवाद है।[23]

नैयायिक और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते है। उनके अभिमतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान को छोडकर अन्य सभी ज्ञान पर-प्रकाशित हैं, प्रमेय है। साख्यदर्शन प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानता है। उनके मन्तव्यानुसार ज्ञान प्रकृति की पर्याय है, विकार है, एतदर्थ वह अचेतन है। एतदर्थ आचार्य सिद्धसेन ने 'स्वआभासि' शब्द देकर इन मान्यताओ का निरसन किया है। जैनदृष्टि से ज्ञान 'स्व-अवभासि'[24] है। उसका स्वरूप ज्ञान ही है। ज्ञान प्रमेय ही नही, ईश्वर के ज्ञान की तरह प्रमाण भी है। ज्ञान अचेतन और जड प्रकृति का विकार नही है किन्तु आत्मा का गुण है।[25]

"स्वसवित्ति फल चात्र तद् रूपादर्थनिश्चय।
विषयाकार एवास्य प्रमाण तेन मीयते।"—**प्रमाणसमुच्चय पृ० २४**

(ग) प्रमाण तु सारुप्य योग्यता वा।—**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १३-४४**

२०. न्यायभाष्य १।१।३

२१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।१०।७७

२२ प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्।—**न्यायावतार १**

२३ मीमासाश्लोकवार्तिक १८४-१८७

२४ स्याद्वादमजरी कारिका १२

२५ स्याद्वादमजरी-१५

वौद्धदर्शन ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानता है, वाह्य पदार्थ को नही ।[२६] इस मत का निरसन करने के लिए सिद्धसेन ने 'पर आभासि' शव्द का प्रयोग किया है और इससे सिद्ध किया है कि ज्ञान से भिन्न पदार्थों की भी सत्ता है ।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान की भाति वाह्य पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता है ।[२७]

विपर्यय आदि कही प्रमाण न हो जाएँ इसलिए 'वाध-विवर्जित' विशेषण का प्रयोग किया है ।

इस प्रकार सिद्धसेन ने उस समय मे प्रचलित प्रमाण के लक्षणो से जैनलक्षण को पृथक् करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया है ।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलक ने प्रमाण के लक्षण मे कही 'अनधिगतार्थक' और 'अविसवादि' दोनो विशेषण प्रयोग किये हैं ।[२८] और कही 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है ।[२९] आचार्य अकलक का प्रतिविम्व आचार्य माणिक्यनन्दी पर पडा । उन्होने यह माना कि स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है ।[30] इसमे आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र द्वारा स्थापित और अकलक द्वारा विकसित जैन परम्परा का सकलन किया है ।

वादिदेवसूरि ने स्व-पर व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण माना है ।[31] इन्होने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' शव्द की ओर लक्ष्य नही दिया ।

उस समय दो धाराएँ प्रवाहित होने लगी । दिगम्वराचार्य गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नही मानते तो श्वेताम्वर आचार्य उसे प्रमाण मानते । दिगम्वर आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट कहा— स्व और पर का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीत-ग्राही हो ।[३२]

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षणसूत्र का परिष्कार ही नही किया किन्तु उन्होने अपनी मौलिक कल्पना से और सूक्ष्म तर्क दृष्टि से ऐसी परिभाषा निर्माण की जो जैन प्रमाण लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप कहा जा सकता है । उन्होने लिखा—'अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है ।"

अर्थ की दृष्टि से मौलिक मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्वर और श्वेताम्वर आचार्यों के प्रमाण लक्षण मे शाव्दिक भेद हैं, जो विचार विकास का प्रतीक है, साथ ही उस समय के साहित्य की स्पष्ट प्रतिच्छाया भी उस पर है ।

---

२६ वसुवन्धुकृत विंशतिका ८

२७ स्याद्वादमजरी १६

२८. प्रमाणमविसवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।।—अष्टशती पृष्ठ १७५

२९. उक्त च—सिद्ध यत्र परापेक्ष सिद्धौ स्वपररूपयो तत् प्रमाण ततो नान्यदविकल्पमचेतनम् ।
—न्यायविनिश्चय टीका पृष्ठ ६३

३० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् ।—परीक्षामुखमण्डन १।१

३१. स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम् ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।२

३२ गृहीतमगृहीत वा, स्वार्थ यदि व्यवस्यति । तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ।
—श्लोकवार्तिक १।१०-७८

ज्ञान और प्रमाण

उपर्युक्त प्रमाण के लक्षणो का अवलोकन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि ज्ञान और प्रमाण मे अभेद है। ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान स्वप्रकाशक होकर ही किसी पदार्थ को ग्रहण करता है। जैनदर्शन मे ज्ञान को स्वपर प्रकाशक कहा है, दीपक, घटादि पदार्थो को प्रकाशित करने के साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, दीपक को प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नही होती, वह स्वय प्रकाश रूप होता है। इसी तरह ज्ञान भी प्रकाशरूप है जो स्वप्रकाश के साथ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। जैनदार्शनिको ने निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो निश्चयात्मक हो—व्यवसायात्मक हो, निर्णयात्मक हो, सविकल्प हो। न्यायविन्दु मे निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।[३४] किन्तु जैनदर्शन ने उस मत का खण्डन करते हुए कहा है "जो निर्विकल्प होता है वह प्रमाण और अप्रमाण कुछ भी नही होता। जहाँ विकल्प अर्थात् निश्चय या निर्णय होता है, वही ज्ञान होता है। निर्विकल्पक उपयोग केवलदर्शन मात्र है। निश्चयात्मक उपयोग के विना प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय नही हो सकता।"

प्रामाण्य का नियामकतत्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमे दो राय नही है, किन्तु सत्य की परिभाषा सभी की अलग-अलग है। यथार्थ, अवाधितत्व, अप्रसिद्धअर्थख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसवादित्व या सवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्ति सामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता ये सत्य की परिभाषाएँ विभिन्न दार्शनिको द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अवाधितत्व-वाधक प्रमाण के अभाव या कथनो के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते है।[३५] आचार्य अभयदेव सन्मति-टीका मे इसका निरसन करते हैं।[३६] आचार्य अकलक वौद्ध और मीमासक अप्रसिद्ध—अर्थख्यापन अर्थात् अज्ञात अर्थ के ज्ञापन को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[३७] वादिदेवसूरि और हेमचन्द्राचार्य इसका निराकरण करते हैं।[३८]

सवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य इन दोनो का व्यवहार सभी द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नही हो सकते। सवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की तरह व्यापक नही है। प्रत्येक निर्णय मे सत्य तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णय मे सवादक ज्ञान आवश्यक नही है, सत्य को वह कभी प्रकाश मे लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ सिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जव तक फलदायक परिणामो द्वारा प्रामाणिक नही हो जाता तव तक सत्य नही होता। यह भी पूर्ण सत्य नही है क्योकि इसके विना भी तथ्य

---

३३ सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्।—**प्रमाणमीमासा १।१।२**

३४ न्यायविन्दु का प्रथम प्रकरण

३५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १७५

३६ सन्मति-टीका पृ० ६१४

३७ तत्वार्थश्लोकवार्तिक १७५

३८ (क) प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका—१-२
(ख) प्रमाण-मीमासा

के साथ ज्ञान का मेल होता है, कही पर वह सत्य का परीक्षण-प्रस्तर भी वनता है एतदर्थ इसे अमान्य नही कह सकते ।

ज्ञान का प्रामाण्य

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है । पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है ? और कौनसा मिथ्या है ? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते है, वह प्रामाण्य क्या है ? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभापा क्या है ?

उत्तर है—जैन तार्किको ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय स्वत या परत माना है । किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वत माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे साधनो का सहारा लेना पडता है । मीमासक स्वत प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परत प्रामाण्यकारी है । मीमासको का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वय प्रमाणरूप है, वाह्य दोप के कारण ही उसमे अप्रामाण्य आता है । ज्ञान के प्रामाण्य-निश्चय के लिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नही है । प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वत होती है, एतदर्थ यह स्वत प्रामाण्यवाद कहलाता है । नैयायिक स्वत प्रामाण्यवाद को स्वीकार नही करता है । इस दर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी वाह्य आधार से ही किया जा सकता है । जो ज्ञान अर्थ से अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और जो व्यभिचारी है वह अप्रमाण है । वाह्य वस्तु ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य की कसौटी है, ज्ञान अपने आप मे न प्रमाण है और न अप्रमाण है, वह जव वस्तु से मिलाया जाता है तव प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय होता है जो वस्तु जैसी है, वैसी ही परिज्ञात होना ज्ञान की प्रमाणता है । इससे विपरीत ज्ञान अप्रमाण है । यह नैयायिको का प्रस्तुत सिद्धान्त परत प्रामाण्यवाद है । साख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनो स्वत है, नैयायिक दर्शन से विल्कुल विपरीत इनका मत है । इन तीनो मान्यताओ से जैन दर्शन की मान्यता पृथक् है । उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रामाण्य निश्चय स्वत और परत दोनो प्रकार से हो सकता है । स्वत या परत निश्चय होना परिस्थिति विशेप पर निर्भर है ।[३९] स्वत प्रामाण्यवाद को समझाने के लिए उदाहरण दिये गये है । कि व्यक्ति को प्यास लगी है । वह पानी पीता है और प्यास शात हो जाती है और वह समझ लेता है कि मैंने पानी पिया है । वह पानी था या नही, यह जानने के लिए दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नही । प्यास बुझ गई है यह जानने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती । इस प्रकार जलज्ञान और पिपासा-शान्ति के ज्ञान मे स्वत ही प्रमाणता आती है । इसके विपरीत कितनी ही वार ऐसे प्रसग भी आ जाते हैं जव अपने आप ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही हो पाता है । इसके लिए उसे अन्य का सहारा लेना पडता है । जैसे कमरे मे लघुछिद्र है । उससे कुछ प्रकाश वाहर आ रहा है, यह प्रकाश दीपक का है, मणि का है, वेट्री का है या मोमवत्ती का है, इसका निर्णय नही हो रहा है । कमरा खोला गया, मोमवत्ती को देखकर निर्णय हो जाता है कि यह प्रकाश मोमवत्ती का है । इसप्रकार मोमवत्ती विपयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है । यह निश्चय के लिए मोमवत्ती का आधार लेना पडा । जैनदर्शन स्वत प्रामाण्यवाद और परत प्रामाण्यवाद दोनो का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन

---

३९ तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वत परतश्च ।—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।१६

(ख) प्रामाण्यनिश्चय स्वत परतो वा" ।—प्रमाणमीमासा-१।१।८

करता है। अभ्यासावस्था आदि मे प्रामाण्य का निर्णय स्वत होता है और अनाभ्यासदशा मे किसी अन्य आधार से होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परत होता है।[४०]

प्रमाण का फल

प्रमाण के भेद-प्रभेदो पर चिन्तन करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का क्या फल है?[४१]

प्रमाणमीमासा मे प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थ-प्रकाश वताया है। अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। विना प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे इसी वात को यो कह सकते है—कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है।[४२] सभी ज्ञानो का यही साक्षात्फल है। पर, परम्परा फल सव ज्ञानो का एक नही है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है और अवशेप ज्ञानो का फल ग्रहण-वुद्धि और त्यागवुद्धि हैं। सहस्ररश्मि सूर्य के उदय से अन्धकार का पूर्णरूप से नाश हो जाता है, वैसे ही प्रमाण से अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह साधारण फल हुआ। अज्ञान विनष्ट होने से केवल-ज्ञानी को आत्मसुख की उपलब्धि होती है और उसका ससार के पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव रहता है। कृतकृत्य होने के कारण केवली के लिए न कोई वस्तु उपादेय होती है, न हेय। अन्य व्यक्तियो के लिए अज्ञान-नाश का फल निर्दोपवस्तु के प्रति ग्रहणवुद्धि और सदोषवस्तु के प्रति त्यागवुद्धि उत्पन्न होना है। अर्थात् सत्कार्य मे प्रवृत्ति होती है और असत्कार्य से निवृत्ति होती है।

प्रमाण-सख्या

प्रमाण की सख्या के विपय मे भारत के दार्शनिको मे एक मत नही रहा है। चार्वाक दर्शन एक मात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। साख्यदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने है। प्रभाकर मीमासकदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पाच प्रमाण माने हैं। भाट्ट मीमासादर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने हैं। वौद्धदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं।

जैनदर्शन मे प्रमाणो की सख्या के विषय मे तीन मत हैं—

अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणो का उल्लेख है।[४३] आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने है। उमा-

४० जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५५-२५७

४१ फलमर्थप्रकाश।—**प्रमाणमीमासा १।१।३४**

४२ प्रमाणस्य फल साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्ष, शेषस्यादानहानधी। —**न्यायावतार २८**

४३ अनुयोगद्वार।

स्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे, वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक मे,[४४] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा मे प्रत्यक्ष और परोक्ष-ये दो प्रमाण माने है।[४५]

वौद्ध दार्शनिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो भेद स्वीकार किये है।[४६] जैनदर्शन ने अनुमान को परोक्ष का ही एक भेद माना है और परोक्ष के अनुमान, आगम आदि अनेक विभाग माने हे। आगम आदि का अनुमान मे समावेश न होने के कारण वौद्धदर्शन का प्रमाण विभाजन अपूर्ण है। चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, परन्तु केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष के आधार पर हमारा ज्ञान पूर्ण नही हो सकता। अनुमान प्रमाण के अभाव मे यह ज्ञान प्रमाण है और यह प्रमाण नही है—इस प्रकार की व्यवस्था नही हो सकती। कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति की भापा तथा शारीरिक चेष्टाओ से हम यह जान लेते हैं कि इस समय इसके अन्तर्मानस मे इस प्रकार की भावनाए कार्य करनी चाहिए। इस प्रकार दूसरे की चेष्टाओ से उसके मानस का जो ज्ञान हमे होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि अन्य प्रमाण नही है इस प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष से नही हो सकता। विना अनुमान के कार्यकारण भाव आदि की व्यवस्था नही हो सकती और न अन्य के अभिप्राय का परिज्ञान ही हो सकता है। न अपने पक्ष की सिद्धि हो सकती है और न परलोक आदि का निपेध ही किया जा सकता है।[४७] इसलिए जैनदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष की मान्यता का विरोध करता हैं तथा अनुमान आदि सभी प्रमाणो को परोक्ष प्रमाण मे स्थान देता है।

जो ज्ञान यथार्थ है उसे ही प्रमाण कहा गया है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी ज्ञानो के लिए यही एक मात्र कसौटी है। जैनदृष्टि से सभी प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मे समा जाते हैं। अन्य दर्शनो की तरह जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान, आगम, उपमान ये सभी परोक्षान्तर्गत है। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नही है। अभाव प्रत्यक्ष का ही एक अश है। वस्तु, भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनो का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावाश का ग्रहण करते है वहाँ उसके अभावाश का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तु भाव और अभाव इन दो रूपो के अतिरिक्त तीसरे रूप मे नही मिलती। जिस दृष्टि से एक वस्तु भावरूप है, दूसरी दृष्टि से वह अभावरूप है। भावरूप ग्रहण के साथ अभावरूप का भी ग्रहण हो जाता है अतएव दोनो अश प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं। अत अभाव प्रमाण की आवश्यकता नही। दूसरे शब्दो मे कहे—'इस टेवल पर पुस्तक नही है' यह अभाव का दृष्टान्त है। यहाँ पर अभाव प्रमाण पुस्तकाभाव को ग्रहण करना है। यह पुस्तकाभाव क्या है? इस पर हम चिंतन करें तो स्पष्ट होगा कि यह पुस्तकाभाव शुद्ध टेवल के अतिरिक्त कुछ भी नही है। जिस टेवल पर हमने पूर्व पुस्तक देखी थी उसी टेवल को हम शुद्ध टेवल के रूप मे देख रहे है। यह शुद्ध टेवल ही पुस्तकाभाव है, इसका दर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नही है।

---

४४ तद् द्विभेदं प्रत्यक्ष च परोक्ष च।—प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१

४५ प्रमाण द्विधा—प्रत्यक्ष परोक्षं च।—प्रमाणमीमांसा १।१।९-१०

४६ प्रत्यक्षमनुमान च।—न्यायविन्दु १।३

४७. व्यवस्थान्यधीनिपेधाना सिद्धे प्रत्यक्षेतर प्रमाणसिद्धि।—प्रमाणमीमासा १।१।११

प्रत्यक्ष का लक्षण

जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य या स्पष्टता माना है।[४८] सिद्धसेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है।[४९] इस लक्षण मे परोक्ष का स्वरूप जब तक समझ मे नही आ जाता, तब तक प्रत्यक्ष का स्वरूप समझा नही जा सकता । अकलकदेव ने न्यायविनिश्चय मे स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[५०] उनके लक्षण मे 'साकार' और 'अञ्जसा' पद आये है अर्थात् साकार ज्ञान जब अञ्जसा-स्पष्ट परमार्थरूपसे विशद हो तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैन दर्शन मे वैशेषिक दर्शन की भाति सन्निकर्षको या बौद्धदर्शनकी तरह कल्पनापोढत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नही माना गया है।

वैशद्य किसे कहते हैं ? जिस प्रतिभासके लिए किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता न हो अथवा 'यह'—इदन्तया-प्रतिभासित होना वैशद्य है।[५१] जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमे लिंगज्ञान, व्यक्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा रखते है वैसे प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमे किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नही रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष मे विशेषता है। अनुमान आगम आदि प्रमाण अपने आप मे पूर्ण ज्ञानान्तर निरपेक्ष नही है क्योकि उनका आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अपने आप मे पूर्ण है। उसे किसी अन्य ज्ञानके सहयोगकी आवश्यकता नही होती। 'यह' का अर्थ स्पष्ट प्रतिभास है। जिस प्रतिभास मे स्पष्टता का अभाव हो, मध्य मे व्यवधान हो, एक प्रतीतिके आधारसे द्वितीय प्रतीति तक पहुँचना पडता हो, वह प्रतिभास 'यह' एतद्रूप प्रतिभास नही है। इस प्रकार व्यवहित प्रतिभास परोक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष मे इस प्रकारका व्यवधान नही होता।

प्रत्यक्ष के दो प्रकार :

प्रत्यक्षकी दो प्रधान शाखाएँ है—(१) आत्मप्रत्यक्ष (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष । पहली शाखा परमार्थाश्रयी है, एतदर्थ यह वास्तविक प्रत्यक्ष है। और दूसरी शाखा व्यवहाराश्रयी है एतदर्थ यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्मप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं (१) केवल ज्ञान—पूर्ण या सकलप्रत्यक्ष, (२) नो केवल ज्ञान—अपूर्ण या विकलप्रत्यक्ष।

---

४८ विशद प्रत्यक्षम्। —**प्रमाणमीमासा १।१।१३**
(ख) स्पष्ट प्रत्यक्षम्। —**प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२**
(ग) विशद प्रत्यक्षमिति। —**परीक्षामुख २।३**

४९ अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञे य परोक्ष ग्रहणेक्षया ॥—**न्यायावतारश्लोक, ४**

५० प्रत्यक्ष लक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमञ्जसा।—**न्यायविनिश्चयश्लोक, ३**

५१ प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।—**प्रमाणमीमासा १।१।१४**
(ख) प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेपवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम्।—**परीक्षा मुख २।४**
(ग) अनुमानाद्यतिरेकेणविशेष प्रतिभासनम्।
तद्वैशद्य मत बुद्धे रवैशद्यमत परम् ॥—**लघीयस्त्रय ४**

नो केवलज्ञान के अवधि और मन पर्यव ये दो भेद हैं।

इन्द्रिय-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा—ये चार भेद हैं।

इन्द्रिय, मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिए विना ही आत्मा को पदार्थ का साक्षात् ज्ञान होता है, वह आत्मप्रत्यक्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष या नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष है, और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या सव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते है। इन्द्रियाँ धूम आदि लिंग का सहारा लिए विना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं इसलिए वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने जो 'अपरोक्षतया अर्थ परिच्छेक ज्ञान"[५२] को प्रत्यक्ष लिखा है, उसमे 'अपरोक्ष' शव्द महत्त्वपूर्ण है, क्योकि नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उन्होने 'अपरोक्ष' शव्द से इस लक्षण के प्रति असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होनेवाला ज्ञान साक्षात् आत्मा (प्रमाता) से नही होता, एतदर्थ वह प्रत्यक्ष नही है। सिद्धसेन की प्रस्तुत निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती"[५३] और स्थानाङ्ग"[५४] की प्रमाण व्यवस्था है।

आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य अकलक और आचार्यमाणिक्यनन्दी आदि ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष लिखा है।[५५] अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' मे स्थान देने का कारण है उनकी प्रमाण परिभापा मे व्यवहारदृष्टि का भी आश्रयण है। जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है।[५६] इसके अभिमतानुसार प्रत्यक्ष के दो प्रकार है—मुख्य और सव्यवहार। जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करता है वह मुख्य प्रत्यक्ष है सव्यवहार—प्रत्यक्ष मे अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमे अपरोक्षतया अर्थग्रहण लक्षण नही वनता, इसलिए दोनो की सगति विठाने के लिए 'विशद' शव्द का प्रयोग करना पडा है।

'विशद' शव्द का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा और 'यह' है इस प्रकार प्रतिभासित होना। सव्यवहार—प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक विशेपो का प्रकाशक होता है, इसलिए वह अधिक विशुद्ध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' विशेपण का वेदान्त के और 'विशद' का वौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, तथापि उसके विपय-ग्राहक स्वरूप मे मौलिक अन्तर है, वेदान्त की दृष्टि से पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्त करण (आतरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है।[५७] अन्त करण दृश्यमान पदार्थ का आकार

---

५२ न्यायावतार ४

५३. भगवती ४।३

५४ स्थानाङ्ग ५।३

५५. देखिए ४८ का टिप्पण

५६. नन्दीसूत्र २–३

५७. अन्त करण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहा जाता है।

धारण करता है । आत्मा अपने विशुद्ध-साक्षी चैतन्य से उसे द्योतित करता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।[58]

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष मे ज्ञान और ज्ञेय के मध्य मे कोई अन्य शक्ति नही होती । शुद्ध चैतन्य से अन्त करण को प्रकाशित माने और अन्त करण की पदार्थाकार परिणित माने, यह प्रक्रिया भेद है । अन्त मे शुद्ध चैतन्य से एक को प्रकाशित मानना ही हैं तब पदार्थ को ही क्यो न मानें ।

बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानता है । जैनदर्शन के अनुसार निर्विकल्पबोध (दर्शन) निर्णायक नही होता एतदर्थ वह प्रत्यक्ष तो क्या, प्रमाण भी नही बनता ।[59]

हम बता चुके है जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष का दो दृष्टियो से निरूपण किया है—पारमार्थिक और व्यावहारिकदृष्टि से ।[60] अत पारमार्थिकप्रत्यक्ष के सकलप्रत्यक्ष और विकलप्रत्यक्ष ये दो भेद हैं तथा व्यावहारिक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । इन सबका तथा इनके प्रभेदो का निरूपण 'ज्ञानवाद' निबन्ध मे स्वतत्र रूप से किया है ।

परोक्ष

जो ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अविशद या अस्पष्ट है वह परोक्ष प्रमाण है ।[61] परोक्ष प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है । जिसमे वैशद्य या स्पष्टता का अभाव है वह परोक्ष है । परोक्ष प्रमाण पाच प्रकार का है—स्मरण-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ।[62] सभी जैन तार्किको ने परोक्ष प्रमाण के उक्त पाच भेद किये है । परन्तु अकलकदेवकृत—न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि ने अपने 'प्रमाण निर्णय'[63] नामक निबध मे परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद किये है । अनुमान के दो भेद किये हैं—गौण और मुख्य । गौण अनुमान के तीन प्रकार हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञा और तर्क । स्मरण प्रत्यभिज्ञा मे कारण है, प्रत्यभिज्ञा तर्क मे कारण है और तर्क अनुमान मे कारण है । इस प्रकार ये तीनो परम्परा से अनुमान प्रमाण के कारण हैं, एतदर्थ इन्हे गौण प्रमाण मानकर वादिराजसूरि ने अनुमान मे सम्मिलित कर लिया है । इसका कारण यही है कि अकलक ने न्यायविनिश्चय मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद करके शेष तीन परोक्ष प्रमाणो को अनुमान मे गर्भित किया है ।

चार्वाक मत का खण्डन

चार्वाक प्रत्यक्ष और उसमे भी केवल इन्द्रियजप्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न किसी अन्य प्रमाण की सत्ता नही मानता । प्रमाण का लक्षण अविसवाद करके उसने यह बताया है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष के अति-

---

५८ वेदान्त मे ज्ञान के दो प्रकार हैं—साक्षि ज्ञान और वृत्तिज्ञान । अन्त करण की वृत्तियो को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान साक्षिज्ञान है और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्तिज्ञान' कहलाता है ।

५९ जैनदर्शन के मौलिक तत्व—भाग १ पृ० २६४-२६५ ।

६० तद् द्विप्रकार साव्यवहारिक पारमार्थिक च ।—**प्रमाणनयतत्त्वालोक** २।४

६१ अविशद परोक्षम् । —**प्रमाणमीमासा १।२।१**

६२ (ख) अस्पष्ट परोक्षम् । —**प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।१**

६२ स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पचप्रकारम् —**प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।२**

६३ **प्रमाणनिर्णय पृ० ३३१**



रिक्त अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नही होते। अनुमान आदि प्रमाण प्रायः संभावना पर चलते है, कारण कि देश, काल और आकार के भेद से प्रत्येक पदार्थ की अनन्तशक्तियां और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमे अविनाभाव व अव्यभिचार का ढूँढना अत्यन्त कठिन है। जो आवले कषाय रसवाले हैं वे देशान्तर, कालान्तर और द्रव्यान्तर का सम्बन्ध होने से मधुर रसवाले भी हो सकते है, इसलिए अनुमान का शत-प्रतिशत अविसंवादी होना असंभव है। स्मरण आदि प्रमाणो के सम्बन्ध मे भी यही बात है।

किन्तु यह चार्वाक मत संगत नही है। जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है, अनुमान प्रमाण को माने बिना प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेक ही नही किया जा सकता। अविसंवाद के आधार से कुछ ज्ञानो मे प्रमाणता की व्यवस्था करना और कुछ ज्ञानो को अविसंवाद के अभाव मे अप्रमाण कहना भी तो अनुमान ही है। इसके सिवाय दूसरे व्यक्ति की बुद्धि का ज्ञान अनुमान के बिना नहीं हो सकता, क्योकि बुद्धि का इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष असंभव है। वचन प्रयोग, तथा कार्यो को देखकर ही उनका अनुमान किया जाता है। जिन कार्यकारण भावों या अविनाभावो का निर्णय हम न कर सकें या जिनमे व्यभिचार देखा जाए उनसे पैदा होनेवाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय किन्तु अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव आदि के आधार से उत्पन्न होनेवाला अनुमान अपनी सीमा मे विसंवादी नही हो सकता। चार्वाक् को परलोक आदि के निषेध के लिए भी अनुमान का ही आश्रय लेना पडता है। यदि सीमित क्षेत्र मे पदार्थो के सुनिश्चित कार्य-कारणभाव न बिठाये जा सकें तो संसार का सम्पूर्ण व्यवहार ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह उचित है कि जो अनुमान आदि विसंवादी सिद्ध हो, उन्हे अनुमानाभास कहा जाए किन्तु इससे निर्दिष्ट अविनाभाव के आधार से उत्पन्न होनेवाला अनुमान कभी गलत नही हो सकता। प्रमाता जितना अधिक कुशल होगा उतना ही वह सूक्ष्म और स्थूल कार्य-कारणभाव को जानता है। व्यवहार के लिए हमे आप्तवाक्य की प्रमाणता माननी ही पडती है अन्यथा संपूर्ण सांसारिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जायेगे। मानव के ज्ञान की कोई सीमा नही है इसलिए अपनी मर्यादा मे परोक्ष ज्ञान भी अविसंवादी होने से प्रमाण ही है।[६५]

स्मरण-स्मृति :

वासना का उद्‌बोध होने पर उत्पन्न होनेवाला 'वह' इस आकारवाला ज्ञान स्मृति है।[६६] अतीत के अनुभव का स्मरण स्मृति है। किसी ज्ञान या अनुभव के संस्कार के जागरण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। वासना की जागृति के समानता, विरोध आदि अनेक कारण हैं, जिनसे वासना उद्‌बुद्ध होती है, क्योकि स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है इसलिए 'वह' इस तरह का ज्ञान स्मृति की विशेषता है।

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राच्यदर्शन स्मृति को प्रमाण नही मानता है। जो दर्शन स्मृति को प्रमाण नही मानते हैं उनका मन्तव्य है कि स्मृति प्रमाण नही हो सकती, क्योकि स्मृति

---

६४. प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते।
प्रमाणान्तरसद्‌भाव प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥ —धर्मकीर्ति—प्रमाणमीमांसा पृष्ठ ८

६५ जैनदर्शन– डा० महेन्द्रकुमार जैन पृ० २९४-२९५

६६ वासनोद्‌बोधहेतुका तादित्यकारा स्मृतिः। —प्रमाणमीमांसा १।२।३
(ख) संस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। —परीक्षामुख ३।३

का विषय अतीत का अर्थ है जो नष्ट हो चुका है। उसका ज्ञान वर्तमान मे कैसे प्रमाण कहा जा सकता है ? जिस ज्ञान का कोई विषय नही, जिसका वर्तमान मे कोई आधार नही वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? विना विषय के ज्ञानोत्पत्ति किस प्रकार सभव है ? इन सभी प्रश्नो के उत्तर मे यही कहा जाता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का आधार वस्तु की वर्तमानता नहो, किन्तु उसकी यथार्थता है। यदि ज्ञान पदार्थ की वास्तविकता को ग्रहण करता है तो प्रमाण है। तीनो कालो मे रहनेवाला पदार्थ ज्ञान का विषय वन सकता है। यदि वर्तमान कालीन पदार्थ को हो ज्ञान का विषय मानते हैं तो अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता क्योकि वह भी त्रैकालिक वस्तु को ग्रहण करता है। केवल वर्तमान के आधार से ही अनुमान नही होता। अतीत के अर्थ को ग्रहण करनेवाली स्मृति यदि यथार्थ है तो प्रमाण है। ज्ञान इसलिए प्रमाण है कि वह यथार्थता को ग्रहण करता है। वर्तमान, अतीत और अनागन तीनो कालो मे यथर्थता रह सकती है इसलिए वह प्रमाण है।

विरोधी दार्शनिको का तर्क है कि जो वस्तु नष्ट हो चुकी है वह वस्तु ज्ञानोत्पत्ति का कारण किस प्रकार हो सकती है ? उत्तर मे जैनदर्शन का कथन है कि वह पदार्थको ज्ञानोत्पत्ति का कारण नही मानता। ज्ञान अपने कारणोसे पैदा होता है और पदार्थ अपने कारणोंसे पैदा होता है। ज्ञान मे इस प्रकारकी शक्ति है कि वह पदार्थ से न उत्पन्न होकर भी पदार्थ को अपना विषय वना सकता है। पदाथ का भी इसप्रकार का स्वभाव है कि वह ज्ञान का विषय वन सकता है। पदार्थ और ज्ञान मे कारण और कार्य का सम्वन्ध नहीं है। उनमे ज्ञेय और ज्ञाता, प्रकाश्य और प्रकाशक, व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का सवध है। इन सभी तथ्यो को ध्यान मे रखकर स्मृति को प्रमाण मानना तर्क-सगत है। स्मृति को प्रमाण न मानने से अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता क्योंकि लिंग और लिंगी का सम्वन्धग्रहण भी केवल प्रत्यक्ष का विषय नही है। अनेक वार अवलोकन के पश्चात् निश्चित होने वाला लिंग और लिंगी का सवध स्मृति के अभाव मे किस प्रकार स्थापित हो सकता है ? लिंग को देखकर साध्य का ज्ञान भी विना स्मृति के नही हो सकता। सवध स्मरण के विना अनुमान विल्कुल ही असभव है।

प्रत्यभिज्ञान .

प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है।[६७] जैसे 'यह वही देवदत्त हैं' 'गवय गौ के समान होता है' 'भैस गाय से विलक्षण होती है' 'यह उससे दूर है' इत्यादि। जितने भी जोडरूप (सकलनात्मक) ज्ञान होते है वे सव प्रत्यभिज्ञान हैं। इन उदाहरणो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामने देवदत्त को देखकर पूर्व देखे हुए देवदत्त का स्मरण आने से वह ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है। इस ज्ञान के होने मे प्रत्यक्ष और स्मरण कारण होते हैं। यह ज्ञान पूर्व देखे हुए देवदत्त मे और वर्तमान मे सामने उपस्थित देवदत्त मे रहनेवाले एकत्व को विषय करता है इसलिए इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। किसी मानव ने गवय नामक पशु देखा। देखते ही उसे पूर्व

---

६७ (क) दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञान। तदेदेव, तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि।

—परीक्षामुख ३।५

(ख) दर्शनस्मरणसभव तदेदेव तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि सकलन प्रत्यभिज्ञानम्।

—प्रमाणमीमासा १।२।४

देखी हुई गौ का स्मरण हुआ। उसके बाद 'गौ के समान यह गवय है' इस प्रकार ज्ञान हुआ। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस को देखकर गौ का स्मरण आने पर भैंस गौ से विलक्षण होती है, इस प्रकार होने वाला यह ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण के विषयभूत पदार्थों में परस्पर की अपेक्षा को लिए हुए जितने भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं, जैसे यह उससे दूर है, यह उससे पास है, या इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है, ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञान—संकलनात्मक होने से प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत हैं।

बौद्धदर्शन प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानता है, अतः क्षणिकवादी होने के कारण वह प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानता। उसका मन्तव्य है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहनेवाला जब कोई एकत्व अर्थात् स्थिर पदार्थ ही नहीं है तब उसको विषय करनेवाला ज्ञान प्रमाण किस प्रकार हो सकता है ? अतीतकाल की अनुभूत वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गयी अब वर्तमान में जो वस्तु है, वह उसके सदृश अन्य ही वस्तु है, अतः प्रत्यभिज्ञान उस अतीतकाल की वस्तु को वर्तमान में नहीं देखता, अपितु उसके सदृश अन्य वस्तु को जान रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो वह प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानों का समुच्चय है। 'यह' इस अंश को विषय करनेवाला ज्ञान स्मरण है। इस प्रकार वह एक ज्ञान नहीं, किन्तु दो ज्ञान हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। इसके विपरीत नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते हैं, किन्तु वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र एवं परोक्ष प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैनदर्शन का मन्तव्य है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धों के समान अप्रमाण है और न नैयायिक-वैशेषिक दर्शन की तरह प्रत्यक्ष ही है किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मृति के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला तथा अपनी पूर्व तथा उत्तर पर्यायों में रहने वाले एकत्व एवं सादृश्य आदि को विषय करनेवाला स्वतंत्र परोक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। स्मरण अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान ऐसा प्रमाण है जो उभयपर्यायवर्ती एकत्वादि को विषय करनेवाला संकलनात्मक ज्ञान है। यदि पूर्व और उत्तर पर्यायवाची एकत्व का अपलाप करेंगे तो कहीं भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की सिद्धि नहीं हो सकेगी। स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्वादि वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं। जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण माना है।

तर्क :

उपलम्भानुपलम्भानिमित्तक व्याप्ति ज्ञान तर्क है। इसे 'ऊह' भी कहते हैं।[६८] जिसे जैन सिद्धान्त में चिन्ता कहा है उसे ही दार्शनिक क्षेत्र में तर्क कहा है। अमुक वस्तु के होने पर ही अमुक दूसरी वस्तु का होना या पाया जाना उपलंभ कहलाता है और एक के अभाव में किसी दूसरी वस्तु का न पाया जाना अनुपलंभ कहलाता है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना और अग्नि के अभाव में धूम का न होना।

साध्य तथा साधन के अविनाभाव को व्याप्ति कहते हैं। उपलम्भ और अनुपलम्भ रूप जो व्याप्ति है, उससे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान तर्क है।

---

६८. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। —प्रमाणमीमांसा १।२

प्राय. सभी दार्शनिको ने तर्क को प्रमाण स्वीकार किया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्वन्ध मे न्यायदर्शन का मन्तव्य है कि तर्क न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर, क्योकि वह अपरिच्छेदक है किन्तु परिच्छेदक प्रमाणो के विपय का विभाजक होने से वह उनका अनुग्राहक है अर्थात् सहकारी है। दूसरे शव्दो मे कहना चाहे तो प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा परिपुष्ट होता है। प्रमाण पदार्थों को जानते हैं पर तर्क उनका पोपण करके उनकी प्रमाणता को स्थिर करने मे सहायता देता है। इसीकारण न्यायदर्शन मे तर्क को सभी प्रमाणो के सहायक रूप मे माना है, परन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य उदयनने और उपाध्याय वर्द्धमान आदि ने विशेपरूप से अनुमान प्रमाण मे ही व्यभिचार-शकानिवर्तकरूप से तर्क को माना है। व्याप्ति ज्ञान मे भी तर्क को उपयोगी स्वीकार किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन मे तर्क की मान्यताएँ अनेक प्रकार से प्राप्त होती है, किन्तु न्यायदर्शन उसे स्वतन्त्र प्रमाण रूप से स्वीकार नही करता है। वौद्ध दर्शन मे तर्क को व्याप्तिग्राहक मानकर भी उसे प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण ही माना है। मीमासक दर्शन ने तर्क को प्रमाण कोटि मे माना है, परन्तु जैन दार्शनिक प्रारम्भ से ही तर्क को परोक्ष प्रमाण मानते रहे हैं। उन्होने तर्क को सकल देश-काल व्यापी अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना है। व्याप्तिग्रहण प्रत्यक्ष से नही हो सकता क्योकि प्रत्यक्ष सम्वद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है, जवकि व्याप्ति सकल देशकाल के उपसहार पूर्वक होती है।

अनुमान भी तर्क के स्थान को ग्रहण नही कर सकता, क्योकि अनुमान का आधार ही तर्क है। जव तक तर्क से व्याप्ति ज्ञान न हो जाय तव तक अनुमान की प्रवृत्ति ही असम्भव है। दूसरे शव्दो मे कहा जाए तो तर्क ज्ञान के अभाव मे अनुमान की कल्पना ही नही हो सकती। अनुमान स्वय तर्क पर प्रतिष्ठित है। इसलिए तर्क का स्थान अनुमान नही ले सकता। जो ज्ञान जिससे पहले उत्पन्न होता है और उसका आधार भी वही है वह ज्ञान तद्रूप नही हो सकता। यदि इसप्रकार होगा तो पूर्व और पश्चात् का, आधार और आधेय का सम्वन्ध ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए तर्क अनुमान से भिन्न है, व स्वतन्त्र है।

अनुमान

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते है।[६९] साधन को लिंग और साध्य को लिंगी भी कहते है अत इस प्रकार भी कह सकते हैं कि लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते है।[७०] लिंग का अर्थ चिह्न है और लिंगी का अर्थ उस चिह्नवाला है। जैसे धूम से अग्नि को जान लेना अनुमान है। यहाँ धूम साधन अर्थात् लिंग है, अग्नि साध्य अर्थात् लिंगी है। अग्नि का चिह्न धूम है। किसी स्थल पर धुआ उठता हुआ दिखलाई देता है तो ग्रामीण लोग धुए को देखकर सहज ही यह अनुमान

---

६९ साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।—**प्रमाणमीमांसा १।२।७**
(ख) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।—**परीक्षामुख ३।१४**

७० लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिवोधैकलक्षणात्। लिङ्गिधीरनुमान।—**लघीयस्त्रय ३।१२**

२५

कर लेते है कि वहाँ पर आग जल रही है। विना अग्नि के धुआँ नही उठ सकता। इसलिए ऐसे किसी अविनाभावी चिह्न को निहार कर उस चिह्नवाले को जान लेना अनुमान है।

साधन या लिंग इस प्रकार का होना चाहिए जो साध्य या लिंगी का अविनाभावी रूप से सुनिश्चित हो अर्थात् जो साध्य के होने पर ही हो और साध्य के न होने पर न हो। ऐसा साधन ही साध्य की सम्यक् प्रतीति कराता है। अकलकदेव ने साधन या लिंग को **'साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षण'** कहा है अर्थात् साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधन का प्रधान लक्षण है। सक्षेप मे इसे अन्यथानुपपत्ति भी कह सकते हैं।[७१] अन्यथा अर्थात् साध्य के अभाव मे साधन की अनुपपत्ति अर्थात् न होना। जो साध्य के अभाव मे नही रहता हो और साध्य के सद्भाव मे ही रहता हो, वही सच्चा साधन है। साधन को हेतु भी कहते हैं।

चार्वाक दर्शन को छोडकर शेष सभी पौर्वात्य दर्शनो ने अनुमान को प्रमाण माना है। चार्वाक दार्शनिक अनुमान को इसलिए प्रमाण नही मानते हैं क्योकि वे किसी अतीन्द्रिय पदार्थ मे विश्वास नही करते। जिन दर्शनो ने अनुमान को प्रमाण माना है उन्होंने अनुमान के दो भेद किये है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान

साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाले सुनिश्चित साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान हैं।[७२]

सहभावी और क्रमभावी कार्यों का क्रमभाव और सहभाव-विषयक जो नियम हैं वह भी अविनाभाव है। कितने ही कार्य सहभावी होते हैं और कितने ही क्रमभावी होते हैं। रूप और रस सहभावी है। रूप को निहार कर रस का अनुमान करना या रस-दर्शन से रूप का अनुमान करना सहभावी अविनाभाव है। एक के होने के पश्चात् दूसरे का होना क्रमभाव है। कृतिका नक्षत्र का उदय होने के बाद शकट का उदय होना क्रमभावी अविनाभाव है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी क्रमभाव के अन्तर्गत है। आग से धुए की उत्पत्ति क्रमभावी अविनाभाव है। इसतरह जिन पदार्थों मे जिस प्रकार का अविनाभाव हो उसे तर्क प्रमाण द्वारा ज्ञात कर और साध्य के साथ अविनाभावी साधन को देखकर स्वयं साध्य का अनुमान करना स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान मे एक व्यक्ति दूसरे—दूसरे पर अवलम्बित नही रहता। साधन को देखकर साध्य का अनुमान व्यक्ति अपने आप कर लेता है, अपने लिए किये गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं।

साधन

प्रमाणमीमासा मे आचार्य हेमचन्द्र ने स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी-ये पाच साधन माने हैं।[७३]

स्वभाव साधन वह है जहाँ वस्तु का स्वभाव ही साधन बनता हो। जैसे उष्ण स्वभाव होने

७१. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते। —**प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२**
७२. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।—**प्रमाणमीमासा १।२।९**
७३. स्वभाव कारण कार्यमेकार्यसमवायि विरोधि चेति पचधा साधनम्।—**प्रमाणमीमांसा १।२।१२**

से अग्नि जलाती है। शब्द अनित्य है क्योकि वह कार्य है। ये स्वभावसाधन या स्वभाव हेतु के दृष्टात हुए।

आकाश मे काली कजरारी घटाए जब उमड-घुमड कर आती है जिसे देखकर वर्षा का अनुमान करना कारण से कार्य का अनुमान है। उसी कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है जिसके होने पर कार्य अवश्य होता है। इसमे बाधक कारणो का अभाव और समग्र साधक कारणो की सत्ता ये दोनो आवश्यक हैं।

किसी कार्य विशेष का अवलोकन कर उसके कारण का अनुमान करना कार्य-साधन है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। विना कारण के कार्योत्पत्ति कदापि सम्भव नही है। कारण और कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो सकता है, जैसे धुए को देखकर अग्नि का अनुमान करना, नदी मे जोर से पानी को आते हुए देखकर कही पर तेज वर्षा हुई है, ऐसा जानना कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ मे दो या उससे अधिक कार्यों का एक साथ रहना एकार्थ-समवाय है। जैसे एक फल मे रूप और रस साथ-साथ रहते हैं। रूप को देखकर रस का अनुमान करना या रस को देखकर रूप का अनुमान करना—यह एकार्थसमवाय है। रूप और रस मे न तो कार्य—कारण भाव है और न रूप व रस का एक स्वभाव है। इन दोनो की एक स्थान पर अवस्थिति ही एकार्थसमवाय के कारण हैं।

किसी विरोधी भाव मे उसके अभाव का अनुमान करना विरोधी साधन से होनेवाला अनुमान है। अग्नि व ठड मे परस्पर विरोध है, इसलिए एक के होने पर दूसरी नही हो सकती, अग्नि की ज्वालाए धधक रही हो, वहाँ पर ठड नही हो सकती। यहाँ पर ठड नही है, क्योकि अग्नि जल रही है। अग्नि की नन्ही-सी चिनगारी से ठडक का अभाव नही हो सकता, अत अनुमान सम्यक् होना चाहिए।

परार्थानुमान ·

साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परार्थानुमान है।[७४] स्वार्थानुमान स्वत उत्पन्न होता है पर परार्थानुमान उससे विपरीत है। एक व्यक्ति ने स्वय साधन और साध्य के अविनाभाव को ग्रहण किया है और द्वितीय व्यक्ति ऐसा है जिसे इस सम्बन्ध का किञ्चित् मात्र भी ज्ञान नही है। प्रथम व्यक्ति अपने ज्ञान का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए करता है। उसके कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है। जो व्यक्ति साधन और साध्य के सम्बन्ध से परिचित है उसके लिए यह अनुमान नही है। किन्तु जिसे इस सम्बन्ध का ज्ञान नही है उसके लिए है।

परार्थानुमान स्वय ज्ञानात्मक है, परन्तु उसे प्रकट करनेवाले वचन को भी उपचार से परार्थानुमान कहा गया है।[७५] ज्ञानात्मक परार्थानुमान की उत्पत्ति वचनात्मक परार्थानुमान पर अवलम्बित है। इसलिए कारण मे कार्य का उपचार—आरोप करके वचन को भी परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान

---

७४ यथोक्तसाधनाभिधानज परार्थम्।—**प्रमाणमीमासा २।१।१**

७५ पक्षहेतुवचनात्मक परार्थमनुमानमुपचारात्।—**प्रमाणनयतत्वालोक ३।२३**

के लिए हेतु का वचनात्मक प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम प्रकार—साध्य के होने पर साधन का होना। दूसरा प्रकार है—साध्य के अभाव मे साधन का अभाव होना। जिस अर्थ का प्रतिपादन प्रथम प्रकार मे होता है उसी अर्थ का प्रतिपादन द्वितीय प्रकार मे भी होता है। अन्तर केवल वाक्य रचना का है। जैसे—पर्वत मे अग्नि है, क्योकि अग्नि के होने पर ही धुआ हो सकता है। अग्नि रूप साध्य की सत्ता होने पर ही धुआ रूप साधन की उत्पत्ति हो सकती है। यह प्रथम प्रकार है। द्वितीय प्रकार—पर्वत मे अग्नि है क्योकि अग्नि के अभाव मे धुआ नही हो सकता। अग्नि रूप साध्य के अभाव मे धुआ रूप साधन के अभाव का प्रतिपादन करने वाला, द्वितीय प्रकार है।

परार्थानुमान के अवयव

परार्थानुमान के अवयवो के सम्बन्ध मे दार्शनिको मे एक मत नही है। साख्यदर्शन परार्थानुमान के तीन अवयव मानता है—पक्ष, हेतु और उदाहरण। मीमासक दर्शन ने चार अवयव माने हैं—(१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण (४) और उपनय। न्यायदर्शन पाच अवयव आवश्यक मानता है—(१) पक्ष (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन। जैनदर्शन कितने अवयव मानता है, इसकी सक्षिप्त चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं। ज्ञानी को समझाने के लिए पक्ष और हेतु ये दो अवयव ही पर्याप्त है। मन्दबुद्धि वाले को समझाने के लिए दस अवयवो तक का निर्देश किया गया है। साधारण रूप से पाच अवयवो का प्रयोग होता है वह इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है।[७६] हम जिस बात को सिद्ध करना चाहते हैं उसका प्रथम निर्देश प्रतिज्ञा है। इससे साध्य का परिज्ञान होता है। प्रतिज्ञा को पक्ष भी कहते है। जैसे—'इस पर्वत मे अग्नि है।"

हेतु—साधनत्व को अभिव्यक्त करनेवाला वचन हेतु कहलाता है।[७७] जैसे—'क्योकि इसमे धूम है।' इस हेतु का कथन हुआ। इसको अधिक स्पष्ट इसप्रकार किया जा सकता है—क्योकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या अग्नि के अभाव मे धूम नही हो सकता। साधन और साध्य के सम्बन्ध को दिखाते हुए इसका प्रयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं।

उदहारण—हेतु को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग करना उदाहरण है।[७८] उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्यरूप दो प्रकार का है। सादृश्य बताने के लिए उदाहरण का प्रयोग करना, जहा जहा धूम होता है वहा वहा पर अग्नि होती है जैसे पाकशाला, यह साधर्म्यदृष्टान्त है। विसदृशता को प्रकट करनेवाले दृष्टान्त का प्रयोग करना, जहाँ पर अग्नि नही होती वहा पर धूम भी नही होता जैसे तालाब, यह वैधर्म्यदृष्टान्त हैं। प्राय दोनो मे से किसी एक का प्रयोग करना ही पर्याप्त होता है।

उपनय—हेतु का धर्मी पक्ष मे उपसहार करना (दोहराना) उपनय है।[७९] जहा पर साध्य रहता है उसे धर्मी कहते हैं। 'इस पर्वत मे अग्नि हैं' यहा पर अग्नि साध्य है और पर्वतधर्मी है, क्योकि अग्निरूप

---

७६ साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा।—प्रमाणमीमासा २।१।११

७७ साधनत्वाभिव्यजकविभक्त्यन्त साधनवचन हेतुः।—प्रमाणमीमांसा २।१।१२

७८. दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। —प्रमाणमीमासा २।१।१३

७९ हेतो साध्यधर्मिण्युपसहरणमुपनय। यथा धूमश्चात्र प्रदेशे। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।४९-५०

साध्य पर्वत मे रहता है। हेतु का धर्मी मे उपसहार करना जैसे 'इस पर्वत मे भी धूम है' इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना उपनय है।

निगमन—साध्य का पुनर्कथन (दोहराना) निगमन है।[८०] प्रतिज्ञा के समय जिस साध्य का निर्देश किया जाता है उसको उपसहार के रूप मे फिर से दोहराना निगमन है। यह अन्तिम निर्णयरूप कथन होता है। जैसे—'इसीलिए यहा पर अग्नि है।' यह कथन निगमन है।

पाच अवयवो को लक्ष्य मे रखते हुए परार्थानुमान का पूर्णरूप इस प्रकार से है—

'इस पर्वत मे अग्नि है (प्रतिज्ञा), क्योंकि इसमे धूम होता है, जहा-जहा धूम होता है, वहा वहा अग्नि होती है, जैसे रसोईघर (साधर्म्य दृष्टान्त) जहा पर अग्नि नही होती वहा पर धूम भी नही होता जैसे जलाशय (वैधर्म्य दृष्टान्त) इस पर्वत मे धूम है (उपनय), एतदर्थ यहा पर अग्नि है (निगमन)।

आगम

आप्तपुरुष के वचन मे आविर्भूत होनेवाला अर्थ सवेदन आगम है।[८१] आप्तपुरुष वह है जो तत्त्व को यथावस्थित जानने के साथ ही उसका यथावस्थित निरूपण करता हो। जो पुरुष राग-द्वेष से रहित है वह आप्त है, क्योकि वह कभी भी विसवादी व मिथ्यावादी नही हो सकता। ऐसे पुरुष के वचनो से होनेवाला ज्ञान आगम है। उपचार मे आप्तपुरुष का वचन भी आगम है। परार्थानुमान मे आप्तत्व आवश्यक नही है किन्तु आगम के लिए आप्तपुरुष का होना जरूरी है। आप्तपुरुष के वचन तीनो काल मे प्रामाणिक होते है। उसकी प्रामाणिकता के लिए अन्य हेतु की आवश्यकता नही। तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त कहलाते हैं। सत्यप्रवक्ता साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त होते हैं।

सक्षेप मे प्रमाण के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है। यहा पर प्रमाण के भेदो व प्रभेदो के सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से विवेचन करना इष्ट नही था, केवल इतना ही बताना इष्ट था कि जैनदर्शन मे प्रमाण की क्या स्थिति रही है और उसका स्वरूप क्या रहा है और उसके मुख्य भेद कितने है। आगम-साहित्य मे वह बीज रूप मे है। फिर दार्शनिक आचार्यों ने उस बीज का अत्यधिक विस्तार किया है क्योकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अधिगम प्रमाण और नय से ही होता है। वस्तु चाहे जड हो या चेतन, उसके वास्तविक स्वरूप का परिबोध प्रमाण और नय के अभाव मे नही हो सकता। इसलिए प्रमाण और नय वस्तुविज्ञान के लिए अनिवार्य साधन है।

---

८० साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्। यथा तस्मादग्निरत्र। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।५१-५२

८१ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम।—प्रमाणनयतत्त्वालोक ४।२

भारतीय संस्कृति की दो गतिशील धाराएँ

वैदिक और श्रमण-संस्कृति

● बाबू गुलाबराय

प्रसिद्धसाहित्यकार एवं चिंतक स्व० बाबू गुलाबराय जी का यह शोध लेख हमें डा० जे० पी० खण्डेलवाल के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

एक दूसरे की पूरक

वैदिक एवं श्रमण संस्कृति दोनों ही प्रागैतिहासिक काल से ही विकसित होती हुई चली आ रही हैं। ऋग्वेद[1] अथर्ववेद[2], गोपथब्राह्मण[3] और भागवत[4] आदि वैदिक-धर्म के साहित्य में श्रमणसंस्कृति के आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव की चर्चाएं सर्वत्र बिखरी हुई मिलती हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे वेदकालीन थे। इससे यह भी सुस्पष्ट है कि श्रमणसंस्कृति का प्रवर्तक जैन-धर्म प्रागैतिहासिक धर्म रहा है। यह बौद्ध-धर्म की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। 'भागवत' में वर्णित जैन-धर्म सम्बन्धी विवरणों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन-धर्म का आविर्भाव वैदिकधर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ और तभी से दोनों धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही हैं। विद्वानों का मत है कि अनादिकाल से ही भारतीय विचारधारा दो रूपों में विभक्त मिलती है।

१ परम्परामूलक - ब्राह्मण्य या ब्रह्मवादी वैदिक धारा।

२ पुरुषार्थमूलक प्रगतिशील श्रामण्य या श्रमण प्रधान धारा।

---

१. ऋग्वेद १०।१६।१

२ अथर्ववेद ११।५।२४-२६

३ गोपथ ब्राह्मण, पूर्व २।८,

४ भागवत ५।२८



वस्तुत ये दोनो विचारधारा एक दूसरे की पूरक रही हैं किन्तु दुर्भाग्यवश इनमे भेद उत्पन्न करनेवालोकी कमी नही रही और ये दोनो धाराए, जो वैदिकयुग मे एक दूसरे की पूरक थी, वैदिकोत्तर काल मे धीरे-धीरे परस्पर विरुद्धगामी होती गई और कालान्तर मे पृथक हो गई। इन दोनो की विचारधारा मे पूर्ण समन्वय है। वेदो के नाम पर उस समय यज्ञो मे जो बलि देने की प्रथा का अतिरेक हो गया, उससे महावीरस्वामी का हृदय द्रवित होना स्वाभाविक था। अहिंसाप्रधान जैन-धर्म को आधुनिक रूप देने का श्रेय भगवान पार्श्वनाथ एव भगवान महावीर को है।

वैदिक और श्रमण—इन दो प्रकार की विचारधाराओ को—समानान्तर प्राचीन धाराओ को—हम क्रमश ऋषिसम्प्रदाय और मुनिसम्प्रदाय भी कह सकते है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्र द्रष्टा है—

ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव.[1]

मुनि शब्द का अर्थ गीता के इस श्लोक मे दर्शाया गया है—

दु:खेष्वनुद्विग्नमना. सुखेषु विगतस्पृह.।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥[2]

इस प्रकार 'मुनि' शब्द के साथ ज्ञान, तप, योग, वैराग्य जैसी भावनाओ का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक सहिताओ मे बहुत ही कम हुआ है। श्रमणसस्कृति मे ही यह शब्द अधिकाशत प्रयुक्त है। पुराणो मे, जो वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओ का समन्वय प्रस्तुत करते है, ऋषि और मुनि दोनो शब्दो का प्रयोग बहुत कुछ मिले-जुले अर्थ मे होने लगा था। दोनो सस्कृतियो मे ऐतिहासिक-विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिक सस्कृति मे कर्मकाण्ड की प्रधानता, हिंसामूलक मासाहार और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढी तो श्रमणसस्कृति या मुनिसस्कृति मे अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पडी—

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्द-मूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥[3]

वैदिकसस्कृति की असहिष्णुता ने वेदो को सुननेवाले शूद्रो के कानो मे रागा घोलकर डालने का विधान[4] किया तो अनेकान्तवादी सहिष्णु श्रमणसस्कृति ने जैन, बौद्ध और सन्त सम्प्रदायो को जन्म दिया जिनमे 'जाति पाति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।'

वैदिक धर्म के समानान्तर ही श्रमण धर्म भी जनजीवन मे व्याप्त था। श्रमण धर्म की तीन प्रमुख विशेषताए ये है—(१) श्रम, (२) सयम और (३) त्याग।

डॉ० राधाकुमुदमुखर्जी श्रमणधर्म को वैदिक चिन्तनधारा का ही अग मानते है। इस श्रमण धर्म या सन्यास धर्म का बीज ऋग्वेद (१।१०९।४) मे भी मिलता है जहा ऋषि तप के द्वारा

---

१ निरुक्त २।११
२ २।५६
३ वाल्मीकि रामायण २।२०।२९
४ गौतमधर्मसूत्र २।३।४

सत्य का साक्षात् अनुभव करने की क्षमता रखता है। यहा तो तप से विश्व की उत्पत्ति तक बतलाई गई है। (१०।१९०)[१]—

भारतीय धर्म और सस्कृति के इतिहास मे अर्हत्धर्म एव श्रमण सस्कृति का महत्वपूर्ण योग रहा है। मेगस्थनीज ने अपनी भारतयात्रा के समय दो प्रकार के दार्शनिको—ब्राह्मण और श्रमण—का उल्लेख किया है। उस युग मे श्रमणो का बहुत आदर किया जाता था। मेगस्थनीज ने श्रमणो के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया है उसमे कहा गया है कि वे वन मे रहते थे, सभीप्रकार के व्यसनो से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाति उनकी स्तुति एव पूजा करते थे।[२] रामायण मे उल्लिखित श्रमणो से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। 'गोविन्द राजीय रामायणभूषण' मे श्रमणो को दिगम्बर कहा गया है।[३] ब्राह्मण साहित्य मे भी श्रमणो का उल्लेख मिलता है।[४] इसप्रकार जैनधर्म श्रमण नाम से प्राचीनकाल मे प्रचलित रहा और महावीर को श्रमण होते देखकर बुद्ध को मानने वाले गौतम बुद्ध को महाश्रमण कहने लगे। ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण-सस्कृति की प्राचीन परम्परा रही है। श्रीमद्भागवत्[५] मे भी मरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभिराजा के पुत्र भगवान ऋषभदेव को श्रमण-सस्कृति का प्रवर्तक कहा गया है।

आदान-प्रदान

वैदिक और श्रमण सस्कृति मे सामजस्य की भावना के आधार पर आदान-प्रदान हुआ और इन्होने भारतवर्ष की बौद्धिक एकता बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। व्रात्यो और श्रमण ज्ञानियो की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैन-धर्म ने किया। ब्रह्मोपनिषद मे श्रमण की चर्चा आई है—

यत्र लोका न लोका श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस।
एकमेव तत् परब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥१५१।

शाकरभाष्य के अनुसार 'श्रमण परिव्राट्।'

व्रात्य प्राकृत-भाषा बोलते थे और वे अर्हन्त को पूजते थे।[६] ऋग्वेद मे व्रत, व्रात्य के सम्बन्ध मे चर्चा मिलती है—

व्रत—'अथा वयमादित्य व्रते तव'—ऋक० १।२४।१५ अहिंसादयोऽपि व्रतानि सन्ति तानि च देशकालदिभिर प्रतिबद्धानि महाव्रतान्युच्यन्ते। उक्तं हि—'जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'—योगदर्शन २।३१ अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो राया प्राङ् नमो व्रात्याय —अथर्ववेद १५।१८।५

अर्थात् व्रात्य दिन मे पश्चिमाभिमुख तथा रात्रि मे पूर्वाभिमुख रहता है, व्रात्य को नमस्कार।

---

१ हिन्दू सभ्यता, पृ० २११

२ Translation of the Fragments of the Indica of Magasthenes. Bonn, 1846, P 105

३ श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातवसना।

४ शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।२२, तैत्तिरीय आरण्यक २।७।१।

५ ५।३।२०।

६ जयचन्द्र विद्यालकार, भा० इति० की रूप० पृ० ३१२।

या निशा सर्वभूतानां तस्या जागर्ति सयमी ।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने. ।। —गीता २।६९
'अहना प्रत्यङ्व्रात्यो प्राङ्'—

व्रतो को धारण करनेवाले रात्रि आगमन (मृत्यु) से पूर्व ही (दिन मे ही) प्रत्यग् वृत्तिमान (आत्मस्थ) हो जाते हैं ।

'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ।'
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत प्राजनयत् ।
—अथर्व० काण्ड १५।सूक्त १।१-६ मन्त्र

अर्थात् वह प्रजापति था । प्रजापति से उसने अपने आपको ऊपर उठाया । गृहस्थ से सन्यास की ओर चलते हुए तत्काल उस प्रजापति ने व्रतो को धारण किया, व्रात्य हो गया । उस प्रजापति ने आत्मा को सुवर्ण देखा ।

देवेभ्य आ वृश्चते य एव विद्वास व्रात्यमुपवदति ।'
—अथर्व २ सूक्त ३ मन्त्र

ऐसे विद्वान (वेत्ता, सर्वज्ञ) व्रात्य को जो अपशब्द कहता है वह देवो का अपराधी होता है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा है—

यस्य पिता पितामहादि सुरा न पिबेत् स व्रात्य ।

अर्थात् जिसके कुल मे पिता और पितामह आदि ने मद्य न पिया हो वह व्रात्य है । प्रश्नोपनिषद् के शाकरभाष्य मे—व्रात्य इति स्वभावतः एव शुद्ध (२।११) कहा है ।

ऋषभनाथ—जैनधर्म के आदि पुरुष ऋषभनाथ का परिचय भागवत पुराण मे इन शब्दो मे दिया है—

नाभेरसौ ऋषभ आप्तसुदेवसूनु., यो वै चचार समदृग् योगचर्याम् ।
यत्पारहंस्यमृषय. पदमानमति, स्वस्थः प्रशान्तकरण परित्यक्तसग. ।।
—भागवत पुराण २।७।१०

ईश्वर अग्नीन्द्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र ऋषभदेव जी हुए, वे समद्रष्टा जडकी भाति योगाभ्यास करते थे । उनके परमहस पद को ऋषियो ने नमस्कार किया । स्वस्थ, शान्त इन्द्रिय, सब सग त्याग वे ऋषभदेव हुए, उनसे जैन धर्म प्रगट हुआ ।

क्षत्रियो के पूर्वज के रूप मे ऋषभदेव का स्मरण किया गया है—

ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्यपूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रज. ।।
—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व० २।१४

क्षात्रो धर्मोह्यादिदेवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेष भूताश्चधर्मा· ।
—महाभारत, शान्ति० १२।६४।२०

क्षात्र धर्म भगवान आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म इसके पश्चात् प्रचलित हुए।

न प्राक्त्वत्तः पुराविद्या ब्राह्मणानगच्छति।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत ॥—छान्दोग्य० ५।३।७

पुराविद्या (आत्मविद्या) क्षत्रियो से पूर्व ब्राह्मणो को प्राप्त नही हुई अतएव यह मान्यता युक्तिसंगत है कि सम्पूर्ण लोक पर क्षत्रियो का ही प्रशासन था।

अथेद विद्येत' पूर्वं न कास्मिंश्चन ब्राह्मण उवासताम्। —बृहदारण्यक ६।२८

इससे पूर्व आत्मविद्या किसी भी ब्राह्मण से व्यक्त होती हुई प्रतीत नही हुई।

सिंधु सभ्यता में जैन धर्म .

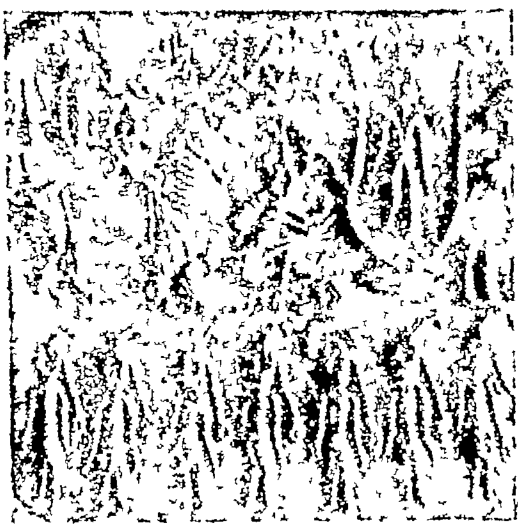
उपरोक्त उद्धरणो से श्रमणसंस्कृति की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। प्रागऐतिहासिक संस्कृति के जो अवशेष मोहनजोदडो मे उत्खनन से प्राप्त हुए हैं, उनमे ध्यानस्थ नग्न योगियो की मूर्तियो से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। श्री रामप्रसादचन्दा ने सिन्धु घाटी मे प्राप्त कुछ मुहरो का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'फलक १२ और ११८, आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेषरूप से मिलती है, जैसे मथुरा संग्रहालय मे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति मे। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण (चिन्ह) है।[1]

SINDH FIVE THOUSAND YEARS AGO

1 'Not only the seated deities engraved on some of Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yogu' Further that "The Kayotsarga posture is peculiarly Jaina. It is a posture nat of sitting but of standing In the Adi Purana, Book XVIII, Kayotsarga posture is described in connection with the Peuauces of Rsabha or Virsabha A standing image of Jaina Rsabha in Kayotsrga posture on a slab showing four such images, assignable to the 2nd Century A D in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12 Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statutes with arms, hanging on two sides But though these early Egyptian statutes and the archaic Greek Konroi show nearly the same pose, they lack the jealing of abondon that characterises the standing figures on the Indus Seals and images of Jinas in the Kayotsarga posture The name Rsabh means "bull" and the bull is the emblem of Jina Rsabh'

R B prof R P Chanda—Modern Review, Aug 1932 Page 155—160.

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने श्री चन्दा के उपरोक्त मत पर अपना यह अभिमत प्रकट किया है। 'मुहर सख्या F, G, H, फलक दो पर अकित देवमूर्ति मे एक बैल ही बना है, सम्भव है यह ऋषभ ही का पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैन-धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है।"[1] यहा हम श्री राम प्रसाद चन्दा द्वारा विवेचित मुहर का चित्र प्रस्तुत कर रहे है।



मोहनजोदडो से प्राप्त ऋषभनाथ की मुहर

प्रस्तुत चित्र मे कायोत्सर्ग मुद्रा मे ऋषभनाथ (आदिनाथ) है। उनके शिरोभाग मे त्रिवल्ली त्रिरत्न (सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि) की प्राप्ति की सूचक है। उनके शरीर के चारो ओर कल्पवृक्ष है, और उनके समीप उनके सुपुत्र एव अजनाभवर्ष (भारतवर्ष) के प्रतापी सम्राट भरत करबद्धाञ्जलि है, उनके पीछे वृषभ है। नीचे अमात्य वर्ग सभ्रम-मुद्रा मे है। विमलसूरि ने अपने 'पउमचरिउ' मे इस प्रसङ्ग का वर्णन किया है—

"साएयपुरवरीए, एगन्ते नाभिनन्दणो भयव।
चिट्ठइ सुसघसहिओ, तावय भरहो समणुपत्तो।
पणउत्तमंगमग्गो करजुयल करियतस्स पामूले।
तो भणइ चक्कवट्टी वलणमणि मे निसामेह।" —४।६८-६९

अर्थात् साकेतपुरी मे भगवान नाभिनन्दन एकान्त मे सघ सहित विराजमान थे। वहा भरत आये। उन्होने अपना उत्तमाग (शिर) नवाते हुए, अपने कर युगल उनके चरणमूल मे किये तथा नम्रभाव से इस चक्रवर्ती ने कहा—'हे भगवन ! मेरे वचनो को आप सुनें।'

दीक्षावल्ली और कल्पवृक्ष की बात जैनो के 'आदिपुराण' मे आई है—

दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पाङ्घ्रिवइवाबभौ। —१७।२२१

आदिदेव मुनि दीक्षावल्ली से समालिगित कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हुए। उपरोक्त चित्र मे प्रदर्शित सभारूप की चर्चा आदिपुराण मे हुई है—

ततो निभृतमासीने प्रवुद्धकुड्मले। सद: पद्माकरे भर्तु: प्रबोधमभिलाषुके।
प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना। विज्ञापनमकारीत्थं तत्वजिज्ञासुना गुरो।"
—२४।७७।७८

भगवान के श्रीमण्डप मे विराजमान होने पर जब सभारूप पद्मसमूह अपने पाणिपुटो को

---

१ हिन्दूसभ्यता, तृतीय स०, पृ० ३९

आवद्धकर प्रणतिपूर्वक प्रवोध-प्रवचन की अभिलाषा लिए तूष्णीस्थित हो गया उस समय तत्वो की जिज्ञासा रखने वाले भरतनृपति ने विनय से आनम्र होकर वक्ष्यमाण विज्ञापन किया।

श्री पी० सी० राय चौधरी का मत है कि भगवान ऋषभ ने पाषाण युग के अन्त मे और कृषि-युग मे प्रारम्भ मे जैनधर्म का प्रचार मगध मे किया।[१]

जैन पुराणो मे ऋषभनाथ को ही कृषि का आविष्कर्ता माना गया है। उनका उपदेश था 'कृषि करो और ऋषि जीवन विताओ।' इनसे पहले कल्पवृक्ष का युग था। खाने-पीने, पहनने-ओढने, रहन-महन आदि के पदार्थ उन कल्पवृक्षो से ही अनायास मिल जाया करते थे। वह भोगयुग था। ऋषभनाथ जी के युग मे कल्पवृक्षो के न रहने से जनता दुखी हुई और उन्होने कृषि करके अन्न उत्पन्न करने की और अन्न से भोजन वनाने की विधि सिखाई। ऋषभनाथ का चिन्ह वैल था, सभवत वह कृषि मे सहायक था। सिंध घाटी मे खुदाई मे जौ और गेहू के दाने मिले हैं। अत यह सिद्ध हो जाता है कि उस युग मे कृषि प्रारम्भ हो चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थो[२] मे भी इसका वर्णन मिलता है। ऋषभनाथ जगत् मे धर्म प्रचार करके, भरत को राज्य देकर, पूर्ण आत्मसाधना के लिए कैलाश पर्वत पर जाकर विराजमान हुए। वहा उन्होने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी त्रिशूल के द्वारा अवशिष्ट कर्मशत्रुओ का क्षय किया। जैन-धर्म शास्त्रो मे ऋषभनाथ और महादेवशकर भगवान मे समानता दिखाई है। भगवान शकर को भी दिगम्वर कहा गया है किन्तु वह विषय गम्भीर अध्ययन एव छानवीन की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है। सभवत इसी आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' मे यह विचार प्रकट किए कि "जैनधर्म अनादि है। गौतम वुद्ध, महावीरस्वामी के शिष्य थे। चौवीस तीर्थंकरो मे महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे यह जैन-धर्म को पुन प्रकाश मे लाये, अहिंसाधर्म व्यापक हुआ।"

इसमे तनिक भी सन्देह नही कि धर्म, दर्शन, सस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय सस्कृति के इतिहास मे श्रमणसस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

श्री कामताप्रसाद जैन लिखते हैं—"जैनियो ने भारतीय सभ्यता के विविध क्षेत्रो मे क्या-क्या किया ? पहले ही ज्ञान कला को लीजिए। पार्थिव विज्ञान मे आज जिस पुद्‌गल (Matter) के आविष्कार से तरह-तरह के करिश्मे दिखाई पड रहे है, जैनाचार्यों ने उसका सूक्ष्म विश्लेषण वहुत पहले ही किया था। उन्होंने जीव और तत्व के आधार पर इस जगत के विकास पर प्रकाश डाला था और उसमे अजीव को (१) पुद्‌गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश और (५) कालवत् माना था। पुद्‌गल पदार्थ ठीक

1. 'Not much research is possible in the prehistorical age as to the role Bihar played in the stay of Jainism But some of of the ancient Jain scriptures mention that Jainism had been preached in Magadh (Bihar) by Lord Rishab at the end of the stone age and the begining of the Agricultural Age At that remote period Magadh was separated from rest of India by Gange-Sagar The ancient history of Nepal bears this out also

—Shri P C Roy Chaudhary—Jainism in Bihar—P 7 L P

२. शतपथ ब्राह्मण १।३।२।६

वही पदार्थ है जिसे डाल्टन साहब ने 'मैटर' बताया है। पुद्गल जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। उसका सूक्ष्म अविभागी अश अणु कहलाता है। इस अणुवाद पर जैनो का कथन ही भारतीय साहित्य मे प्राचीनतम है।" प्रो० जैकोबी ने लिखा है 'उपनिपदो मे अणुवाद का पता नही चलता। साख्य और योग दर्शन मे भी वह दिखाई नही पडता । हाँ वैशेपिक और न्यायदर्शन मे वह अवश्य मिलता है। जैनो और आजीविको ने भी अणुवाद को अपनाया था। जैनो को प्रमुख स्थान देना उचित है क्योकि उनका अणुवाद-सिद्धान्त पुद्गल विपयक प्राचीनतम मान्यताओ के आधार पर वर्णित है।"[१]

श्री कामताप्रसाद जैन ने वनस्पति शास्त्र के क्षेत्र मे श्रमण-सस्कृति के प्रवर्तक जैनो के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है—जैनियो ने वनस्पति शास्त्र का भी अच्छा विवेचन किया है जो अन्यत्र नही मिलता। प्रो० वोस के आविष्कार के वर्षों पहले जैनाचार्यों ने वनस्पतिकाय को प्राणसहित बतलाया था। वे जल, वायु, अग्नि और पृथिवीकाय मे भी जीवत्व मानते हैं। इन अवस्थाओ मे जीव एक स्पर्शन-इन्द्री और सूक्ष्म ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। जीव अपनी इस निम्न अवस्था मे भी चार सज्ञाओ (१) आहार (२) भय (३) मैथुन और (४) परिग्रह को रखता है। वृक्षो पर प्रो० वोस ने जो प्रयोग किए है उनसे जैनो की इस प्राचीन मान्यता का समर्थन होता है। भारतीय सभ्यता और सस्कृति के लिए यह गौरव की बात है कि उसके सदस्य जैनियो ने उसको ज्ञान मार्ग मे इतना ऊँचा उठाया था।

जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के व्यावहारिक उद्देश्य हैं। कर्मों का नाश करने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्मो की कई श्रेणियाँ हैं। ये चतुर्विध अतराय कर्म जैन-दर्शन मे 'घातीय कर्म' माने गए है। जैनधर्म का कर्म-विभाजन एव कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षोपलब्धि का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म मे ज्यो का त्यो अपना लिया है। जैन-धर्म की 'अहिसा परमो धर्म' की विचारधारा ही बौद्धो मे मैत्री, करुणा और मुदिता के रूप मे प्रसरित हुई। अत जैनधर्म का बौद्धधर्म पर बहुत ऋण है।

जैनधर्म का त्रिरत्न[२]—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—वैदिक धर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग से साम्य रखता है। साख्य और योगदर्शनो के ईश्वरवाद से जैन-दर्शन की कुछ समानता है।[3] साख्य और जैन—दोनो दर्शन सृष्टि और ब्रह्म की पृथक् सत्ता प्रतिपादित

---

1 Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol II P 199

२ रत्नत्रयमय जैन जैत्रमस्त्र जयत्यद ।
येनाव्याज व्यजेष्टार्हन दुरितारातिवाहिनीम् ॥ —आदिपुराण १।४

३ जैन दर्शन मे ईश्वर का स्वरूप —
"क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ॥६॥

—आचार्यसमन्तभद्र, रत्नकरडश्रावकाचार

जिस ईश्वर के क्षुधा, तृपा, जरा (बुढापा), रोग, जन्म, मरण, भय गर्व, राग, द्वेप, मोह और चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य नही है, वही ईश्वर कहा जाता है।"

करते है। वेदान्त का जीवन्मुक्त ही जैन-दर्शन का अर्हत है। दोनो दर्शन आत्मा की सत्ता स्वीकार करते है और आत्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा की निर्मलता को महत्वपूर्ण मानते हैं। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप सम्बन्ध को दृष्टि मे रखकर विचार करने पर जैनदर्शन भी वैदिकदर्शन की भाति आस्तिक ठहरता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर की जो व्याख्या की है वह भी इससे मिलती है—

"ईश्वर अशरीर है, इसलिए वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर मे नही है। शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है।'

ईश्वर को सभी वस्तुओ का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्ममनन के अतिरिक्त ईश्वर का और कोई कार्य नही है। यदि कोई कार्य माना जायेगा तो ईश्वर मे भिन्न उसका लक्ष्य या उद्देश्य भी मानना जायेगा। इससे ईश्वर मे परिमिता दोष आ जायेगा।" इस अश मे अरस्तु का ईश्वर जैनो के ईश्वर से मिलता है।[1]

वैदिक ग थो मे महाभारत, स्मृति आदि मे जो अहिंसा की महिमा बताई गई है उस पर भी जैनधर्म की अहिसा प्रधान विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है।

निष्कर्ष—डॉ रामधारीसिंह दिनकर के शब्दो मे बौद्धधर्म की अपेक्षा, जैनधर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि, यह उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैन धर्म की दो बडी विशेषताएँ अहिंसा और तप है, इसलिए, यह अनुमान तर्क सम्मत लगता है कि वेदो मे जो अहिंसा और तप के बारीक बीज थे उन्ही का विकास जैन धर्म मे हुआ। यह बात जैन धर्म के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। महावीर वर्द्धमान ई० पू० छठी शताब्दी मे हुए हैं और उन्होने जैन-मार्ग का जोरदार सगठन किया, उससे मार्ग के प्रधाननेता वे ही समझे जाने लगे। किन्तु, जैन धर्म मे चौबीस तीर्थंकर (धार्मिक नेता, पैगम्बर) हुए हैं और महावीर वर्द्धमान महज २४वे तीर्थकर हुए थे। तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो ऐतिहासिक पुरुष है और जिनका समय महावीर और बुद्ध दोनो से कोई २५० वर्ष पहले आता है। वैराग्य और तपश्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषदें जोर देती थी, वह जैनो का भी मार्ग था और इस पथ के श्रमण उपनिषद् के युग मे भी, बहुत अधिक सख्या मे फैल रहे थे।"[2]

अत मे हम विद्वद्वर प० मगलदेव शास्त्री का मत उद्धृत करते हैं 'इसमे सन्देह नही कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिए, अपितु भारतीय-सस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्व है। भारतीय विचारधारा मे अहिंसावाद के रूप मे अथवा परम सहिष्णुता के रूप मे अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप मे जैन दर्शन और जैन विचारधारा की देन है, उसे समझे बिना वास्तव मे भारतीय सस्कृति के विकास को नही समझा जा सकता।[3]

---

१ पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास, गुलाबराय, पृ० ५६

२ सस्कृति के चार अध्याय, १९५६, पृ० १०८

३ जैनदर्शन, प्राक्कथन, डॉ० मगलदेव शास्त्री

जिन शासन की प्रक्रिया

—पं० सूरजचंद शाह 'सत्यप्रेमी' (डांगीजी)

जो जीतता है—वह शासन कर सकता है। वही 'जिन' कहलाता है। इसी हेतु तीर्थंकर सर्वदा क्षत्रिय होते है। क्षत-विक्षत (दीन हीन) का रक्षण ही उनका प्रधान वैशिष्ट्य है।

जो रागी होता है वह दोष नही देख सकता और जो द्वेषी है वह गुण नही देख सकता। गुण-दोष का ठीक-ठीक निर्णय करने के कारण श्री अर्हत प्रभु सबके न्यायाधीश हैं। उन्हे वादी-प्रतिवादी की श्रेणी मे रखना उनकी अशातना है। वे तो निर्विवाद-निर्णयकार है।

अनेकात नाम का कोई वाद नही, सिद्धान्त है प्रमाण है। स्याद्वाद की भी 'नय' सज्ञा है। भगवान के प्रवचन भी आत्म-प्रवाद या कर्मप्रवाद कहलाते है। या गणधर-तीर्थंकरके सवाद है।

वाद-विवाद, विसवाद, दुर्वाद, आदि भगवान की शासन-प्रक्रिया के विरुद्ध है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के सदुपयोग को 'सम्यग्दर्शन', द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सम्यग्ज्ञान' और दान, शील, तप और भाव का सम्यक्-चारित्र का ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की उपलब्धि ही अपना ध्येय है। जिनशासन की प्रक्रिया मे अरिहत निर्वैर होने से सुप्रीमकोर्ट के जज हैं, लोकपति सिद्ध शिलासन पर विराजमान विश्व-राष्ट्र के स्वामी है। आचार्य प्रधानमत्री है। उपाध्याय, उपराष्ट्रपति—उपलोक पति हैं। राज्यसभा के अध्यक्ष है। सिद्धो के प्रतिनिधि उपाध्याय और अरिहत के प्रतिनिधि आचार्य हैं। उपाध्याय सिद्धान्त की मूर्ति हैं और आचार्य व्यवहार की मूर्ति। लोक मे सर्वसाधु लोकसभा के स्पीकर है। इस तरह विश्व की व्यवस्था चल रही है। विश्व की व्यवस्था के लिये सिर पर अनन्त सिद्ध विराजमान है। कम मे कम २० तीर्थंकर दीक्षा लेकर उनसे अनन्तवीर्य प्राप्त करते है और चार तीर्थ की उत्पत्ति होती है। तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति पुद्गल के घर से आकर अपना घर वसाती है, इसलिये वह माँ के समान है। वही हमे पिता सिद्ध का परिचय करानी है। आराधना से ऋद्धि प्राप्त होती है और साधना से सिद्धि। आराधना से अरिहत होते हैं और साधना से सिद्ध।

अरिहतो का उपकार सिद्धो का आधार, आचार्यों का आचार, उपाध्यायो का विचार, सर्व साधुओ के सस्कार, सम्यग्दर्शन का व्यवहार, सम्यग्ज्ञान का सुधार, सम्यग्-चरित्र का विहार और सम्यक् तप के स्वीकार से ही उद्धार होता है यह जिनशासन का सार है। कषायातमा जीव द्रव्य है उसमे

मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद रहता है मिथ्यात्व को दूर करने के लिये देव वदन, अव्रत को दूर करने के लिये गुरु-वदन और प्रमाद को दूर करने के लिये आगमानुसार आचरण चाहिये। भूतकाल का शोक दूर करने के लिये प्रतिक्रमण, भविष्यकाल का भय दूर करने के लिये प्रत्याख्यान का और वर्तमान काल की रति-अरति दूर करने के लिये सामायिक आवश्यक है। चउवीसत्थव, गुरुवन्दन और कायोत्सर्ग — क्रमश पुरुषवेद, (सतोगुणी काम) स्त्रीवेद (रजोगुणी काम) और नपु सकवेद (तमोगुणी काम) मिटाने के लिये आवश्यक है। हास्य (राग) और जुगुप्सा (द्वेष) के भाव मिटाने के लिये नमस्कार मन्त्र का उपक्रम और नमोत्थुण ने (शक्रस्तव) का उपसहार करना चाहिये। इस तरह धीरे-धीरे अशुद्धयोग की प्रवृत्तियाँ नष्ट होकर सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जाते हैं। तीर्थंकरो का पुण्यतत्त्व, सिद्धो का जीवतत्त्व आचार्यो का सवरतत्त्व, उपाध्यायो का निर्जरातत्त्व और सर्व साधुओ का मोक्षतत्त्व ग्रहण करने लायक है। सम्यग्दर्शन से अजीव तत्व छोडना है।

सम्यग्ज्ञान से पाप हटाना है सम्यक्चारित्र से आस्रव रोकना है। और सम्यक्तप से बन्ध तोडना है, आस्रव का फल दु ख, सवर का फल सुख, पुण्य का फल साता (सुविधा) पाप का फल असाता (असुविधा) निर्जरा का फल शान्ति और मोक्ष का फल सिद्धि है।

आस्रव का अर्थ अँवली समझ और सवर का अर्थ सँवली-समझ है। करना, आस्रव। धरना बन्ध, हरना निर्जरा। खेलना सवर, खिलना पुण्य और 'खुलना' मोक्ष है। देखनेवाला जीव, दीखनेवाला जड और दूखनेवाला पाप है। पाप, आस्रव और बन्ध को छोडना है। पुण्य सवर, निर्जरा और मोक्ष को ग्रहण करना है। जो सीधा खडा हो सकता है, सरलभावी मनुष्य होता है वह साधु हो सकता है और साधु ही सिद्ध हो सकता है। जो अँवले, तिरछे आचरण करते हैं वे सीधे खडे नही हो सकते—तिर्यंच होते है। विपरीत कर्म करनेवाले झाड ऊँधे होते हैं। चल नही सकते, सिर नीचे और हाथ पैर ऊपर। उत्पाद मे ऊँचा क्रम होता है। अध पात मे नीचे पडता है। नमस्कार से ऊँचा चढता है। अहकार से नीचा पडता है। पहले पद मे पहला पूर्व है। अग्रायणीय लोक के अग्रभाग पर अपना घर है यह समझना। दूसरा पूर्व 'नमोसिद्धाण' मे हैं। अस्तिनास्ति और वीर्यप्रवाद आचार्य मे हैं, निश्चय मे वीर्य-वृद्धि, व्यवहार मे आचार्यों के अनुशासन मे विधि-निषेध, यह दोनो पूर्व तीसरे पद मे है। ज्ञान प्रवाद उपाध्याय पद मे है, सत्य प्रवाद पाँचवे पद मे हैं सत्य साक्षात्कार साधना से ही होता है।

आत्म-प्रवाद और कर्मप्रवाद सम्यक् दर्शन मे, विद्या प्रवाद और प्रत्याख्यान प्रवाद सम्यक् ज्ञान मे कल्याण और प्राणापाद सम्यक् चारित्र मे और क्रियाविशाल और लोकवि दुसार सम्यक् तप मे सम्मिलित है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो-दो पूर्व ४ आराधनाओ मे आते है। इस प्रकार नमस्कार मत्र मे १४ पूर्वो का सार समझना ही जिन शासन की प्रक्रिया है। प्रत्येक द्रव्य का आते जाते रहना स्वभाव है। आते जाते उत्पाद—व्यय पर्याय अवस्थाएँ हैं, अभिव्यक्तियाँ है। और रहना ध्रुव शक्ति है—गुण, व्यक्ति—द्रव्य है—शक्ति गुण है अभिव्यक्तियाँ अवस्थाऐ है। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं गुण शक्ति ध्रुव है इसलिये किसी भी अवस्था मे रागद्वेष करना वर्ज्य है। जब एक समय की एक अवस्था भी स्थिर नही है तो क्या इष्ट और क्या अनिष्ट ?

हम सम्पूर्ण ज्ञानी होना चाहते हैं तो किसी को अपनी तरफ के अज्ञानी नही रक्खे। यही जिन शासन ही प्रक्रिया है।

मंखलि गोशालक का नियतिवाद : एक टिप्पणी

—डॉ० अजित शुकदेव एम. ए पी एच-डी
दर्शनविभाग, विश्वभारती, शातिनिकेतन

भारतीय परम्परा मे मखलिगोशालक के नियतिवाद से आज भी प्रभावित कितने ही लोग दीख पडते है। नियतिवाद भाग्यवाद का ही दूसरा पहलू है। मखलि गोशालक के पूर्व भी इस विचार धारा का दर्शन होता है और आधुनिक काल मे भी इसका अस्तित्व जन-जीवन मे परिव्याप्त है।

नियति को वस्तुत नियम—समष्टि या नियमन करनेवाली शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। (**नियम्यन्ते धर्मा अनया इति नियति**)। इस दृष्टि से नियति ऋग्वैदिक शब्द 'ऋत्' के साथ साम्य रखता है, क्योकि ऋत्, के कारण ही ससार के नियम—चक्र चलते है और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दो मे सकल कार्यों के अन्तर मे यही ऋत् अथवा कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। अर्थात् सूर्य, नदियाँ आदि सभी ऋत् को ही वहन करती है (**ऋतमर्पन्ति सिन्धव.**)। अत यह विश्व एक ऐसी शक्ति अथवा व्यवस्था के अधीन है जिसे उलघन करना अथवा प्रभावित करना मनुष्य शक्ति से सम्भव नही है। सच तो यह है कि ससार का प्रत्येक व्यक्ति विश्व श्रृखला की एक कडी मात्र है और नियति ब्रह्म शक्ति सम्पन्न होने के कारण ब्रह्माण्डो की स्थिति, विस्तार, सामर्थ्य, विवेक, रचना, जन्म और अर्थ क्रियाकारितादि की हेतु से महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महा-उद्‌भव और महास्पन्द गति आदि नामो से पुकारा जाता है। योगवाशिष्ठ (२।१०।१—२।६२।६) मे वताया गया है कि सर्वत्र समरूप से स्थित जो व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, उसी का नाम नियति है, वही कार्य-कारण मे नियम और नियामक रूप से स्थित है। यहाँ तक कि यह नियति नित्य उद्वेग रहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है।[1] पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलने वाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है। जिसकी जैसी भवितव्यता होती हैं, वह वैसा ही होता है। (—महाभारत, शान्तिपर्व–२२६।१०)। दूसरे शब्दो मे नियति विश्व की नियामिका शक्ति है, जिसके अनुशासन को समस्त विश्व स्वीकारते हैं। वह अचलभाव से स्थित होती है और रुद्र से लेकर छोटे से छोटे तृण पर्यन्त नियति के नियम-व्यापार को भग नही कर सकते (योगवाशिष्ठ ३।६२।२, ५।८६।२६, ३।५४।२२, ६।३७।२१)। शैवागमो मे भी वताया गया है कि नियत कार्य की शक्ति ही नियति है,

---

१ नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता।
एषा नृत्यति वै नृत्य जगज्जालकनाटकम्।—६।३७।२३

जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु स्थितिशील अथवा कार्यशील वनती है। (**नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्य मण्डले**)। आकस्मिक आश्चर्यमयी आदि घटनाओ का कारण नियति ही हैं। नियति के रहस्य को न जानने के कारण ही हम किसी भी आश्चर्यजनक अथवा आकस्मिक घटनाओ को घटित होते हुए देखकर समझ नही पाते कि आखिर ये सव क्यो हो रहा है और कैसे हुआ। इसलिए नियति को विश्व की नियामिका शक्ति, कर्म-चक्र की सचालिका अथवा प्रेरकशक्ति मानी गयी है।

गोशालक का नियतिवाद भारतीय वैचारिक धरातल पर एक अपना अलग अस्तित्व रखता है। उनका कहना है कि कोई भी घटना, या कोई वस्तु पुरुप-प्रयत्न के द्वारा सिद्ध नही होती, वल्कि वह नियतिवाद के सदर्भ मे इस प्रकार है—"सत्वो के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नही है'। विना हेतु और विना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। सत्वो की शुद्धि का कोई हेतु नही है और कोई प्रत्यय भी नही है। अपने कुछ नही कर सकते, पराये भी कुछ नही कर सकते और कोई पुरुप भी कुछ नही कर सकता क्योकि वल नही है, वीर्य नही है, पुरुप का कोई पराक्रम नही है। सभी सत्व, प्राणी, भूत और जीव अपने वश मे नही है, निर्वल, निवीर्य, भाग्य और सयोग के फेर से वे सुख-दु ख भोगते हैं। अत उनके अनुसार पुरुप के प्रयत्न पर कुछ भी अवलम्वित नही है क्योकि शक्ति, पौरुप या मनुष्य-वल नाम की कोई वस्तु ही नही है। उपाशकदशाग के सप्तम अध्ययन मे सद्दालपुत्र के माध्यम से आजीवक मत की चर्चा देखने को मिलती है।

भगवान महावीर ने जव उससे पूछा कि—"वर्तन पुरुष-पराक्रम से तैयार हुए हैं अथवा विना किसी पराक्रम से ही ? तो सद्दाल पुत्र ने नि सकोच उत्तर दिया कि—मृत्तिका पिण्ड नियति वल से वनते है, पुरुष पराक्रम से नही। सभी पदार्थ नियतिवश होते हैं। जिसका जैसा होना नियत होता है, वह वैसा ही वनता है, उसमे कोई कुछ भी नही कर सकता।" इस मत की विवेचना सूत्रकृताग (प्रथम अध्याय), आवश्यक निर्युक्ति, भगवती सूत्र आदि ग्रन्थो मे देखने को मिलती है। इस सन्दर्भ मे कुण्डकोकिल एव देव के सवाद (उपासकदशा ६ अ) भी द्रष्टव्य हैं, जिसमे वताया गया है कि 'नियति के वल पर जो कुछ शुभ अथवा अशुभ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। प्राणी चाहे कितना ही वडा प्रयत्न क्यो न करे। जो कुछ नही होनेवाला होगा, नही होगा और इसी प्रकार, जो होनेवाला होगा उसका नाश भी नही हो सकेगा।" अर्थात् जो भवितव्य नही है नही होगा और भवितव्य विना प्रयत्न के भी होगा। किन्तु जिस व्यक्ति के लिये उसकी भवितव्यता नही उसकी हथेली मे आकर के भी वह नष्ट हो जायेगा।

नियतिवाद की विवेचना गुणरत्नसूरि (षड्दर्शनसमुच्चय) ने भी अच्छी तरह की है। लेकिन गुणरत्न सूरि और अन्यत्र प्रतिपादित नियतिवाद मे थोड-सा अन्तर है। अन्यत्र जहाँ भाग्यवादी विचार का पोषण हुआ है, वहाँ गुणरत्न ने नियतिवाद को प्रेरक शक्ति के रूप मे चित्रित किया है।

आजीवकमत की मान्यता के सन्दर्भ मे यह प्रतीत नही होती है कि नियति किसी सुव्यवस्था के सिद्धान्त का एक व्यापक एव सर्वग्राही नियम है, जो प्रत्येक कार्य एव प्रत्येक दृश्य को मूलत शासित किया करता है। वास्तव मे यह एक प्रकार के किसी प्राकृतिक या विश्वात्मक नियम का प्रतीक है। कर्मवाद मे भी एक सर्वव्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियन्त्रित करता है। साख्य

के परिणामवाद मे भी नियतिवाद के अश दीख पडते हैं। इस प्रकार इन दोनो विचारधाराओ मे आशिक रूप से नियतिवाद का समर्थन होता हुआ दीख पडता है।

नियतिवाद के अन्तर्गत बुद्धघोप (सुमगल वि० टीका पृ० १६०) ने सगति, भाव एव परिणाम की चर्चा की है, जो नियतिवाद के ही विभिन्न पहलू हैं। भाग्यवाद एव दैववाद आदि भी इसी की सीमा रेखा के अन्दर माने जाते हैं।[१] इस सदर्भ मे यह भी कह देना उचित होगा कि कई विद्वान नियतिवाद को कर्मवाद एव देववाद से भिन्न मानते हैं।[२]

नियतिवाद के सवध मे पाश्चात्य देशो मे भी काफी विचार किया गया है। भवितव्यता अर्थात् नियति को स्वीकार करने वालो मे दान्ते, होमर, शेक्सपीयर आदि का नाम लिया जा सकता है। ओडीपसरेक्स की कहानी हमे वताती है कि किस प्रकार पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वह अपने आप को अपने पिता की हत्या और अपनी माता के साथ विवाह करने से जो उसके भाग्य मे बदे थे, बचा नही सका। होमर के काव्य मे हैक्टर और एड्रोमाश का एक दूसरे से अलग होना नियति का एक और उदाहरण है। शेक्सपीयर के नाटको मे भी कलाकार को हम अपने पात्रो को उनकी दुर्वलताओ से ही उनके लक्ष्य की ओर ले जाते हुए देखते हैं। लीयर मे यह दुर्वलता अपराध पूर्ण भूल के रूप मे दिखाई देती है। नियति के कारण ही हेमलेट का दिमाग चकरा जाता है और उसकी इच्छाशक्ति विभ्रम मे पड जाती है। ओथेलो अपनी पत्नी को मार डालता है और फिर आत्मघात भी कर लेता है। ग्रीक साहित्य की दुखान्त रचनाओ मे वुरे ग्रह-नक्षत्रो को नियति के कारण ही स्थान दिया गया है।

इस सदर्भ मे प्रश्न उठता है कि जव विश्व मे सव कुछ पूर्व निर्दिष्ट है अथवा नियति के अधीन हैं तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का कोई मूल्य नही? इस प्रश्न के उत्तर मे सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक अपने-अपने ढग से उत्तर देते हैं कि मनुष्य मे अपरिमित शक्ति का स्रोत है एव वह अपने सामर्थ्य से मोक्ष अथवा पूर्णता की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इसलिए भारतीय दार्शनिक चिंतन मे नियति का घोर विरोध हुआ है। लेकिन यह वात उतनी ही सत्य है कि भारतीय व्यावहारिक जीवन मे नियतिवाद किसी न किसी रूप मे प्रतिष्ठित रहा है। माघ के शब्दो मे—विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है। जिस प्रकार सत् कवि शव्द और अर्थ दोनो का आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पुरुष दोनो जीवन मे आवश्यक समझता है।[3] महाभारत मे कर्ण ने नियति एव इच्छा स्वातत्र्य के सम्यक् सयोग पर वल देते हुए कहा था कि—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्त कुले जन्म, मदायत्त तु पौरुषम्।

गीता की दृष्टि मे किसी भी कर्म की सिद्धि के लिए अधिष्ठान, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, विभिन्न चेष्टाएँ और दैव वस्तुत ये पाच हेतु है—यथा—

१ विशेष अध्ययन के लिए देखे —"हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स् आफ द आजीवकाज" पृ २२४-२२६

२ आजीवको का नियतिवादी सम्प्रदाय—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

३ नालम्वते दैष्टिकता, ना निपीदति पौरुषे।
शव्दार्थौ सत्कविरिव, द्वय विद्वानपेक्षते। —शिशुपालवध २।८६

पंचैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।
अधिष्ठान तथाकर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथम् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।[1]

दूसरे शब्दो मे एकात कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की मान्यताएँ अलग-अलग मिथ्यात्व है, लेकिन सबके समुदाय कार्य साधक हैं—

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणंगता ।
णिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मतं ।।[2]

इस सदर्भ मे श्वेताश्वेतर-उपनिषद् (१।२) भी कहता है कि काल, स्वभाव, नियति यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नही है और इनका सयोग भी आत्मा के अधीन है।

इस प्रकार हम देखते है कि नियतिवाद का सबध भारतीय विचारधारा मे भी है और उसका महत्त्व व्यावहारिक जीवन भी मे माना गया है। भारतीय जन-जीवन अपनी सफलताओं पर भाग्य अर्थात् नियति की ही दुहाई देते हुए दिखाई देते है। घोर से घोर कष्ट को नियतिवश ही स्वीकार कर जीवित रह लेते हैं। साधारणत लोगो के मुह से यह कहते हुए सुना जाता है कि "**भाग्य फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम्**" इस सदर्भ मे यह कह देना समीचीन होगा कि व्यक्ति को मात्र भाग्य पर ही भरोसा न कर—अपनी इच्छाशक्ति को भी जाग्रत रखना चाहिए। राधाकृष्णन के शब्दो मे—"यद्यपि आत्मा पूर्व निर्धारित घटनाओ (नियति) के बधन से सर्वथा मुक्त नही है, तो भी वह अतीत को कुछ हद तक पराभूत कर उसे नये पथ की ओर प्रवृत्त और निर्देशित कर सकती है। मनुष्य अपनी स्वतत्रता से अनिवार्य (नियति) को अपने लिये उपयोगी वना लेता है।[3] इसी अर्थ मे मानव को स्वतत्र कर्त्ता माना गया है।[4] व्यक्ति की इस स्वतत्र इच्छा शक्ति के नियोजन के वदले मात्र भाग्य के प्रवाह मे अपने आप को वहा देना निष्क्रियता अथवा पगुता की निशानी है, जो कतई अपेक्षित नही। जीवन को सक्रिय, प्राणवान एव कर्तव्यनिष्ठ वनाने के लिए महावीर द्वारा प्रतिपादित नियति एव पुरुषार्थ का समन्वित दर्शन ही उपादेय हैं।

१ गीता १८।१३, १४
२ सन्मति तर्क ३।
३ जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० ३५०
४ पाणिनि १।४।५४

प्राचीन और अर्वाचीन योजन के मापदण्ड

—मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' 'आगमविशारद'

आगमकाल से लेकर अब तक 'योजन का परिमाण' अपरिवर्तित ही रहा है या यदा-कदा इसमे कुछ परिवर्तन भी हुए हैं ? इस युग का एक बहुचर्चित प्रश्न रहा है। विशाल मरुस्थल के समान यह सर्वंगिल प्रश्न समाधान की सरिता को लीलता चला जा रहा है, अत कतिपय सम्भ्रान्त विचारको ने इसे उपेक्षणीय मानकर (इसके समाधान के सम्बन्ध मे चिन्तन करना ही) छोड दिया है। फिर भी प्रस्तुत निबन्ध मे आगम-ग्रन्थो से सकलित सामग्री इसलिए उपस्थित की गई है कि चिन्तनशील पाठक इसे पाकर समाधान की दिशा तक पहुच सकें।

आगमकालीन परिमाण प्रणाली

जैनागमो मे चार प्रकार के प्रमाण प्रतिपादित हैं। १ द्रव्य प्रमाण, २ क्षेत्र प्रमाण, ३ काल प्रमाण, ४ और भाव प्रमाण।[1] इस निवन्ध का विषय केवल क्षेत्र प्रमाण है, इसलिए इस विषय से सबधित सूत्रो का साराश ही यहा सकलित किया गया है।

प्रमाण शब्द की व्याख्या

जुहोत्यादिगण मे पठित "माङ् माने" धातु से करण अर्थ मे ल्युट् प्रत्यय करने पर और 'प्र" उपसर्ग लगाने पर परिमाण अर्थ सूचक 'प्रमाण" शब्द सिद्ध होता है। प्रमाण का पर्यायवाची "परिमाण" इयत्ता [2] सीमा का सूचक है। लौकिकमान के लिए मान, उन्मान, अवमान आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं।[3]

क्षेत्र प्रमाण :

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकार का है—१ प्रदेशनिष्पन्न, २ विभागनिष्पन्न। प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्र प्रमाण अनेक प्रकार का है–यथा एक प्रदेशावगढ यावत् असख्येय प्रदेशावगाढ। क्षेत्र का अविभाज्य अश देश कहा जाता है। ऐसे एक प्रदेश मे अवगाढ-स्थित यावत् असख्येय प्रदेशो मे अवगाढ पदार्थ का परिमाण प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्र प्रमाण है।

---

१ अनुयोग द्वार सूत्र १३३।

२ प्रमाण हेतु मर्यादा, शास्त्रेयत्ता प्रमातृषु—अमरकोश-३, ३, ५४।

३ त्रिलोकसार—सामान्याधिकार।

किसी क्षेत्र का आयाम[४], विष्कम्भ[५], उद्वेध[६], वाहल्य[७] उच्चत्व, परिधि[८], जीवा[९], धनुपृष्ठ[१०], सामिप्य या दूरी को अगुल धनुष[११] योजन आदि से मापना विभाग निष्पन्न क्षेत्रप्रमाण है।

परिमाण के प्रमुख मापदण्ड

अगुल, वितस्ति, रत्नि (हाथ), कुक्षी (उदर), धनुप, गाउ और योजन। अगुल तीन प्रकार के हैं—१ आत्मागुल, २ उत्सेधागुल ३ प्रमाणागुल।

आत्मागुल :

भरत (आदि कर्मभूमि) क्षेत्र मे उत्पन्न अतीत, अनागत और वर्तमान काल के मनुष्यो की अगुलिया आत्मागुल हैं।

आत्मांगुल से मेय पदार्थ

अशास्वत—कूप, तालाब, द्रह, नदी, वापी, पुष्करणी, नहर, गुजालिका, सर, सरपक्ति, गुफा, गुफापक्ति, उद्यान, कानन, वन, वनखण्ड, वनराजी, सभा, प्रभा, प्रपा, स्तूप, खाई, परिखा, प्राकार, अट्टालिका, चरिका, द्वार, गोपुर, प्रासाद, गृह, तोरण, लयन, आपण, शृगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्त्वर, चतुष्पथ, महापथ, पथ, शकट, रथ, यान, युग, काठी, अवारी, शिविका, लघुरथ, कडाही, कडाह, कडियल और भाण्ड, पात्र आदि उपकरण मापे जाते हैं।[१२]

---

४. दैर्घ्यमायम (लम्बाई)—अमरकोश-२, ६, ११४।

५ विष्कम्भो योगभेदेस्याद्विस्तारप्रतिवन्धयो—मेदिनीकोष। यहा "विष्कम्भ" शब्द का चौडाई अर्थ लिया गया है।

६. उद्वेध—गहराई, भूमि के अन्दर का भाग।

७ वाहल्य—मोटाई।

८ क्षेत्र की लम्बाई चौडाई से तीन गुणी परिधि होती है। यह वृत्ताकार होती है।

९. जीवा—धनुपृष्ठ के सामने का सीधा क्षेत्र।

१० धनुपृष्ठ—धनुप की पीठ के समान आकारवाला क्षेत्र।

११ दण्ड, युग, नालिका, अक्ष और मूशल—ये सभी धनुप के समान परिमाण वाले होते हैं।

१२. (क) शाश्वत द्रह, नदी आदि का प्रमाण प्रमाणागुलसे ज्ञात होता है।

(ख) शृंगार, कलश, भेरी, दर्पण, हल, मूसल, सिंहासन एवं मनुष्यो के निवासस्थान व नगरादि तथा उद्यान आदि के विस्तारादिका प्रमाण आत्मांगुल से जाना जाता है।

—तिलोयपण्णत्ति, सामान्यलोकाधिकार

(ग) अनुयोगद्वार सूत्र १३३।

(घ) आत्मागुल तीन प्रकार के हैं - १ सूच्यंगुल, २ प्रतरागुल, और ३ घनागुल।

१—तीन आत्मागुल जितनी लम्बी और एक आकाशप्रदेश जितनी चौडी "आकाश श्रेणी" सूच्यगुल कहा जाता है।

२—सूच्यगुल से सूच्यगुल को गुणा करने पर अर्थात् ३ को ३ से गुणा करने पर ९अगुल लबी और एक आकाश प्रदेश जितनी चौडी आकाश श्रेणी प्रतरागुल कहा जाता है।

३—प्रतरागुल से सूच्यगुल को गुणा करने पर अर्थात् ९ को ३ से गुणा करने पर २७ अगुल लम्बी आकाश प्रदेश जितनी चौडी आकाश श्रेणी घनांगुल कहा जाता है।

उत्सेधांगुल[1]

परमाणु दो प्रकार के हैं—१ सूक्ष्मपरमाणु[2], २ और स्थूलपरमाणु । अनन्त सूक्ष्मपरमाणु पुद्गल समुदाय से एक स्थूल परमाणु की रचना होती है। यह स्थूल परमाणु ही व्यवहार्य (प्रमाण योग्य एक इकाई) है।

आठ स्थूल परमाणु के समान एक "ऊर्ध्वरेणु" होता है।[3]
आठ ऊर्ध्वरेणु के समान एक "त्रसरेणु" होता है।[4]
आठ त्रसरेणु के समान एक "रथरेणु" होता है।[5]
आठ रथरेणु के समान एक "वालाग्र" होता है।[6]
यह वालाग्र (केश का अग्रभाग) देवकुरु या उत्तरकुरु मे जन्मे मनुष्य का जाने।[7]

देवकुरु या उत्तरकुरु मे जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान हरिवर्ष या रम्यक्वर्ष मे जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

हरिवर्ष या रम्यक्वर्ष मे जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान हैमवत या हैरण्यवत क्षेत्र मे जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

हैमवत या हैरण्यवत क्षेत्र मे जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान पूर्वविदेह या अपरविदेह मे जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

पूर्वविदेह या अपरविदेह मे जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान भरत या ऐरवत क्षेत्र मे जन्मे मनुष्य का एक वालाग्र होता है।

भरत या ऐरवत क्षेत्र मे जन्मे मनुष्य के आठ वालाग्र के समान एक "लिक्षा" होती है।
आठ लिक्षा के समान एक "यूका" होती है।

इसी प्रकार उत्सेधागुल और प्रमाणागुल के भी ३, ३ भेद हैं। किसी मेय पदार्थ का परिमाण जानने के लिए सूच्यगुलादि तीन अगुलो का उपयोग किसी श्वेताम्बर आगम मे दिखाई नही देता। तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थो मे सूच्यगुलादि का प्रयोग प्राय सर्वत्र हुआ है।

१ ऊँचाई मापने के लिए निश्चित प्रमाण का एक अगुल।

२ सूक्ष्म परमाणु प्रमाण के उपयोगी नही होता—क्योकि वह अति सूक्ष्म होता है।

३ गवाक्ष की जाली मे होकर आनेवाली सूर्यरश्मियो मे जो उडते हुए रजकण दिखाई देते हैं, वे ऊर्ध्वरेणु हैं, उनमे से एक रजकण यहा ग्राह्य है।

४ किसी प्राणी के उडने से या चलने से जो रजकण भूमि से ऊपर की ओर उठते है। उनमे से एक रजकण "त्रसरेणु" है।

५ रथ के चलने से उडनेवाले रजकण "रथरेणु" कहे जाते हैं। उनमे से एक रजकण यहा ग्राह्य हैं।

६ वाल का अग्रभाग सूई की नोक जैसा होता है।

७ ये अकर्मभूमिया हैं—इनमे युगल मनुष्य उत्पन्न होते है—एक पुरुष और एक स्त्री। इनके केश अति कोमल होते हैं।

आठ यूका के समान लम्बा एक "यवकामध्यभाग" होता है। और आठ यवमध्य भाग जितना लम्बा एक 'उत्सेधागुल" होता है।[१]

छ उत्सेधागुल जितना चौडा एक "पग" होता है।[२]

बारह अगुल की ऊँचाई एक "वितस्ति" की होती है।[३]

चौवीस अगुल ऊँचा एक हाथ (रत्नि) होता है।

अडतालीस अगुल ऊँची एक कुक्षी होती है।[४]

छियानवे अगुल ऊँचा धनुप, दण्ड, युग, नालिका, अक्ष और मूसल होता है।[५]

दो हजार धनुष का एक "गाउ" होता है।[६]

---

१ अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे भी माप निर्धारण करने के साधनो मे लिक्षा, यूका आदि ही माप के साधन माने गये हैं किन्तु गणित के आधुनिक विद्वान् वालाग्र, लिक्षा, यूका और यवमध्यभाग आदि को माप के स्थूल साधन मानते है, क्योकि इनका सर्वत्र समान एव सुनिश्चित माप नही होता है।

२ "पादस्य मध्यतल प्रदेश पडगुलविस्तीर्ण पादैकदेशत्वात् पाद।"—**अनुयोग० सू० १३३**

३ "वितस्तिर्द्वादशागुल"—**अमरकोश** २, ६, ८४।

४ "पिचण्डकुक्षी जठरोदर तु दम्"—**अमरकोश** २, ६, ७७।

पृष्ठवश से नाभि और नाभि से पुन पृष्ठवश तक की लम्वाई अडतालीस अगुल अर्थात् दो हाथ की होती है।

५ "ववहारिएण दडे छण्णउइ अगुलाइ अगुलमाणेण। एव धणू, नालिया, जुगे, अक्खे, मुसले विहु। —**समवायांग-सम० ९६**। इस मे ९६ अगुल परिमिति दण्ड, धनुष, नालिका, युग, अक्ष, और मूसल आत्मागुल के माप से माने गये हैं। एक दण्ड से ही सभी मेय पदार्थ मापे जा सकते हैं फिर इन चार भिन्न भिन्न मापदण्डो के कहने का अभिप्राय क्या है? इसका समाधान इस प्रकार है—

(क) गृहभूमि का माप हाथो से,
(ख) क्षेत्र का माप दण्ड से,
(ग) मार्ग का माप धनुष से,
(घ) कूप का माप नालिका से किया जाता है। दश नालिका की एक रज्जु होती है। इस रज्जु से कूप की गहराई नापी जाती है।

१—युग-जुआ-बैलो की गरदन पर रखा जाता है।
२—अक्ष-चारसौ अगुल का एक प्राचीन प्रमाण—**नालदा वि० श०**
३—मूसल—बलभद्रजी का एक अस्त्र— **नालंदा वि० श०**

युग, अक्ष और मूसल से किन वस्तुओ का माप किया जाता था। यह शोध का विषय है।

६ 'गाउ" और गव्यूति" ये दोनो परिमाण वाचक हैं। गाउ का अर्थ एक कोश और गव्यूति का अर्थ दो कोश होता है। गुजरात मे एक कोश के लिए "गाउ" शब्द प्रचलित है। "गव्यूति स्त्री क्रोशयुगम्"—**अमरकोश**—२,१,२८। गाव से गाए चरने के लिए जितनी दूर जाती हैं, उतनी दूरी को गाउ या गव्यूति कहा जाता है। शब्द रचना से यह अर्थ उचित प्रतीत होता है। किन्तु गायो के चरने का क्षेत्र किसी निश्चित माप का नही होता, अत यह गाउ आदि का परिमाण अति स्थल परिमाण है।

चार गाउ का एक "योजन" होता है।[१]

उत्सेधागुल से मेय पदार्थ

उत्सेधागुल से केवल नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो के शरीरो की लम्बाई (अवगाहना) मापने का विधान है। अन्य किसी वस्तु का उत्सेधागुल से मापने को विधान नही है।[२]

प्रमाणागुल[३]

काकिणीरत्न के प्रत्येक तल की ऊँचाई एक उत्सेधागुल जितनी है। भगवान महावीर का अर्धांगुल भी इतना ही है। उत्सेधागुल से एक हजार गुणा प्रमाणागुल होता है। भगवान महावीर आत्मागुल से ८४ अगुल ऊँचे थे और उत्सेधागुल से १६८ अगुल ऊँचे थे, अत उत्सेधागुल से आत्मागुल की ऊँचाई दुगुनी होती है।[3]

प्रमाणागुल से मेय पदार्थ

पृथ्वी के विभाग पातालकलश, भवनवासी देवो के भवन, भवनप्रस्तट, नरक, नरकावली, नरकप्रस्तट, कल्पविमान, विमानप्रस्तट, टक-कूट, शैल, शिखरी, प्राग्भार, पर्वत का शिखर, विजय, वक्षस्कार, वर्ष, वर्षधर, वेदिका, द्वार, तोरण, द्वीप और समुद्र आदि सभी शास्वतपदार्थों का आयाम, विष्कम्भ, ऊँचाई, उद्वेध, परिधि आदि का प्रमाण प्रमाणागुल से मापा जाता है।

प्रमाणागुल से परिमित धनुप, गाउ और योजन ही प्रमाण मे उपयोगी माने गए हैं।

---

१ मागधस्स ण जोयणस्स अट्ठ धणुसहस्साइ निधत्ते पण्णत्ते—**ठाणांग** अ० ८। आत्मागुल से परिमित आठ हजार धनुष का योजन मगध देश का निश्चित है अत आगमोक्त सभी मापदण्ड २५०० वर्ष पूर्व मगधदेश में प्रचलित थे इस पाठ से यह अनुमान करना असगत नही लगता।

२ अनुयोगद्वार सूत्र १३२।

३ प्रमाण के लिए निर्धारित माप का एक अगुल।

४ एगमेगस्स रण्णो चाउरतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए कागणीरयणेछत्तले दुवालससिए अट्ठकण्णिए अहिगरणसठाणसठिए पण्णत्ते—तस्स ण एगमेगाकोडीउस्सेहगुलत्रिक्खभा त समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्ध गुल, त सहस्सगुण प्रमाणगुल भवइ। —**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**।

भगवान महावीर की ऊँचाई (अवगाहना) उत्सेधागुल प्रमाण से सात हाथ की थी, अत उनके अर्धांगुल से सहस्रगुण प्रमाणागुल होता है। और पूर्णांगुल से ५०० गुणा प्रमाणागुल होता है।

अन्य किसी काल के उत्सेधागुल और प्रमाणागुल का तुलनात्मक वर्णन आगमो मे नही मिलता है।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार ५०० उत्सेधागुल जितना एक प्रमाणागुल होता है। ५०० मानव योजन का एक प्रमाण योजन होता है। —**जेनेन्द्र० पृष्ठ २१५**

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार व्यवहार योजन आत्मागुल से माना गया है। (दिगम्बर मान्यता के अनुसार व्यवहार योजन उत्सेधागुल से माना गया है) यह मान्यता भेद आश्चर्यजनक है।

२८

अगुलत्रय तालिका

१ उत्सेधागुल, २ आत्मागुल, ३ प्रमाणागुल

६ अगुल का एक पग

वारह अगुल—२ पग की एक वितस्ति,

चौवीस अगुल—२ वितस्ति की एक रत्नि, (हाथ)

अडतालीस अगुल—२ रत्नि की एक कुक्षि[1]

छियानवे अगुल – २ कुक्षि का धनुष[2],

२ हजार धनुष का एक गाउ[3],

४ गाउ का एक योजन[4],

"नल्व"—एक मापदण्ड

(१) "नल्व किष्कु चतु शतम्"—**अमरकोश** २,१,२८ । किष्कूणा हस्ताना चतु शतम् । चार सौ हाथ परिमित लम्बी भूमि की "नल्व" सज्ञा है ।

(२) नल्व विंशहस्तशतम्—**भट्टक्षीरस्वामी** । एक सौ वीस हाथ परिमित लम्बी भूमी की "नल्व" सज्ञा है ।

(३) नल्व हस्तशतम्—**कात्यः**—सौ हाथ परिमित लम्वी भूमी की "नल्व" संज्ञा है ।

'नल्व' मापदण्ड के सम्वन्ध मे ये तीन मत भानुजीदीक्षित ने अमरकोश की टीका मे दिए है । "नल्व" मापदण्ड प्रादेशिक प्रतीत होता है । युग परिवर्तन के साथ-साथ मापदण्डो मे परिवर्तन होने का यह एक प्रमाण है । इस "नल्व" मापदण्ड का उपयोग किस युग मे किस प्रयोजन के लिए प्रचलित था यह अन्वेषणीय है ।

"निवर्तन"—एक मापदण्ड .

आनन्द श्रावक ने कृषि योग्य भूमि की मर्यादा करते हुए पाच सौ हलो से जितनी कृषि की जा सके इतनी भूमि की मर्यादा की थी । एक हल से सौ निवर्तन और पाच सौ हलो से पाच हजार निव-

---

१ दो हाथ का एक किष्कु, दो किष्कु का एक दण्ड । कुक्षि के स्थान मे "किष्कु" का प्रयोग भी मिलता है । —**जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश** पृ० २१५ ।

२ धनुर्हस्तचतुष्टयम्—**इति शब्दार्णव** ।

३ द्वाभ्या धनु सहस्राभ्या गव्यूति पु सि भाषित —इति शब्दार्णव । इस कथन से गाउ और गव्यूति पर्यायवाची प्रतीत होते हैं ।

४ 'युजिर् योगे' धातु से कर्म मे ल्युट् प्रत्यय करने पर "योजन" शब्द की सिद्धि होती है । युज्यते पथि इति योजनम् । चतुष्क्रोश्यां च योगे च—**इति मेदिनी**—मानव का मार्ग से योग (सबध) होता है अत योजन कहा जाता है ।

र्तन भूमि मे कृषि कार्य करने की मान्यता उस युग मे थी—ऐसा प्रतीत होता है। योजन आदि के समान नल्व और निवर्तन आदि का सार्वदेशिक माप प्रतीत नही होता।

आनन्द श्रावक वाणिज्य ग्राम के कोल्लाकसन्निवेश (उपवस्ति) मे रहता था। आधुनिक भूगोल के मानचित्र मे "वाणिज्यग्राम" का स्थान निर्धारित करके यदि अन्वेपण कार्य हो तो "नल्व" और 'निवर्तन' के मापदण्डो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त हो सकती है।

दस हाथ लम्बे वश दण्ड के मापदण्ड से चौवीस वश दण्ड परिमित एक निवर्नन माना जाता था—उपासक दशा प्रथम अध्ययन टीका पूज्य श्री घासीलाल जी म० कृत देखें।

माप दण्डो के मतभेद :

१ (क) गाउअ—गव्यूत—द्विधनु सहस्रप्रमाणक्षेत्रे **प्रज्ञापना, प्रथमपद**। दो हजार धनुप प्रमाण क्षेत्र की "गाउ" या "गव्यूत" सज्ञा है।

(ख) क्रोश द्वये च—**ओघनिर्युक्ति**।

(ग) गव्यूति स्त्री क्रोशयुगम् —**अमरकोश** २, १, १८, दो कोस की "गव्यूति" सज्ञा है।

(घ) पाणिनीय का सामान्य कहना है—"अध्वपरिमाणे च"— **लघुकौमुदी**

(ङ) गव्यूति—क्षेत्र का एक प्रमाण। अपरनाम कोश है—**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ० २३८**

(च) कोश-क्षेत्र का प्रमाण विशेष। अपरनाम गव्यूति—**जैनेन्द्र सिद्धात कोश पृ० १७१**

२ (क) किष्कु-क्षेत्र का प्रमाण विशेप। अपरनाम रिक्कु या गज—**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ० १२५**
दो हाथ का एक किष्कु (गणित शब्द)—**जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश २१५**

(ख) नल्व किष्कु चतु शतम्—**अमरकोश**–२, १, २१६
किष्कूणा हस्ताना चतु शती – यहा किष्कु एक हाथ का पर्यायवाचि है।

३ (क) पाच सौ धनुप का एक कोश होता है—**बौद्ध ग्रथ अभिधम्मकोश**

(ख) दो हजार धनुप का एक कोश होता है—**ठाणाग अ० ६**

४ (क) आठ कोश का एक योजन होता है—**बौद्ध ग्रथ अभिधम्मकोश**

(ख) चार कोश का एक योजन होता है—**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**

५ (क) मानव योजन (व्यवहार योजन) आत्मागुल से होता है—**अनुयोगद्वार सूत्र १३३**

(ख) उत्सेधागुल से मानव योजन या व्यवहार योजन होना हैं—**जैनेन्द्र सिद्धांत कोश पृ० २१५**

६ (क) पाच सौ उत्सेधागुल प्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक (आत्मागुल) अगुल होता है और इसीका नाम प्रमाणागुल है —**तिलोयपण्णत्ति भाग १ पृ० १३**

(ख) एक हजार उत्सेधागुल प्रमाण अवसर्पिणीकाल के प्रथम भरतचक्रवर्ती का एक (आत्मागुल) अगुल होता है और इसी का नाम प्रमाणागुल है—**अनुयोगद्वार टीका। पृ० १५८**

(ग) चक्रवर्ती के काकिणीरत्न का एक कोणा एक उत्सेधागुल लम्बा होता है और भगवान् महावीर का आधा अगुल भी इतना ही लम्बा होता है -फलितार्थ यह हुवा कि भगवान महावीर का एक आत्मागुल दो उत्सेधागुल जितना होता है। भगवान् महावीर के आधे अगुल से हजार गुणा और पूर्ण अगुल से पाचसौ गुणा प्रमाणागुल होता है—**अनुयोगद्वार सूत्रसटीक पृ० १५७**

(घ) किन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के टीकाकार गणित की प्रक्रिया से यह सिद्ध करते हैं कि उत्सेधागुल से चार सौ गुणा एक प्रमाणागुल होता है। तात्पर्य यह है कि चार सौ उत्सेधागुल जितना एक

प्रमाणागुल होता है। इस प्रमाण से शाश्वत पदार्थों का माप किया जाना चाहिए। टीकाकार इस सम्बन्ध मे मतभेदो का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि "**निश्चय तु सर्ववेदिनो विदन्तीति।**" आज का पाठक भी इन मतभेदो के जगल मे भटक गया है।

एक ही मूल से उत्पन्न श्वेताम्बर और दिगम्बर शाखा के मापदण्ड विपयक मतभेद इतने गहरे हैं कि उनका समन्वय असभव सा प्रतीत हो रहा है।

भगवान महावीर और बुद्ध दोनो के देश, काल और प्रचार क्षेत्र मे अन्तर नही था, फिर भी क्षेत्र के मापदण्डो मे इतना अधिक अन्तर क्यो है—इसके कारणो की शोध हुए विना भौगोलिक मापदण्डो का समन्वय कैसे सभव हो सकता है?

परिमाण प्रणालि मे परिवर्तन

भगवान महावीर के युग मे योजन का परिमाण जो प्रचलित था, उससे आधुनिक योजन का परिमाण भिन्न है। यह एक तथ्य है—क्योकि पच्चीस सौ वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि मे प्रादेशिक या सार्वदेशिक शासन वदलते रहे है। इसी प्रकार प्रादेशिक या सार्वदेशिक परिमाण के मापदण्ड भी वदलते रहे हैं। मुगलकाल से लेकर वर्तमान के लोकतत्र तक शासन परिवर्तन के साथ-साथ माप-तोल की प्रणालियो मे जो परिवर्तन होते रहे हैं, उनकी सामान्य जानकारी तो प्राय सभी को है।

विकासकाल और ह्रासकाल के परिवर्तन

भरत और ऐरवत क्षेत्र मे विकासकाल (उत्सर्पिणीकाल) और ह्रासकाल (अवसर्पिणीकाल) मे अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। मनुष्यादि प्राणियो की आयु (स्थिति) मे और ऊँचाई (अवगाहना) आदि मे जो परिवर्तन होते हैं, वे सर्वविदित है।

ह्रासकाल के अन्त मे वैताढ्य पर्वत के अतिरिक्त सभी पर्वत धराशायी हो जाते हैं और गगा-सिन्धु के अतिरिक्त सभी नदिया सूख जाती हैं, जिससे उनमे मिट्टी भर जाने पर समस्त भूतल समतल हो जाता है।[1]

गगा-सिन्धु जैसी शाश्वत नदियो के प्रवाह भी धुरी के छिद्र मे से निकले जितनी पतली धारा-वाले हो जाते हैं।[2]

चद्र से अतिशीत और सूर्य से अतिताप पडता है।

भरत क्षेत्र का भूभाग अतिरूक्ष, अतिरज एव अतिपक आदि से गमनागमन के अयोग्य हो जाता है।

शाश्वत समुद्रादि मे भी परिवर्तन

किसी क्षेत्र, समुद्र या पर्वत को शाश्वत कहने का अभिप्राय इतना ही है कि वह सदा रहेगा, सर्वथा नष्ट नही होगा।

---

१ पव्वय-गिरि-डुगरुत्थल भट्ठिमादिए, वेअड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति सलिल विल विसम गड्ड णिण्णुण्ण-याणि य गगासिंधु वज्जाइ समी करेहिंति।

२ गगासिंधुओ महाणईओ रह पहमित्तवित्थराओ अक्खसोअप्पमाण मेत्ता जलवोज्झिहति।

—जवुद्दीवपण्णत्ति-वक्ष० २।

सामान्य परिवर्तन तो शाश्वत कहे जानेवाले क्षेत्र, समुद्र या पर्वत मे भी हो सकते है। लवणसमुद्र यद्यपि शाश्वत है फिर भी इसकी वेला का घटना बढना आगम सम्मत है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र शाश्वत हैं फिर भी इनमे जितने पर्वत और नदी-नाले हैं, वे सब दुपमदुपमाकाल मे ही समाप्त होकर केवल भूतल रह जायेगा। इस प्रकार शाश्वत क्षेत्र, पर्वत और समुद्र मे सामान्य परिवर्तन स्वय सिद्ध हैं। जैनागमो की मान्यता के अनुसार बम्बई के समीप का समुद्र लवण समुद्र है। बम्बई के समीप भरती करके समुद्र को बहुत कुछ पीछे धकेल दिया है। कुछ वर्षो पहले जिस जगह समुद्र था आज उस जगह अनेक भव्य भवन अपने पैर जमाए खडे है।

स्वेज नहर से एक समुद्र दूसरे समुद्र से जुड गया है। ऐसी एक दो नहरें और बनने की योजना है, जिनसे लम्बे समुद्री मार्ग छोटे बन जाएँगे। ऐसे सामान्य परिवर्तन लवण समुद्र मे हो रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मान्य शत्रुंजय माहात्म्य मे शत्रुञ्जय पर्वत का उत्सर्पिणी काल मे विकास और अवसर्पिणी काल मे ह्रास होना लिखा है। उनकी मान्यतानुसार यह पर्वत भी शाश्वत है फिर भी इसमे अनेक परिवर्तन प्रत्यक्ष मे हो रहे हैं।[1]

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार शाश्वत पर्वत का प्रमाण शाश्वत योजन मे माना गया है। शत्रुंजय पर्वत पाचवे आरे मे (दुपमकाल मे) बारह शाश्वत योजन का लम्बा है। अत शाश्वत योजन का आधुनिक योजन से समन्वय करना असभव नही है।

प्राचीन और अर्वाचीन योजनो का समीकरण

भरत क्षेत्र के मध्य मे अयोध्या—

जैनागमो की मान्यतानुसार अयोध्या भरत क्षेत्र के मध्य भाग मे है। यह कोसल (कोशल) जनपद की राजधानी[2] बारह योजन लम्बी और नव योजन चौडी थी[3]। वैताढ्य पर्वत से और लवण समुद्र

---

१ अशीतियोजनान्याद्ये, द्वितीयकेतु सप्ततिम्।
पष्टि तृतीये तुर्ये वा ऽरके पञ्चाशत तथा ।११।
पञ्चमे द्वादशैतानि, सप्तरत्नि तथान्तिमे।
इत्याद्यै रवसर्पिण्या, विस्तरस्तस्य कीर्तित ।१२।

—अभिधानराजेन्द्र कोश, भाग ७ पृष्ठ ३३१

२ भरत चक्रवर्ती के समय मे यह अयोध्या पूरे भरत क्षेत्र की राजधानी थी।

३ वाल्मिकी रामायण मे अयोध्या की लम्बाई तो बारह योजन ही थी, किन्तु चौडाई केवल तीन योजन ही रह गई थी—

कोशलोनामजनपदो, स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टा सरयूतीरे, प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्या नाम नगरी, तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण, या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥
आयता दश च द्वे च, योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा, सुविभक्तमहापथा ॥

—वाल्मिकी० बाल० ५वा सर्ग श्लो० ५,६,७

से (अर्थात् दोनो ओर से) एक सौ चौदह योजन दूर थी। गगा नदी से पूर्व मे, सिन्धु नदी से पश्चिम मे, वैताढ्य पर्वत से दक्षिण मे और (दक्षिण) लवण समुद्र के उत्तर मे थी।

आधुनिक भूगोल के मानचित्र मे अयोध्या उत्तरप्रदेश मे है। भगवान ऋषभदेव के युग से लेकर रामायणकाल और वर्तमानकाल तक अयोध्या के स्थान तथा नाम मे परिवर्तन नही हुआ है। नगरी की लम्बाई-चौडाई मे ह्रास काल (अवसर्पिणी) के प्रभाव से अवश्य परिवर्तन हुआ है, फिर भी वर्तमान अयोध्या समुद्र मे जितनी दूर है उतनी दूरी को एक सौ चौदह योजन मान कर सगति बिठाई जाए तो योजनो का समन्वय सफल हो सकता है। अयोध्या के साकेत या विनीता नाम भी हैं।

(१) कालमान से क्षेत्रमान —

जम्बूद्वीप के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध मे तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध मे सबसे बड़े दिन-रात अठारह मुहूर्त के तथा सबसे छोटे दिन-रात बारह मुहूर्त के होते है। अर्थात् जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण मे अठारह मुहूर्त से बडे दिन-रात तथा बारह मुहूर्त से छोटे दिन-रात नही होते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि अठारह मुहूर्त से बडे दिन-रात वा बारह मुहूर्त से छोटे दिन-रात जिन क्षेत्रो मे होते हैं, वे समस्त क्षेत्र जम्बूद्वीप से बाहर हैं। अठारह मुहूर्त और बारह मुहूर्त के दिन-रात वाले समस्त क्षेत्र जम्बूद्वीप के अन्तर्गत हैं। जम्बूद्वीप का परिमाण (प्रमाणागुल के माप से निष्पन्न शास्वत योजन-प्राचीन योजन) एक लाख योजन हैं।[१]

अठारह और बारह मुहूर्त के दिन-रातवाला समस्त क्षेत्र आधुनिक भूगोल के मापदण्डो से कितने योजन लम्बा-चौडा है—इस की पूर्ण जानकारी प्राप्त करके प्राचीन और अर्वाचीन योजन का अन्तर (तुलनात्मक समीकरण), प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१ **प्रश्न**—जया ण भते ! जबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवइ, तया ण उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ। जया णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवइ, तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे ण जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ ?

उत्तर—हता गोयमा ! जया ण जबुद्दीवे दीवे-जाव-दुवालसमुहुत्ता राई भवइ।

प्रश्न—जया ण भते ! जबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालस मुहुत्तेदिवसे भवइ, तया ण उत्तरड्ढे वि। जया ण उत्तरड्ढे तया ण जबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे ण उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ ?

उत्तर—हता गोयमा ! एव चेव उच्चारेयव्व-जाव-राई भवइ।

—भगवती सूत्र श० ५ उद्दे० १

जबूद्वीप के किसी विभाग मे अठारह मुहूर्त से भी बडे दिन-रात तथा बारह मुहूर्त से भी छोटे दिन-रात होने का विधान यदि किसी आगम पाठ में हो तो पूज्य बहुश्रुतो से वह पाठ प्राप्त करके संघ के प्रमुख पदाधिकारी प्रकाशित करें। यह भी श्रुतसेवा का एक महान् कार्य है।

आधुनिक भूगोल के अनुसार दिन-रात की लम्बाई सूचक तालिका[1]

उत्तरी गोलार्ध की ग्रीष्म ऋतु—विभिन्न स्थानो पर दिन की लम्बाई (२१, जून)

अक्षाश	दिन की लंबाई	निकटतम स्थान
१०°	१२ घण्टा ३५ मि०	कोलोन, काराकास, कोडाइकनाल, आदिस अवावा, (९) (१०) (२०) (२०)
२०°	१३ ,, १३ ,,	होनोलूलू, मोक्सिकोसिटी, बम्बई, अकयाव, (३१) (१९) (१९) (२०)
३०°	१३ ,, ५६ ,,	देहली, शिमला, न्यूयार्लियन्स, चुंगकियाग, काहिरा (२९) (३१) (३०) (३०) (३०)
४०°	१४ ,, ५१ ,,	लिस्वन, वाशिंगटन, डेनपेयर, पेकिंग, सिनसिनाटी (३९) (३९) (००) (४०) (३९)
५०°	१६ ,, १८ ,,	कीव, विनीपेग, वेनकूवर, (५०) (५०) (४९)
६०°	१८ ,, ३० ,,	वर्जन, हेलसिकी, लेलिनग्राद, ओरवोटस्क (६०) (६०) (६०) (५९)
६६ १/२°	२४ घटे	हेपारान्डा, वर्खोयानस्क, आर्केन्जल, मेजेन (६६) (६८) (६५)
७०°	६५ दिन	वेरोपोइन्ट, नार्विक, जेनमेयन, एमडर्मा, मुर्मुन्स्क- (७१)
८०°	१३४ दिन	स्पिट्सवर्जन (७८)
९०°	१७७ दिन	समुद्री भाग

—भौतिक भूगोल च० भु० मामोरिया

दक्षिणी गोलार्ध की ग्रीष्मऋतु—अधिकतम दिन की लम्बाई (२२ दिसम्बर)

अक्षाश	दिन की लम्बाई	निकटम स्थान
१०	१२ घण्टा ३५ मि०	लिन्दी, कुपाग, (१०) (१०)
२०	१३ ,, १३ ,,	बुलवायो, ब्लानकरी, दूकीक (२२) (२०) (२०)
३०	१३ ,, ५६ ,,	डर्बन, गेराल्डटन, (३०) (२९)
४०	१४ ,, ५१ ,,	वेलिंग्टन, वाहिया, ब्लेका (४१) (३९)
५०	१६ ,, १८ ,,	सान्ताक्रूज (५०)
६०	१८ ,, ३० ,,	द० आर्कनिज (६१)
६६१/२	२४ घटे	
७०	६५ दिन	सेगेस्टीर (७३)
८०	१३४ दिन	लिटल अमेरिका, मेकमुरडोसाउन्ड (७८) (७८)
९०	१८७ दिन	

१ क्लाइमेटोलोजी, ले० आस्टिनमिलर

अठारह और बारह मुहूर्त से छोटे बडे दिन-रात जिन नगरो मे होते हैं वे विदेशो मे है, दो चार नगर भारत मे भी हैं। पेकिंग आदि कुछ नगर ऐसे भी हैं जिनका भारत के साथ भू-मार्ग सम्बन्ध भी है। इन नगरो को जम्बूद्वीप के अन्तर्गत मानें या वाहर ?—यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विचार करना अनिवार्य है।

उक्त नगरो को जम्बूद्वीप के वाहर तो मान सकते हैं—क्योकि इन नगरो मे अठारह मुहूर्त से वडे दिन-रात होते है। अठारह मुहूर्त से वडे दिन-रात जम्बूद्वीप मे नही होते हैं, इस आशय का आगम-पाठ पहले दिया जा चुका है। यदि जम्बूद्वीप के वाहर इन नगरो को माने तो किस क्षेत्र मे माने ?—इस प्रश्न का समाधान वहुश्रुत सापेक्ष है।

(२) समुद्र की गहराई से योजन का समन्वय

आधुनिक भूगोल के मानचित्रो मे समुद्र की गहराई जिस जगह सर्वाधिक है, प्राचीन योजन के अनुसार उस गहराई का परिमाण एक हजार योजन है। आधुनिक माप से प्राचीन योजन परिमाण का समन्वय करने के लिए यह एक आगम सम्मत उदाहरण है। लवण समुद्र की गहराई मध्य भाग मे एक हजार योजन की है। ये योजन शाश्वत माने गये हैं। भरत क्षेत्र के किनारे से पचानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र की सर्वाधिक गहराई है। अत समुद्र के इस किनारे से सर्वाधिक गहराई की दूरी का भी आधुनिक माप से समन्वय किया जा सकता है।[1]

(३) महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण

भगवान महावीर के समय मे राजगृह के वाहर वैभारगिरि की उपत्यका मे एक उष्णजल का झरना (कुण्ड) था। इसका नाम था—"महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण"। इसकी लम्बाई चौडाई ५०० धनुष की थी।

राजगृह के समीप वैभारगिरि की उपत्यका मे गरम पानी का कुण्ड वर्तमान मे भी विद्यमान है - ऐसा सुनने मे आया है, अत आधुनिक मापदण्ड से वह जितना लम्बा-चौडा हैं, उतनी लम्बाई-चौडाई को ५०० धनुप मान लेने मे यदि किसी प्रकार की असगति होती हो तो पुन चिन्तन किया जा सकता है।

भगवान महावीर के समय मे इस प्रश्रवण की लम्बाई-चौडाई के सम्बन्धो मे गहरा मतभेद था। अन्यतीर्थी कहते थे—इस प्रश्रवण की लम्बाई-चौडाई अनेक योजन की है। भगवान महावीर की मान्यता के अनुसार "महातपोपतीर प्रभव-प्रश्रवण" केवल ५०० धनुप लम्बा-चौडा ही था।

---

१ (क) लवणे ण समुद्दे · · एग जोयण सहस्स उव्वेहेण।

—जीवाभिगम प्रति० २ मंदरोद्देश, सूत्र १७२

(ख) लवणस्स ण समुद्दस्स उभओ पासि पचाणउइ २ जोयण सहस्साइ गोतित्थ पण्णत्त।

—जीवा० प्रति० ३ सूत्र १७१

लवण समुद्र मात्रायें २ उंडो थतो २ जेवारे जम्बूद्वीपथी पचाणु हजार योजन समुद्रमा जइयें अने धातकीखडथी पण पचाणु हजार योजन समुद्रमा अवीये तिहा मध्यभागे हजार योजन उडोछे।

—अढीद्वीप नकाशानी हकीकत पृ० १७

प्राचीन और अर्वाचीन मापदण्ड का समीकरण जानने के लिए "महातपोपतीर-प्रभव प्रश्रवण" का वर्णन अध्ययन करने योग्य है।[1]

(४) लवणसमुद्र मे दो लाख योजन लम्बा मार्गः—

एक दिन द्रोपदी के अप्रियव्यवहार से नारदमुनि क्रुद्ध होकर धातकीखण्ड की राजधानी "अवरकका" को चले गए। महाराजा पद्मनाभ के सामने उन्होने द्रौपदी के सौन्दर्य की चर्चा की। पद्मनाभ ने मित्रदेव से द्रौपदी का अपहरण करवाया और उसे अन्त पुर मे रख लिया।

द्रौपदी के अपहरण से चिन्तित कुन्ति महारानी ने श्रीकृष्ण को द्रौपदी का पता लगाने के लिए कहा।

श्रीकृष्ण ने कहा—आप चिन्ता न करें, मैं अवश्य पता लगाऊगा।

एक दिन श्रीकृष्ण अन्त पुर मे सिंहासन पर बैठे-बैठे कुछ चिन्तन कर रहे थे। नारदमुनि भी वहा किसी तरह जा पहुचे। श्रीकृष्ण ने उनका आतिथ्य-सत्कार किया और द्रौपदी के अपहरण का वृत्तान्त सुनाया।

श्री कृष्ण ने नारदमुनि से कहा—आपकी सब जगह पहुच है, कही द्रौपदी को देखा हो तो बताएँ।

नारदमुनि ने कहा—धातकीखण्ड की राजधानी 'अवरकका' के अन्त पुर मे मैंने एक स्त्रीरत्न देखा था, सभव है वही द्रौपदी हो।

श्रीकृष्ण ने कहा—महर्षे! ये सब आप ही के काम है?

महर्षि नारद के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने पाण्डवो को हस्तिनापुर सदेश भेजा-- द्रौपदी का पता लग गया है। आप लोग सेनाएँ लेकर लवणसमुद्र के किनारे पहुचें और वहा मेरी प्रतीक्षा करे।

श्रीकृष्ण भी सेनाए लेकर लवणसमुद्र के किनारे पहुच गए। पाण्डवो के साथ वे वहा तीन दिन ठहरे। श्रीकृष्ण के स्मरण करने पर लवणसमुद्र का सरक्षक सुस्थितदेव आया। उसे द्रौपदी के अपहरण का वृत्तान्त सुनाकर कहा—यहा से अवरकका तक हमारी सेनाओ के जाने योग्य मार्ग बना दें—यह आप का बहुत बडा सहयोग होगा।

सुस्थित देव ने लवणसमुद्र के इस किनारे से उस किनारे तक शाश्वत दो लाख योजन लम्बा मार्ग बना दिया।

श्रीकृष्ण उसी मार्ग से अवरकका तक गए और पद्मनाभ को परास्त कर द्रौपदी को ले आए। लवणसमुद्र के किनारे पहुँचकर श्रीकृष्ण ने पाण्डवो से कहा—मैं यहा सुस्थित देव की प्रतीक्षा मे ठहरा

---

१ अण्णउत्थिया ण भते! एवमाइक्खति-जाव-परूवेति-एव खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ ण मह एगे हरए अघे पण्णत्ते अणेगाइ जोयणाइ आयाम-विक्खभेण नाणादुम-सडमडित उद्देसे सस्सिरीए-जाव-पडिरूवे।

अह पुण गोयमा! एवमाइक्खामि-जाव-परूवामि एव खलु रायगिहस्स नगरस्स वहिया वेभारपव्वयस्स अदूर सामते-एत्थ ण महातवोवतीर प्पभवे नाम पसवणे पचधणुसयाणि आयाम-विक्खभेण नाणादुम-सडमडिउद्देसे सस्सिरीए-जाव-पडिरूवे। —भगवती सूत्र श० २ उ० ५

२९

हुआ हू, आप सव इस नौका से गगा नदी पार करले। और मेरे लिए आप मे से कोई भी एक भाई नौका लेकर शीघ्र लौटे।

श्रीकृष्ण वहुत देर तक प्रतीक्षा करते रहे किन्तु उनके लिए कोई भाई नौका लेकर नही लौटा तो उन्होंने तैरकर गगा नदी पार की—जो साढे वासठ योजन चौडी थी।

—ज्ञाताधर्म कथा अ० १६

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) द्वारिका से लवणसमुद्र किस दिशा मे है और कितनी दूरीपर है ? इसका निर्णय आधुनिक भूगोल के मानचित्र से किया जा सकता है।

(२) लवणसमुद्र के इस किनारे पर द्वारिका है और परले किनारे पर धातकीखण्ड है। दोनो किनारो के मध्य मे सुस्थित देव ने मार्ग का निर्माण किया था। अत यह तो स्वय सिद्ध है कि दोनो किनारो के मध्य मे आद्योपान्त समुद्र ही था। किन्तु वह सेतुमार्ग था या राजमार्ग ?—इसका निर्णय करने लिए किसी आगमपाठ का आधार तो नही है पर इतना अवश्य है कि सेनाओ के गमनयोग्य विशाल मार्ग था।

(३) लवणसमुद्र प्रमाणागुल से दो लाख योजन चौडा है, अत उत्सेधागुल से वीस क्रोड योजन और आत्मागुल से दस क्रोड योजन चोडा है। सुस्थित देव निर्मित मार्ग इतना ही लम्बा था यह एक निश्चित तथ्य है।

सेनाएँ प्रतिदिन कितने योजन चली और कितने दिनो मे अवरकका तक पहुची ? —यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा योजन समन्वय से सम्बन्धित है, इसलिए यहा उपेक्षणीय है।

(४) श्रीकृष्ण ने अवरकका जाते समय गगा नदी पार नही की थी तो आते समय उन्हे क्यो पार करनी पडी तथा सेनाओ ने गगा नदी पार की या नही ?

द्वारिका और समुद्र के वीच मे कोई नदी है या नही, यदि है तो उस नदी का नाम गगा ही है या अन्य ?—ये सारे प्रश्न शोध योग्य हैं।

(५) उस शाश्वत गगा की चौडाई शाश्वत साढे वासठ योजन की मानी गई है, अव उसका आधुनिक माप जानकर प्राचीन और अर्वाचीन योजन का समन्वय कर लेना सगत प्रतीत होता है।

(५) अर्हन्नक की नौका अनेक शतयोजन तक गई.

अग जनपद की राजधानी चम्पानगरी मे "अर्हन्नक" पोतवणिको मे एक प्रमुख वणिक था। एक दिन वह लवणसमुद्र के किनारे पर स्थित गभीर पट्टण पहुचा। वहा उसने अपना सारा माल जहाज मे भरवाया। अनेक शत-योजन तक उसका जहाज गया और कई द्वीपो मे माल वेचता हुआ वह गभीर पट्टण लौट आया। वहा से वह मिथिला गया। **—ज्ञाताधर्मकथा**

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) आगम युग मे गभीर पट्टण व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहा है। सामुद्रिक व्यापार के लिए यह नगर प्रसिद्ध था। यहा से माल भरे जहाज अनेक द्वीपो को जाते थे। आधुनिक भूगोल के मानचित्र मे इस ऐतिहासिक नगर का अस्तित्व किस जगह है—यह अन्वेषणीय है।

(२) चम्पा से मिथिला समुद्रमार्ग और स्थलमार्ग से कितने योजन दूर है ? अर्हन्नक दोनो मार्गों

से गया-आया था। उसका जहाज अनेक शत योजन गया आया, किन्तु ये योजन शाश्वत माने गए या अशाश्वत ?—इसका निर्णय वहुश्रुत सापेक्ष है।

(६) रत्नद्वीप अगम्य दूरी पर नहीं है

अग जनपद की राजधानी चम्पा मे माकदी सार्थवाह के दो प्रिय पुत्र जिनरत्न व जिनपाल रहते थे—वे व्यापार के लिए लवणसमुद्र मे ग्यारह वार गए, हरवार अपार अर्थ राशि अर्जित कर लाए। वारहवी वार भी वे व्यापार के लिए लवणसमुद्र मे जाने लगे तो उनके माता-पिता ने कहा—पुत्रो! जन साधारण की यह धारणा है कि "वारहवी वार की समुद्रयात्रा निरापद नही होती है" अत अव तक जो धन कमाया है उसी मे सन्तोप करो—किन्तु वे दोनो न माने। मना करने पर भी समुद्रयात्रा के लिए चल पडे। लवणसमुद्र मे वे किसी अभीष्ट द्वीप की ओर नौका द्वारा जा रहे थे, दैवयोग से समुद्र मे भयकर तूफान आ गया, जिससे नौका के खण्ड-खण्ड हो गए। वे दोनो एक फलक के सहारे जीवन वचाते हुए रत्न द्वीप पहुँच गए। वहाँ उन्हे रयणादेवी मिली, उसके भवन मे वे चिरकाल तक सुख भोगते रहे।

एक दिन रयणादेवी कार्यवश वाहर गई थी, पीछे से वे दोनो भाई घूमते-घूमते दक्षिण दिशा के उद्यान मे चल गए। वहाँ उन्हे शूली पर आरोपित एक व्यक्ति दिखाई दिया।

दोनो भाई उसके पास गए शूलारोपित ने कहा—

मैं काकदी नगरी का निवासी अश्व विक्रेता हू। तुम्हारे आते ही रयणादेवी ने मुझे शूली पर चढा दिया है। उस ओर देखो! कितने नर-ककाल पडे हैं, ये सव शूली पर चढाए गए थे। एक दिन तुम्हे भी वह अवश्य सूली पर चढाएगी।

घोडो के सौदागर की वात सुनकर दोनो भाई घवरा गए। दोनो भाई वोले—प्राणरक्षा का कोई उपाय वताओ।

सौदागर वोला—पूर्व दिशा के उद्यान मे एक शैलक यक्ष है, उसकी उपासना करो, वह तुम्हे चम्पानगरी पहुचा देगा। दोनो भाई पूर्व दिशा के उद्यान मे जाकर यक्ष की उपासना मे लगे। यक्ष ने दोनो भाइयो से कहा मैं तुम्हे चम्पा पहुचा दूगा पर शर्त यह है कि—रयणादेवी की ओर आकृष्ट न होना। दोनो ने यह शर्त स्वीकार करली।

शैलक उन्हे आकाशमार्ग से चम्पा की ओर लेकर चला। रयणादेवी भी उनका पीछा करती हुई उन्हे ललचाने लगी, उसके विरह विलापो से और कटाक्षो से एक भाई आकृष्ट हो गया। शैलकने अपनी शर्त के अनुसार उसे नीचे गिरा दिया। रयणादेवी ने उस विचलित भाई के खड्ग से खण्ड-खण्ड करके उसे समुद्र मे गिरा दिया। दूसरा भाई जो अविचल रहा, उसे चम्पा पहुचा दिया—**ज्ञाताधर्मकथा अ० ९**

ज्ञातव्य तथ्य—

(१) माकदी सार्थवाह के पुत्रो ने वारह वार व्यापारयात्राएँ जिन द्वीपो की करी, वे सव लवण समुद्र मे ही थे, रत्नद्वीप भी अगम्य दूरी पर नही था। उस युग मे माकदी पुत्र गए थे तो आज का गवेपक भी जा सकता है।

(२) रयणादेवी का दिव्यभवन तो शाश्वत है, उस युग मे दिखाई दिया था तो आज भी दिखाई दे सकता हैं। रयणादेवी यदि अव नही भी रही है तो स्थापन्न देवी तो अवश्य है ही। शैलक यक्ष भी वहा है उसे देखकर तो रत्नद्वीप को पहचानना सरल है।

(३) माकदी पुत्रो की नौका अनेक शत योजन गई थी। ये योजन शाश्वत माने गए हैं या अशाश्वत ? इसका निर्णय वहुश्रुत ही कर सकते है किन्तु मेरी अल्पमति के अनुसार ये अनेक शत योजन अशाश्वत ही है। क्योकि ये योजन समुद्र के परिमाण सूचक नही है। नौका कितनी दूर गई यह वताने के लिए यहा अनेक शत योजन कहे हैं—इसलिए ये अशास्वत योजन हैं अर्थात् उस युग के व्यवहार योजन हैं।

(४) अनेक शत का अभिप्राय है सौ से अधिक और सहस्र से कम। यहा सामान्य कथन लोक व्यवहार की भाषा के अनुसार है फिर भी माकदीपुत्रो की नौका चारसौ पाचसौ योजन तो अवश्य गई होगी। अन्वेषण कार्य के लिए यह आनुमानिक परिमाण भी सहायक सिद्ध हो सकता है। यात्रिक नौकाओ के इस युग मे चार सौ पाच सौ योजन की कोई खास दूरी नही मानी जाती।

(५) रत्नद्वीप मे अनेक भारतीय व्यक्ति गए थे। जिनके ककाल दक्षिण दिशा के उद्यान मे पडे थे। काकदी नगरी का एक अश्व विक्रेता भी वहा गया था। उसी ने माकदी पुत्रो को शैलक यक्ष की उपासना के लिए कहा था।

इन तथ्यो का आधार लेकर यदि गवेपणा कार्य किया जाए तो रत्नद्वीप की दूरी का यथार्थ ज्ञान सभव है।

रत्नाकर और स्वर्ण का भण्डार कालिक द्वीप

हस्तिशीर्ष नगर मे अनेक सायात्रिक रहते थे, वे अपनी-अपनी नौकाओ मे माल भरकर किसी अभीष्ट द्वीप की ओर जाना चाहते थे। किन्तु समुद्र मे जाते जाते एक जगह नाविक ' दिग्मूढ हो गए। कुछ समय पश्चात् जव उनकी दिग्मूढता दूर हुई तो वे कालिक द्वीप पहुचे। वहा उन्हे हीरा, पन्ना, सोना, चादी आदि अनेक मूल्यवान पदार्थों की खानें और उत्तम अश्व मिले तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा अपनी-अपनी नौकाओ मे मूल्यवान खनिज भर-भर कर वे सव गभीर पट्टण पहुचे और वहा से हस्तिशीर्ष नगर आगए। —ज्ञाता० अ० १७

ज्ञातव्य तथ्य —

(१) आधुनिक भूगोल के मानचित्र मे ऐसे द्वीप की तलाश की जाए जिसमे हीरा आदि रत्नो की तथा स्वर्ण आदि वहुमूल्य खनिजो की खानें हो, उसे आगम का कालिकद्वीप मान कर लवणसमुद्र के किनारे उसकी दूरी जान ली जाए। आगमानुसार कुछ सो योजन दूर कालिक द्वीप है।

(२) शोधकार्य से यदि ऐसे द्वीप की उपलब्धि हो जाए तो इस भौतिक युग मे जैनागमो का व्यापक प्रभाव जन-जन के मानस पर छा जाए। और भारत की आर्थिक समृद्धि के लिए सहसा स्वर्ण युग आ जाए।

लवणसमुद्र के द्वीप समूह :

वाणिज्य ग्रामवासी विजयमित्र सार्थवाह ने जहाज मे माल भरवा कर लवणसमुद्र के किसी द्वीप समूह की ओर प्रस्थान किया, किन्तु अचानक तूफान आ जाने से उसका जहाज टूट गया और वह भी समुद्र मे समाहित हो गया। —विपाक अ० १

ज्ञातव्य तथ्य —

(१) वाणिज्य ग्राम की आधुनिक भूगोल मे गवेपणा और वहा से लवणसमुद्र की दूरी का पता लगाया जाए।

(२) निष्कर्ष यह है कि भरत की सीमा से लवणसमुद्र लगा हुआ है। वर्तमान भूगोल मे चाहे उसे अरबसागर, हिन्द महासागर या और किसी नाम से अंकित करें।

मुगलकाल के मापदण्ड :

मुगल काल मे माप के लिए कुछ माप दण्ड निर्धारित किए गए थे। उनमे से कतिपय माप दण्ड वर्तमान मे भी प्रचलित है।

(१) **गज**—यह फारसी भाषा का शब्द है। यह तीन फुट या ३६ इंच का माना जाता है। वस्त्र व्यवसाय, सिलाई, बढइगिरी, भवननिर्माण और कृषि आदि अनेक व्यवसायो मे इसका उपयोग प्रचलित है। बीचका ब्रिटिशकाल समाप्त हो गया है किन्तु "गज" के मापदण्ड का प्रयोग समाप्त नही हुआ है। यद्यपि इसका स्थानापन्न आधुनिक मापदण्ड का प्रचलन भी प्रगतिपर है पर यह भी निश्चित है कि जनता इसे एक शताब्दी तक तो नही भूलेगी। मुगलकालका यह "गज" चार शताब्दी बाद भी अपनी गजगति से गतिशील है। मुगलकाल मे इसका पेमाना क्या था—जनता आज उसे भूल गई है। ब्रिटिशकाल के फुट या इंचो से इसका माप जो प्रचलित है वह अंग्रेजो की समीकरण नीतिका ही द्योतक है।

(२) **जरीब**—यह भी फारसी भाषा का शब्द है। इसका उपयोग केवल कृषि भूमि के माप मे होता है। जरीब के अनेक माप दण्ड राजस्थान, मध्य भारत आदि प्रान्तो मे प्रचलित है।

(१) १३२ फुट का एक जरीब,
(२) १५० फुट का एक जरीब,
(३) १५२ फुट का एक जरीब,
(४ १६५ फुट का एक जरीब।

इनमे शाहजहानी जरीब का प्रचलन प्रसिद्ध है।

गट्ठा, बिश्वा, बीघा और एकड के माप को जानने के लिए यह तालिका है।

एक गट्ठा—६ फुट सवा सात इंच का,
दस गट्ठा—१ जरीब,
चार जरीब—१ विघा,
एक गट्ठा लम्बा और एक गट्ठा चौडा एक विश्वा
दस गट्ठा लम्बा और दस गट्ठा चौडा एक बीघा
एकड—एक बीघा और बारह विस्वा,

ब्रिटिशकाल के माप दण्ड :—

"इन्च" और "फुट" तो प्रसिद्ध हैं ही अधिक दूरी के माप के लिए फर्लांग और मील का माप प्रचलित है।

दशमलव प्रणाली के मापदण्ड

प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाली डायरियो मे अंग्रेजो के जमाने की माप प्रणाली और दशमलव माप प्रणाली की तुलनात्मक तालिका प्रकाशित होती रहती है—इसलिए यहा अंकित नही की गई है।

मुगलकाल, ब्रिटिशशासन काल और आधुनिक दशमलव प्रणाली मे "योजन" या योजन के समकक्ष माप का प्रयोग प्रचलित नही है, फिर भी चार कोश के योजन की मान्यता प्राचीन काल के समान

ही वर्तमान काल मे प्रचलित है, किन्तु युगानुमार परिवर्तित माप-दण्डो से प्राचीन और अर्वाचीन योजन के परिमाण मे जो परिवर्तन आ गया है, उसका समन्वय करना आगमवचनो पर आस्था स्थिर करने के लिए अनिवार्य है ।

आगम वचनो पर अनास्था क्यो ?

आगमो के आधुनिक विद्वान भूगोल-खगोल के वर्णनो को वीतरागवाणी न मान कर प्रक्षिप्त मानते हैं । और जैनागमो के मर्मज्ञ वहुश्रुत भी प्राचीन योजन के समन्वय मे उपेक्षा कर रहे हैं, इसलिए जैनागमो मे वर्णित भौगोलिक परिमाणो पर युवा वर्ग की आस्था उत्तरोत्तर कम होती जा रही है । इसका अनुभव सभी जैन सम्प्रदायो के अग्रणियो को हुआ है और जैनागमो मे वर्णित भौगोलिक मान्यताओ का वैज्ञानिक समन्वय करने के लिए विशिष्ट प्रयत्न किए जाने लगे हैं—यह शुभ चिह्न है ।

(१) स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली मे स्वर्गीय मुनिश्री त्रिलोकचदजी की स्मृति मे **जैन त्रिलोक शोध सस्थान** की स्थापना हुई है, इसका उद्देश्य है—जैनागमो मे वर्णित भूगोल-खगोल का वैज्ञानिक पद्धति से समन्वय । इस शोध सस्थान से जैन सघ को अनेक आशाएँ हैं ।

(२) श्वे० मूर्तिपूजक मुनि श्री अभयसागर जी महाराज के सत्प्रयत्न से महेसाणा मे **भूभ्रमण शोध सस्थान** स्थापित हुआ है । यहा से मुनि जी की लिखी हुई अनेक प्रचार पुस्तिकाएँ प्रतिवर्ष प्रकाशित होती रहती है । आप भूगोल-खगोल के प्रकाण्ड पण्डित हैं । आपकी प्रेरणा से पालिताणा मे अढाई द्वीप निर्माण का कार्य चल रहा है ।

(३) भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग ३ मे लोकस्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक के नीचे अनेक उपशीर्षको मे जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनमे से कुछ अश यहा उद्धृत किए हैं —

(१) जैन व वैदिक भूगोल काफी अशो मे मिलता है । वर्तमान भूगोल के साथ किसी प्रकार भी मेल बैठता दिखाई नही देता परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहें तो इस विषय की गहराइयो मे प्रवेश करके आचार्यो के प्रतिपादन की सत्यता सिद्ध कर सकते हैं ।

(२) वर्तमान भूगोल को (जिसका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है) भी अवहेलना करना या उसे विश्वास योग्य न मानना भी युक्त नही । अत समन्वयात्मक दृष्टि से विचार कर आचार्य प्रणीत सूत्रो का अर्थ करना योग्य है ।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के अग्रणियो के प्रयत्न प्राचीन और अर्वाचीन योजन आदि के माप दण्डो का समन्वय करने के हो रहे हैं । आशा है इन प्रयत्नो का सुफल यह हो कि—जैनागमो मे प्रतिपादित भूगोल खगोल पर सभी आस्थावान् हो—इसी शुभाशा के साथ विश्रान्ति ।

●

जैन-रहस्यवाद :

एक विश्लेषण

—श्रीमती पुष्पलता जैन एम ए बी-एड रिसर्चस्कालर

व्यक्ति और सृष्टि के सर्जक तत्त्वो की गवेषणा एक रहस्यवादी तत्त्व है और सभवत इसीलिये चिन्तको और शोधको मे यह विषय विवादास्पद बना है। अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को खोजना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है। इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति मे साधक की जिज्ञासा और तर्कप्रधान बुद्धि विशेष योगदान देती है।

रहस्यवाद का क्षेत्र असीम है। उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अत ससीमता से असीमता और परम विशुद्धता तक पहुँच जाना तथा चिदानन्द-चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु ससार है जहा प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दु ख का अनुभव होता है और चरम लक्ष्य परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। जहा पहुचकर साधक कृतकृत्य हो जाता है और अपना भवचक्र समाप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति मे लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्त्व आधार बनाये जा सकते है —

१ जिज्ञासा या औत्सुक्य,
२ ससारचक्र मे भ्रमण करनेवाले आत्मा के स्वरूप,
३ ससार का स्वरूप,
४ ससार से मुक्त होने के उपाय,
५ मुक्त-अवस्था की परिकल्पना।

आदिकाल से ही रहस्यवाद अगम्य, अगोचर गूढ और दुर्बोध्य माना जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य मे इसी रहस्यात्मक अनुभूतियो का विवेचन उपलब्ध होता है। यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद शब्द उस समय तक प्रचलित न रहा हो। 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है। स्वकीय अनुभूति उसमे सगठित है। अनुभूतियो की विविधता मत विभिन्नता को जन्म देती है। प्रत्येक

अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना। इस प्रकार एक ही सत्य को पृथक्-पृथक् रूप मे उसी प्रकार अभिव्यजित किया गया जिस प्रकार छह अधो के द्वारा हाथी के अगोपागो की विवेचना की गई। कबीर ने इस चीज को सरल और सरस भाषा मे प्रस्तुत किया है। उन्होने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को "गूँगे का-सा गुड" बताया है—

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूँगे केरि सरकरा, बैठा मुसकाई।"

रहस्यवाद शब्द अग्रेजी "Mycsiticism" का अनुवाद है, जिसे प्रथमत सन् १६२० मे श्री मुकुटधर पाडेय ने छायावाद विषयक लेख मे प्रयुक्त किया था। प्राचीन काल मे इस सदर्भ मे आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहा साधक परमात्मा, आत्मा, स्वर्ग, नरक, राग-द्वेष आदि के विषय मे चिन्तन करता था। धीरे धीरे आचार और विचार का समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढने लगा। कालान्तर मे दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा। उस 'परम' व्यक्तित्व के प्रति भाव उमडने लगे और उसका साक्षात्कार करने के लिए विभिन्न मार्गों का आचरण किया जाने लगा। जैनदर्शन का रहस्यवाद भी इसी पृष्ठभूमि मे दृष्टव्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है। प्राय प्रत्येक दार्शनिक ने स्वय से सम्बद्ध दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिंतन और आराधना किया है। और उसी साधना के बल पर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषाएँ भी उनके अपने ढग से अभिव्यञ्जित हुई हैं।

पाश्चात्य विद्वानो ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर विचार किया है। बर्ट्रेन्डरसेल का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रमुख साधन है। इसे हम स्वसवेद्य ज्ञान कह सकते हैं। जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।[1] फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति मानता है।[2] प्रिंगिल पेटीशन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न मे होती है। इससे आनन्द का आश्वासन होता है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द उपभोग करना उसका धार्मिक पक्ष है। ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[3] यहा रहस्यवादी अनुभूति को ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है।

आधुनिक भारतीय विद्वानो ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर मथन किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे 'ज्ञान के क्षेत्र मे जिसे अद्वैत-वाद कहते हैं। भावना के क्षेत्र मे वही रहस्यवाद कहलाता है।" डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का

---

1 Mysticism and Logic-Page . 6-17

2 Nysticism in Religion by Dean Inge P-25

३. वही, भक्तिकाव्य मे रहस्यवाद—**डॉ० रामनारायण पाण्डेय, पृ० ६**

प्रकाशन है। जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध यहा तक वढ जाता है कि दोनो मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता।"[१]

और भी अन्य आधुनिक विद्वानो ने रहस्यवाद की परिभाषाएँ की हैं। उन परिभाषाओ के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(१) आत्मा और परमात्मा मे ऐक्य की अनुभूति।

(२) तादात्म्य।

(३) विरह-भावना।

(४) भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना।

(५) सद्गुरु और उनका सत्सग

प्राय ये सभी विशेपताएँ वैदिकसस्कृति व साहित्य मे अधिक मिलती है। जैन रहस्यवाद मूलत इन विशेपताओ से कुछ थोडा दूर था। उक्त परिभापाओ मे साधक ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है। पर जैन धर्म ने ईश्वर का स्वरूप उस रूप मे माना नही, जो रूप वैदिक सस्कृति मे प्राप्त होता है। वह हमारी सृष्टि का कर्ता-हर्ता और धर्ता नही है। इसी भिन्नता के कारण शायद प्राचीन परपरा मे जैन दर्शन को नास्तिक कह दिया गया था। वहाँ नास्तिकता का तात्पर्य था, वेद-निंदक, परन्तु यह वर्गीकरण नितान्त आधारहीन था। इसमे तो जैन और बौद्धो के अतिरिक्त वैदिक शाखा के ही मीमासा और साख्य-दर्शन भी इस नास्तिक की परिभापा की सीमा मे आ जायेंगे। प्रसन्नता का विपय है कि आज विद्वान् नास्तिक की इस परिभापा को स्वीकार नही करते। नास्तिक वही है, जिसके मत मे पुण्य और पाप का कोई महत्व न हो। जैनदर्शन इस दृष्टि से आस्तिक दर्शन है। उसमे स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि व्यवस्था स्वय के कर्मों पर आधारित हैं। उसमे ईश्वर अथवा परमात्मा साधक के लिए दीपक का काम अवश्य करता है।

जैन दर्शन की उक्त विशेपता के आधार पर रहस्यवाद की आधुनिक परिभापा को हमे परिवर्तित करना पडेगा। जैन चिंतन शुभोपयोग को शुद्धोपयोग की प्राप्ति मे सहायक कारण मानता अवश्य है। पर शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाने पर अथवा उसकी प्राप्ति के पथ मे पारमार्थिक दृष्टि से उसका कोई उपयोग नही। इस पृष्ठभूमि पर हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है।

अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहा आत्मा विशुद्ध परमात्मा वन जाता है और वीतराग होकर चिदानन्द रस का पान करता है।

रहस्यवाद की परिभाषा जैन साधना की दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है। जैन साधना का विकास यथासमय होता रहा है। यह विकास तत्कालीन प्रचलित जैनेतर साधनाओ से प्रभावित रहा है। इस आधार पर हम जैन रहस्यवाद के विकास को निम्न भागो मे विभाजित कर सकते हैं—

(१) आदिकाल—प्रारभ से लेकर ई० प्रथम शती तक।

(२) मध्यकाल—प्रथम-द्वितीय शती से ७-८ वी शती तक।

---

१ कवीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६

३०

(३) उत्तरकाल ८ वीं ९ वीं शती से आधुनिक काल तक।

(१) आदिकाल—वेद और उपनिषद् में ब्रह्म का साक्षात्कार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता था। जैन रहस्यवाद, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, ब्रह्म अथवा ईश्वर का ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता। यहाँ जैन-दर्शन अपने तीर्थंकर को परमात्मा मानता है और उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर स्वयं को उसी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न किया जाता है। वृषभदेव, महावीर आदि तीर्थंकर ऐसे ही रहस्यदर्शियों में प्रमुख हैं।

इस काल को सामान्यतः जैनधर्म के आविर्भाव से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर आदिनाथ ने हमें साधनापद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तरकालीन तीर्थंकर और आचार्यों ने अपनी साधना की। इस संदर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की साधनाएँ साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

(१ पार्श्वनाथ परम्परा की साधना

भगवान पार्श्वनाथ जैनपरपरा के २३ वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। भगवान महावीर, जिन्हें पालि साहित्य में **निगण्ठनाथपुत्त** के नाम से स्मरण किया है। वे लगभग २५० वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर इस प्रकार थे—

१ अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य,
४ अपरिग्रह

उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में पार्श्वस्थ अथवा पासत्थ कहा गया है।

(२) निगण्ठनाथपुत्त परम्परा

निगण्ठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंचव्रतों को स्वीकार किया—

१ अहिंसा
२. सत्य
४ अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य,
५ अपरिग्रह

महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य में मिलते हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप मे लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमे कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह बहुत अधिक नही। यहाँ तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये। अन्तरात्मा, वहिरात्मा और परमात्मा। साधक वहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दो मे आत्मा और परमात्मा एक हो जाता है—

तिपयारो सो अप्पा परमतरवाहिरो हु देहीण।
तत्थ परो झाइज्जइ, अतोवाएण चएहि वहिरप्पा ॥[1]

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निस्सदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते है। उन्होने समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थो मे इसका सुन्दर विश्लेपण किया है।

२ मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के वाद उनके ही पदचिन्हो पर आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, मुनि योगेन्दु आदि आचार्यों ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियो के अनुसार विश्लेपण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वति ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुँचाया था। इस वीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा मे वद्ध हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तो के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल मे जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था, और इन्द्रियप्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल मे प्रश्न-प्रतिप्रश्न खडे हुए। उन्हे सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये। साव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहा निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेपण किया गया। साधना के स्वरूप मे भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस युग मे मुनि योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद हैं फिर भी हम लगभग ८ वी, ९वी शताव्दी तक निश्चित कर सकते है। इनके दो महत्वपूर्ण ग्र थ निर्विवाद रूप से हमारे सामने हैं—(१) परमात्मसार और (२) योगसार। इन ग्र थो मे कवि ने निरजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिये है जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यजक कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थो मे अनुभूति का प्राधान्य है—

परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि निरर्थक हो जाती है, क्योकि दोनो एकाकार होकर समरस हो जाते हैं।

मणु मिलियउ परमेसरह, परमेसरु विमणस्स।
वीहि वि समरसि हूवाह पुज्ज चडावउ कस्स ॥[2]

३ उत्तरकाल

उत्तरकाल मे रहस्यवाद की आचारगत शाखा मे समयानुकूल परिवर्तन हुआ। इस समय तक जैनसस्कृति पर वैदिक साधको, राजाओ और मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा घनघोर विपदाओ

---

१ मोक्खपाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य ४
२ योगसार, १२,

के वादल छा गये थे। उनसे वचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचार को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवी शताव्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू मे मन्दस्वर मे किया। लगता है तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढी थी, जिसने उसे वैदिक सस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के वाद रहस्यवादी कवियो मे मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उनका 'दोहापाहुड' रहस्यवाद की परिभाषाओ से भरा पडा है। शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह-विलीन हो जाता है।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि सयलु-जगु वुज्झइ मोह विलीणु ॥५५॥

मुनि रामसिंह के वाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियो का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूलकारण भक्ति का उद्रेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि वनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियो मे देखा जा सकता है। नाटक समयसार, मोहविवेक—युद्ध, वनारसीविलास आदि ग्रथो मे उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही वनता है। 'सुमति' को पत्नी और चैतन को पति वनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मा रूपी पत्नि और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यत मार्मिक वन पडा है। अत मे आत्मा को उसका पति उसके घर (अन्तरात्मा) मे ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि वनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है—

पिय मोरे घर मै पिय माहि। जल तरंग ज्यो दुविधा नाहिं ॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मै ज्ञान विभूति ॥
पिय सुख सागर मै सुख-सींव। पिय सुख-मदिर मैं शिव-नींव ॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥
पिय शकर मै देवि भवानि। पिय जिनवर मै केवल वानि ॥[1]

व्रह्म-साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियो मे अन्यतम है। जैन साधना मे परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है। वनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ मे अपने भावो को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"वालक तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि,
अचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम ॥१॥
पिय सुधि पावत वन मे पैसिउ पेलि,
छाडत राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥"२॥[2]

रहस्यवादात्मक इन प्रवृत्तियो के अतिरिक्त समग्र जैन साहित्य मे, विशेपरूप से हिन्दी जैन साहित्य मे और भी प्रवृत्तिया सहज रूप मे देखी जा सकती हैं। वहा भावनात्मक और साधनात्मक दोनो

१ वनारसीविलास, पृष्ठ १६१
२ वही, पृष्ठ २२८

प्रकार के रहस्यवाद यथास्थान उपलब्ध होते है। मोह-राग-द्वेष आदि को दूर करने के लिए सतगुरु और सत्सग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियो की लेखनी से बडी ही सुन्दर, सरल और सरसभाषा मे प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, जिनदास का चेतनगीत, जगत राम का आगमविलास, भवानीदास का 'चेतन सुमति सज्झाय' भगवतीदास का, योगीरासा, रूपचन्द का परमार्थगीत, द्यानतराय का द्यानतविलास, आनदघन का आनन्दघन बहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रथ विशेष उल्लेखनीय है।

जैन रहस्यवाद के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर वह विकास अपनी मूल साधना के मूलस्वरूप से उतना दूर नही हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल मे दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जैनेतर साधनाओ को पर्याप्तरूप से प्रबल स्वर मे प्रभावित किया है। इसका तुलनात्मक अध्ययन मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से किया जाना अभी शेष है। इस अध्ययन के बाद, विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र मे एक नया मानदड प्रस्थापित हो सकेगा।

बुद्धि-बल चाहिए ·· ··· ···

संसार मे तीन प्रकार के बल बताये गये हैं

१ बुद्धिबल

२ शरीरबल

३ धनबल

बुद्धिबल सबसे उत्तम है शरीरबल उससे और धनबल उससे भी पीछे—निम्न स्तर के हैं। बुद्धिबल देवत्व का प्रतीक है, मनुष्यता का रक्षक है। शरीरबल पशुता का प्रतीक है। मनुष्य के मस्तिष्क को 'हिरण्यमय कोष' कहा है। बुद्धिहीन मनुष्य और पशु मे क्या अतर है? जीवन मे शरीरबल और धनबल भी उपयोगी है, पर कब? जब बुद्धि बल हो। शरीर पर वस्त्र और अलकार भी शोभा देते है पर कब? जब उसमे प्राण हो।

हजारो लाखो धनिको और पराक्रमी पुरुषो पर एक दुबला पतला बुद्धिमान शासन कर सकता है।

—मधुकर मुनि

भक्तामर-स्तोत्र की विविधपक्षीय दिव्यता

—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्रवाचक एव अध्यक्ष-अनुसन्धान विभाग
सस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली—७)

स्तुतियो की आवश्यकता

मानव-जन्म मे आगत प्राणी पद-पद पर सङ्कटो का सामना करता है। कई वार वह आर्त होकर सहायक को खोजता है, तो कभी किसी ज्ञान विशेप के लिये वह आकृष्ट होता है। लौकिक घात-प्रत्याघातो के कारण उमड आनेवाले अभावो के वादल जव उसकी पार्श्वभूमि को घेर लेते है, उस समय का तो कहना ही क्या ? ससार मे जो सहायक मिलते हैं वे 'अन्ध-वधिर-सयोग' जैसे होते हैं। 'एक वाँधता है तो दूसरी टूटती है' इस प्रकार अभावो की शृ खला कभी किसी दिन, किसी भी रूप से व्यवस्थित नही हो पाती, अत गुरु-प्राप्ति के वाद मानव एक मात्र अशरण-शरण, अकारण-करुणाकरणपरायण परमात्मा की शरण ग्रहण करता है।

शरण मे पहुँचने के पश्चात् वह सोचता है कि—'मुझे क्या कहना चाहिये ? किस प्रकार कहना चाहिये ?' क्योकि जो सासारिक आश्रयदाता थे उन्हे तो 'मामा, काका, नाना, माता, पिता' आदि कह कर काम चलाया, किन्तु यहाँ तो मुझ जैसे एक-दो, चार-छ ही नही है, अपितु अनन्तानन्त जीव अपनी-अपनी माँगें लेकर खडे हैं, अपनी वाणी मे अनेक प्रकार से प्रार्थनाएँ तथा प्रभु के गुणगान कर रहे हैं। अत विचार-सागर मे खोया हुआ वह प्राणी कुछ समय तो मूक रहता है, पर 'माँगे विना मिलेगा नही, और वोले विना चलेगा नही' ऐसा निश्चय करके कुछ वोलता है। जैसे-जैसे वह आशाओ को अंकुरित होते देखता है, वैसे ही उसकी वाणी विविध शृ गार सजने लगती है और वही 'स्तुति' के नाम से मानव-जीवन की एक आवश्यकता वन जाती है। उसकी आवश्यकता का विस्तार इसी से आँका जा सकता है कि—'विश्व के समस्त धर्मों मे स्तुतियो की प्रधानता है।'

स्तुति की परिभाषा

उपर्युक्त कथन के अनुसार स्तुति अथवा स्तोत्र इष्टदेव के प्रति कृतज्ञताज्ञापन अथवा आत्म-निवेदन का रूप है। तथापि पूर्वाचार्यों ने इसकी परिभापा करते हुए कहा है कि—'स्तोत्र स्तोतव्य देवता के स्तुति करने योग्य गुणो का कीर्तन है' (जैमिनीय न्यायमाला), अत प्रशसार्थक 'स्तु' धातु का अर्थ उसमे निहित है। 'स्तुति, स्तोत्र और स्तवन' ये शव्द समानार्थक हैं। स्तोत्र मे जो स्तोतव्य के गुणो का आख्यान

होता है, वह असत् नही होना चाहिये'—यह सूचित करते हुए अन्य आचार्यो का कहना है कि—'आराध्य के उत्कर्पदर्शक गुणो का वर्णन ही स्तोत्र कहलाता हैं, यदि उसमे यह गुण न हो और मिथ्या कथन ही हो तो उसे 'प्रतारण' कहते है। इसलिये ऐसे गुण ईश्वर मे ही हो सकते है, अत ईश्वर ही स्तोतव्य है। (—अणुभाष्य) इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है कि—'प्रत्येक मन्त्र-पद्य मे जो छन्दोवद्ध गुण कीर्तन होता है, उसका नाम स्तोत्र है।'

स्तोत्र के प्रकार

नमस्कारस्तथाऽऽशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रम ।
विभूति प्रार्थना चेति षड्विध स्तोत्रलक्षणम् ॥

इस तन्त्रोक्त पद्य के अनुसार स्तोत्र के छह प्रकार मिलते हैं—१—नमस्कारात्मक, २—आशीर्वादात्मक, ३—सिद्धान्त प्रतिपादनात्मक, ४—पराक्रम वर्णनात्मक, ५—विभूति स्मरणात्मक एव ६—प्रार्थनामूलक। अन्य दृष्टि से स्तोत्र के १—आराधना, २—अर्चना और ३—प्रार्थना ऐसी तीन रीतियाँ वताई हैं। और स्पष्टता करते हुए कहा गया है कि—जिसमे आराध्य के रूप, गुण और ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन हो, वह **आराधना स्तोत्र**, भाव-भक्ति मूलक द्रव्य पूजा के प्रकारो द्वारा ईश्वर के कर्तृत्व और कृतित्व का जिसमे विश्लेपण हो, वह '**अर्चना-स्तोत्र**' तथा आराध्य विषयक प्रशसा, प्रार्थी की दयनीयता और हीनता के प्रदर्शन के साथ अनुकम्पा—प्राप्ति के लिये कहे गये वचनों का जिसमे सग्रह हो, वह **प्रार्थना-स्तोत्र** कहलाता है। अन्य आचार्यो ने '**द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिस्तोत्र** और **अभिजनस्तोत्र**' ऐसे चार भेद भी किये हैं। कुछ शक्तिशाली भक्तो ने 'उपालम्भ' स्तोत्र भी बनाये है। परमात्मा के अनन्त नामो मे 'स्तोत्र' भी माने गये हैं और तदनुसार ही सहस्रनाम, अष्टोत्तर शतनाम एव नामाक्षरस्तोत्र भी पर्याप्त हैं और वे भी स्तोत्र की ही कोटि मे आते हैं। तन्त्र शास्त्रो मे मन्त्र के जो प्रकार दिये है, उनमे 'स्तोत्र' को भी मन्त्र का एक प्रकार माना है। 'शारदातिलक' मे कहा गया है कि—

द्विसहस्राक्षरा मन्त्राः खण्डश. शतधा कृता ।
ज्ञातव्याः स्तोत्ररूपास्ते मन्त्रा एते यथास्थिता. ॥१०७॥

ये स्तोत्र जव अष्टक आदि सख्याओ के आधार पर, अकारादि वर्णो के आधार पर, छन्द, उत्सव, धर्म, अनुग्रह, निग्रह, विनय, काल, क्रिया और किसी अन्य विषय विशेष के आधार पर निर्मित होने से अनेक प्रकारो के प्राप्त होते हैं। तन्त्र शास्त्रो मे मन्त्रगर्भ, वीजगर्भ, गाथागर्भ, आदि स्तोत्र भी अनेक हैं। साहित्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्र विषय गर्भ भी स्तोत्र वने है।

महाप्राभाविकस्तोत्र

दृढनिष्ठा, अनन्यश्रद्धा एव अनन्यविश्वास के आधार पर स्तोतव्य के गुणो की अनुभूति करता हुआ आराधक उन गुणो को अपने अन्तरग मे विकसित करने के लिये प्रयत्न करता है। उन गुणो का निरन्तर मनन करना ही मन्त्र कहलाता है। अत ऐसे स्तोत्रो की मन्त्रमयता हो सकती है अथवा नही ? इस सम्वन्ध मे विचार करने से ज्ञात होता है कि 'मन्त्र' और 'स्तोत्र' ये दोनो भिन्न-भिन्न नियमो पर आश्रित हैं। मन्त्र मे वर्ण और पदो की आनुपूर्वी नियमित होती है। स्तोत्रो मे आनुपूर्वी का विशेप प्रतिवन्ध नही रहता और उनमे एक ही आशय को विभिन्न पदो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। मन्त्र

और स्तोत्र मे यही आधारभूत वैपम्य है , किन्तु यहाँ यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि—जिस स्तोत्र मे आनुपूर्वी का क्रमश पालन किया जाए उसे मन्त्र कह सकते है क्या ? इसके उत्तर मे हम यही कह सकते है कि—**नास्ति मन्त्रमनक्षरम्**—अर्थात् कोई मन्त्र अक्षर से रहित नही होता है, अत जो अक्षर अथवा वर्ण है वे सभी मन्त्र ही हैं। स्तोत्र मे यदि आनुपूर्वी होती है तो वह मन्त्ररूप होता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्तोत्रो मे साधक अपनी प्रवुद्ध चेतना का आधान भी करता है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी प्रधान तपश्चर्या के कारण वे स्तोत्र मन्त्ररूप वन जाते है।

पूर्वाचार्यों द्वारा अनन्यभावपूर्वक की गई स्तुतियाँ इस प्रकार महाप्राभाविक वनती हैं और उनका भक्ति एव विधिपूर्वक पाठ करने से सर्वविध सौख्य एव दु खदारिद्रचादि का नाश प्रत्यक्ष दृष्ट है। प्रत्येक सम्प्रदाय मे ऐसे स्तोत्र हैं और उनका उपासक नित्य पाठ करते हैं, यह सर्वविदित है।

जैनधर्म और स्तोत्र

जैनधर्मानुयायी पूर्वाचार्यो ने अनेक रूप मे स्तोत्रो की रचना की है। मुनिराजों ने अपने साधु-जीवन की सार्थकता और विद्या का उत्तम उपयोग स्तोत्र-रचना मे ही माना है, यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। यही कारण है -जैनस्तोत्र समुच्चय, स्तोत्रसन्दोह, प्रकरणरत्नाकर जैसे अनेक ग्रन्थो मे देखने पर—आलङ्कारिक स्तुतियाँ, चित्रवन्धमूलक स्तुतियाँ, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, योग, भेपज, आभाणक एव शास्त्र विपय प्रतिपादनात्मक स्तुतिया आदि प्राप्त होती हैं। अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा इनमे एक विशेपता यह रही है कि इनमे शृङ्गार का प्राय अभाव रहता है तथा हिंसा से सम्वद्ध वर्णनो का भी अभाव रहता है। अत यथार्थ स्तुतियो के लक्षणो से युक्त इन स्तुतियो मे भक्ति और भाव की प्रधानता के साथ-साथ काव्य रचना के उदात्त गुणो का भी समावेश मिलता है।

भक्तामरस्तोत्र

ऐसे स्तोत्रो मे आठवी शती के समर्थ आचार्य श्रीमानतुङ्गसूरि की महनीय रचना **'भक्तामर-स्तोत्र'** है। इस स्तोत्र की दिव्यता के विविध पक्ष हैं जिनमे काव्य-कला, मन्त्र शास्त्रीय महनीयता, सिद्धि-दायकता आदि महत्त्वपूर्ण है। परमशासनप्रभावक श्रीमानतुङ्गसूरिजी ने भक्तामर-स्तोत्र की रचना करके ४४ लोहशृ खलाओ तथा वेडियो मे मुक्ति प्राप्त की थी और जिनशासन का जय जयकार किया था, यह वात सर्वप्रसिद्ध है । यही कारण है कि आलोचक इसे स्पर्धाजन्य मानते हैं तथा कुछ विद्वान् इस वात को केवल प्रभाववर्धक मानते है। इसमे सत्य क्या है ? यह तो ईश्वर ही जाने, किन्तु इस सम्वन्ध मे विचार-विमर्श के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि किसी भी स्तुतिकार की स्तुति के लिये होनेवाली प्रवृत्ति और उससे मिलनेवाले लाभो के सम्वन्ध मे श्रीसमन्तभद्राचार्य के 'स्वयम्भूस्तोत्र' मे वताये अनुसार भावना वनती है। वे कहते है—

> **स्तुति. स्तोतु. साधोः कुशलपरिणामाय स तथा,**
> **भवेन्मा वा स्तुत्य. फलमपि ततस्तस्य च सत.।**
> **किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रेयसपथे,**
> **स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥**

अर्थात्—स्तुति का अपना फल न होने पर भी स्तुति करनेवाले साधु के कुशल परिणाम के लिये होती है। अत जगत् मे स्वाधीन और सुलभ ऐसे कल्याणमार्गरूप इस स्तुति के लिये हे नमि-

नाथ ! कौन विद्वान् प्रवृत्त न हो ? इसीलिये स्तुति फल दे, अथवा न दे किन्तु उससे मिलनेवाले सुखद परिणाम तो सभी के द्वारा वाञ्छनीय है।

इसी प्रकार स्तुतिकार की तुलना दीपक मे जलती हुई वाती के साथ की जाती हैं। उपासना करनेवाला भव्यजीव स्वय मे शुद्ध स्वरूप विकसित करने के लिये —जिस प्रकार बत्ती दीपक की उपासना करती हुई तैलादि से सज्जित हो उसकी आराधना मे तन्मय वन जाती है उसी प्रकार स्तोता भी आत्मार्पण करके तदाकार वन जाता है।

भक्तामरस्तोत्र की रचना मे स्वय स्तोत्रकार ने 'अमर-प्रणत और भवजलपतित जीवो के आलम्वन होने के कारण भक्तिवश होकर उसकी प्रेरणा से ही मैं स्तुति करता हू—यह स्पष्ट कहा है। पाप का क्षय, अज्ञानान्धकार का नाश भी इसमे अन्य हेतु हैं तथा यह स्तोत्र यदि स्तवनीय गुणो से युक्त न हो तव भी आपका नामस्मरण, गुणचिन्तन—सकथा मात्र ही दुरितनिवारण करती है, इस दृष्टि से स्तोत्र रचना हुई है अत यह स्पर्धाजन्य काव्य नही है।

प्राचीनकाल मे आचार्यो की कृति का महत्त्व वढाने के लिये ऐसी स्पर्धाकथाएँ वहुत प्रचलित थी; उनमे '**सूर्यशतक**' की रचना द्वारा मयूर कवि के कुष्ठरोग की निवृत्ति, '**चण्डीशतक**' द्वारा वाणकवि के लुज-पुज शरीर का पुन सघटन, नौवी शती के कवि वज्रदत्त द्वारा रचित **अवलोकितेश्वर शतक**' से कुष्ठ निवारण, सिद्धसेन दिवाकर रचित '**कल्याणमन्दिर स्तोत्र**' द्वारा उज्जयिनीस्थ महाकालेश्वर की मूर्ति का फटकर उसके स्थान पर श्रीपार्श्वनाथ की मूर्ति का प्रकटन, ग्यारहवी शती के कवि अभयदेवसूरि रचित '**जयतिहुयण**' स्तोत्र द्वारा उनके रोग का निवारण एव श्रीपार्श्वनाथ की गुप्तमूर्ति का प्राकट्य, एक अन्य बौद्ध कवि रचित ९९ स्तोत्र पद्यो द्वारा नरमेध यज्ञ के लिये एकत्र किये गये ९९ व्यक्तियो की मुक्ति और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित '**गगालहरी**' पाठ से गगा के जल का ५२ सीढियो के ऊपर चढना आदि प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि ऐसे कथानको मे तनिक भी अतिशयोक्ति अथवा मिथ्योक्ति नही प्रतीत होती, क्योकि आज भी ऐसे स्तोत्र-प्रार्थनाओ द्वारा सकटो का निवारण होता है। अत 'भक्तामर-स्तोत्र' पहले भक्तिमूलक स्तोत्र है और इसकी यह घटना आनुपगिक हो ऐसा प्रतीत होता है।

भक्तामर-स्तोत्र के पद्य

दिगम्वर-जैन सम्प्रदाय मे इस स्तोत्र के ४८ पद्य है जवकि श्वेताम्वर-जैन सम्प्रदाय मे ४४ पद्य ही माने जाते हैं।। इस सम्वन्ध मे कुछ ऊहापोह 'भक्तामर कल्याणमदिर नमिऊण-स्तोत्रत्रयम्' की भूमिका मे श्री हीरालाल रसिकदास कापडिया ने, आगमोद्धारक आचार्य श्रीसागरानन्दसूरि ने तथा 'भक्तामर- रहस्य' मे शतावधानी प० धीरजलाल टोकरसी शाह ने किया है और ४४ पद्य ही मूलत इस स्तोत्र के हैं, ऐसा मत व्यक्त किया है।

इस सम्वन्ध मे इन पक्तियो के लेखक ने भी कुछ प्रयास किया और प्राचीन पाण्डुलिपियो का अवलोकन करते हुए एक प्रति भी प्राप्त की, जिसमे लिखा था कि 'भक्तामरस्य चत्वारि गुप्तगाथा'। (यहाँ चत्वारि के स्थान पर 'चतस्र' होना चाहिये था) इन गुप्तगाथाओ के साथ इनकी प्रयोग विधि भी सलग्न है। इन चार पद्यो के आदि चरणो के प्रतीक इस प्रकार हैं—

३१

१—यैं सस्तुवे गुणभृता सुमनो विभाति,
२—इत्थ जिनेश्वरसुकीर्तयता जनो ते,
३—नानाविध प्रभुगुण गुणरत्नगुण्या,
४—कर्णोऽस्तु तेन न भवानभवत्यधीरा ।

ये पद्य दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रचलित ४८ पद्यो मे आये हुए पद्यो की अपेक्षा नवीन हैं अत कदाचित् ये गुप्त हो यह स्वाभाविक है, किन्तु इन श्लोको की साधना का जो क्रम दिखलाया है उसमे श्वेत यज्ञोपवीत कण्ठ मे धारण करने और रात्रि मे हवन करने का विधान है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से इन्हे पृथक् सिद्ध करता है ।

इधर पालीताणा के 'श्री जिनकृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभण्डार' द्वारा मुद्रित गुणाकरवृत्ति युक्त भक्तामरस्तोत्र की भूमिका मे श्री जिनविजयसागरजी ने लिखा है कि—'जिनेश्वराणामष्टौ इति वृद्धसम्प्रदाय' अर्थात् जिनेश्वरो के आठ प्रातिहार्यों मे से ४ प्रातिहार्यों के पद्यो को उनकी प्रभावशालिता के कारण लाभालाभ का विचार करते हुए दीर्घदर्शी पूर्वाचार्यो ने भण्डारो मे गुप्त कर दिये है, अब वे दुर्लभ हैं और यदि प्रयास करने पर मिल भी जाएँ तो उनका उपयोग नही करना चाहिये । और इसकी पुष्टि मे कहा है कि—भक्तामरस्तोत्र के इन पद्यो के समान ही 'उवसग्गहर' स्तोत्र की एक गाथा, 'जयतिहुयण-स्तोत्र' की दो गाथाएँ, 'अजितशान्तिस्तोत्र' की २ गाथाएँ और 'नमिऊण-स्तोत्र' की स्फुलिंग सम्वन्धी दो गाथाएँ भी पूर्वाचार्यो द्वारा किसी विशेष कारण से ही गुप्त रखी गई है । अत यह विषय सशयास्पद ही है ।

भक्तामर-स्तोत्र की समस्यापूर्तियाँ

सम्भवत 'मेघदूत' के पश्चात् 'भक्तामर-स्तोत्र' ही एक ऐसा काव्य है जिसकी ख्याति काव्यानुरागियो का कण्ठहार वना हुआ है । जव कोई रचना अपने विशिष्ट गुणो से सर्वप्रिय वन जाती है जो अन्य कविजन उसके सहारे अपनी वाणी को पवित्र करने का प्रयास करते हैं । इस स्तोत्र के पदो को आश्रय वनाकर समस्यापूर्ति के माध्यम से आज तक प्राय २५ से अधिक काव्यो की रचना हुई है, जिनकी सूची इस प्रकार है—

नाम	कर्ता	विशेष
१—श्रीवीरभक्तामर	श्रीधर्मवर्धनगणी	चतुर्थ चरणपूर्ति
२—श्रीनेमिभक्तामर	श्रीभावप्रभसूरि	,,
३—श्रीसरस्वती भक्तामर	श्रीधर्मसिंहसूरि	,,
४—श्रीशान्तिभक्तामर	श्रीलक्ष्मीविमल	४५ पद्य, ,,
५—श्रीपार्श्वभक्तामर	श्रीविनयलाभगणी	४५ पद्य, ,,
६—श्रीऋषभभक्तामर	श्रीसमयसुन्दर (१)	४८ पद्य,
७—श्रीऋषभभक्तामर	श्रीविवेकचन्द्रगणी (२)	
८—श्रीप्राणप्रिय भक्तामर	श्रीरत्नसिंह सूरि	४८ पद्य, चतुर्थ चरणपूर्ति
९—श्रीदादापार्श्व-भक्तामर	श्रीराजसुन्दर मुनि	प्रथम चरणपादपूर्ति
१०—श्रीजिन भक्तामर	श्रीरत्नविमल मुनि	चतुर्थ चरणपूर्ति
११—श्रीऋषभदेव जिनस्तुति	अज्ञात नामा	प्रथम पद पर अन्य तीन चरणपूर्ति
१२—श्रीभक्तामरस्तोत्र पादपूर्ति	नवरत्नगिरिधरशर्मा	१९२ चरणो की पूर्ति

१३—श्रीनेमिवीर भक्तामर	श्रीबाबुराम जैन शास्त्री	चरण क्रमानुसारी पूर्ति
१४—श्रीवल्लभ भक्तामर	श्रीविचक्षणविजय	चतुर्थ चरणपूर्ति
१५—श्रीसूरीन्द्र भक्तामर	श्रीचतुरविजय	,,
१६—श्रीआत्म भक्तामर	प० हीरालाल हसराज	,,
१७—श्रीहरि भक्तामर	श्रीकवीन्द्रसागर	,,
१८—श्रीचन्द्रामलक भक्तामर	श्रीजयसागर सूरि	,,
१९—श्रीनेमि (गुरु) भक्तामर	विजयधर्म धुरन्धर सूरि	,,
२०—श्रीकालु भक्तामर (१)	मुनि सोहनलाल	,,
२१—श्रीकालु भक्तामर (२)	श्रीकानमल स्वामी	,,
२२—कर्तव्यषट्त्रिंशिका	आचार्य तुलसी	(कतिपयाश पूर्ति)
२३—भक्तामरशतद्वयी	प० लालारामशास्त्री	चतुर्थ चरणपूर्ति
२४—भक्तामरस्तोत्र पादपूर्ति	?	काव्यमाला गुच्छ १ मे प्रकाशित
२५—लघुभक्तामर सप्तपद्यमय	?	,, ,, ,,
२६—आदिनाथस्तुति	प्राचीन आचार्य ?	प्रथम पद्य के चार पदो की पूर्ति

इनके अतिरिक्त जयमाला, भक्तामरोद्यापन, भक्तामरपूजा, भक्तामरचरित, भक्तामरमहामण्डल-पूजा तथा भक्तामर कथा आदि अनेक ग्रन्थ इस स्तोत्र की महत्ता प्रदर्शित करते हैं। इस ग्रन्थ पर लगभग २५ प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं और अनेक अनुवाद भी इसके हुए हैं।

मन्त्रशास्त्रीय विशेषता .

आचार्य श्रीमानतुगसूरि एक महान् मान्त्रिक, ज्योतिष आदि शास्त्रो के पारदर्शी तथा परम उपासक थे, यह बात उनके स्तोत्रो से स्पष्ट है। प्राकृत भापा मे उनके द्वारा रचित '**भत्तिब्भरस्तोत्र**' मे उन्होने ऐसे अनेक चमत्कारिक विपयो का समावेश किया है और तन्त्रसाहित्य से सम्बद्ध बहुत-सी जानकारियाँ इसकी गाथाओ मे प्रस्तुत हुई है। इसीलिये भक्तामर स्तोत्र के टीकाकारो ने वृद्धसम्प्रदाय एव अपने बुद्धिबल के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रयोग, विभिन्न कथाएँ, इसके पद्यो के साथ बने हुए यन्त्र आदि की प्रक्रिया को देखकर सभी को आश्चर्य होता है। श्रीमानतुगसूरि की स्थिति के समय देश मे मन्त्रवाद का अत्यधिक प्रचार था। श्रीशङ्कराचार्य की 'सौन्दर्य-लहरी' मे भी मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र और योग का निर्देश प्राप्त होता है। तत्कालीन मयूरभट्ट के शतको मे यह पद्धति नही है, क्योकि वे पाण्डित्य प्रकर्प के पोषक हैं।

भक्तामर-स्तोत्र की साधना के प्रसङ्ग मे प्राचीन आचार्यों ने 'वृद्धसम्प्रदाय' के आधार पर प्रति पद्य के यन्त्र एव उसके साथ-साथ ऋद्धि एव मन्त्रो की योजना दिखाई है। ४८ पद्यो के भिन्न-भिन्न प्रयोगो का निर्देश करते हुए ऐसे यन्त्रो की तीन परम्पराएँ प्राप्त होती हैं। एक परम्परा मे जो यन्त्र है उनमे प्राय सभी यन्त्र चतुष्कोणात्मक है और उनके मध्य मे "वृत्त, चतुष्कोण, पट्कोण, अष्टदलकमल, षड्दल, दशदल, त्रयोदशदल, पोडशदल, द्वारमण्डल, चतुर्दल, १६ कोष्ठक, कलश, धनुप, चन्द्र, स्वस्तिक, त्रिकोण, पोडशारचक्र, खड्ग, सागुल पाणितल, दशकोष्ठक, नवकोष्ठक" आदि आकृतियो मे बीजमन्त्र, मन्त्र और पद्य लिखे हुए है। अन्य परम्पराओ मे बीजमन्त्र, ऋद्धिमन्त्र एव आकृतियो मे सामान्य अन्तर है।

विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा
... के जगम कल्पवृक्ष हैं।

इस स्तोत्र का पाठ उपासना-पद्धति से दो प्रकार का होता है १—समग्र स्तोत्र पाठ एव २—एक-एक पद्य का जपरूप पाठ। तीसरा प्रकार जाप्यमन्त्र सहित पद्यपाठ का भी है। यदि अधिक ध्यान दिया जाए तो इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के आसपास सम्पुट लगाकर पाठ करने से चौथा पाठ प्रकार वन जाएगा।

जव साधक को ऐसे स्तोत्र के पाठ से लाभ होता है तो वह अपनी श्रद्धा के अनुसार इसके यन्त्रो की विधिवार प्रतिष्ठा पूजा करके कवच के रूप मे सतत कार्यसिद्धि के लिये भी प्रयुक्त करता है। ऐसे कर्मों के लिये भी अनेक विधियाँ निर्दिष्ट हैं। अत यह मन्त्रशास्त्रीय दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्तोत्र है।

भक्तामर-स्तोत्र की साहित्यिक दिव्यता

हम देखते हैं कि स्तोत्रकार जव स्तोत्र की रचना करता है तव उसके अन्तर मे सर्वोपरि भक्ति विराजमान रहती है। भक्ति के साथ-साथ उसके ज्ञान का परिपाक रसस्रावी वनकर वर्णो को रमान्वित करता है और वे ही रसानुकूल वर्ण पदगुम्फ वनकर छन्द की मधुमती भूमिका पर नाद तत्त्व के साथ नृत्य करने लगते हैं। भक्तामर-स्तोत्र मे सहज साहित्य का समावेश अतीव मनोरम है। स्तोत्र कवि भाव के साथ-साथ अनेक शास्त्राम्वुधि के अवगाहन से अधिगत कथन-प्रणालियो को दवा नही पाया है। उक्तिवैचित्र्य से आप्लावित इस स्तोत्र मे शव्दालङ्कार और अर्थालङ्कारो के अनुशीलन का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। अनुप्रास के सभी प्रकार, श्लेष के कतिपय अश और चित्रालङ्कार मे "चतुर्दल कमल, स्वस्तिक,चतुरर चन्द्र, पुष्प और वृक्षवन्ध" की योजना "तुभ्य नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ" इत्यादि पद्य से हमने की है। अर्थालकारो मे उपमा की प्रमुखता है। ये उपमाएँ १—आकाशीतत्त्व, २—पृथ्वी और आकाश के मध्यस्थ तत्त्व, ३—प्राकृतिक सम्पदामूलक तत्त्व, ४—प्राणिजगत् सम्वन्धी, ५—समाज, धर्म और व्यवहार-विपयक तत्त्वो से अनुप्राणित हैं और सभी प्रसिद्ध क्षेत्रो से गृहीत हैं।

भावछाया की दृष्टि मे वेद, रघुवश, पुष्पदन्तकृत महिम्न स्तोत्र, पुराण, नीतिशतक, श्रीमद्-भागवत के गोपीगीत, कुमार-सम्भव, किरातार्जुनीय, नैपधीयचरित, अभिज्ञानशाकुन्तल, सौन्दरनन्द, महाकाव्य, चण्डीशतक, सूर्यशतक आदि ग्रन्थ के पद्य इनके पद्यो से साम्य रखते है, किन्तु यह कहना कठिन है कि किस तरह किसका किस पर प्रभाव रहा ?

इस प्रकार महाकवि श्रीमानतु ग सूरि विरचित यह भक्तामर-स्तोत्र अपनी विविधपक्षीय दिव्यता के कारण विद्वानो के हृदय को सदा आनन्दित करता रहता है।

भूभ्रमण के सिद्धान्तों का मूल्यांकन

—पंन्यास श्री अभयसागरजी मुनि
सग्राहक—(डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी)

यस्तर्केणानुसन्धत्ते

विद्वज्जनो का यह कहना है कि कोई यह कह दे कि—'यह वात प्राचीन परम्परा से प्राप्त है इसलिये इसका सम्मान होना ही चाहिये' तो यह अच्छा नही कहा जाएगा। यदि कोई वात 'नवीन गवेषको की श्रम-साधना का यह परिणाम हैं' इस लिये यह प्रामाणिक है और इसी आधार पर इसे मान लेना उचित है, तो यह भी उचित नही होता। ऐसी स्थिति मे परप्रत्ययनेय बुद्धिता दूसरे के विश्वास पर अपने विचारो को स्थिर करलेने की प्रवृत्ति भी उतनी ही हास्यास्पद होती है। अतएव बुद्धिमान को चाहिये कि वह तर्कों की तराजू पर प्रत्येक सिद्धान्त को वार-वार तोलने-परखने का पूर्ण प्रयास करे।' जिससे सत्य का साक्षात्कार शीघ्र हो सके। इसी कथन के आधार पर हम भू-भ्रमण के वर्तमान वैज्ञानिको द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का मूल्याङ्कन प्रस्तुत कर रहे हैं।

भू-भ्रमण के वर्तमान सिद्धान्त

(१) कल्पना और निरीक्षण-परीक्षण के आधार पर कोपर्निक्स' Copernecus एव 'गेलेलियो' Galileo तथा उनके अनुयायियो ने पृथ्वी की भ्रमणशीलता का विचार प्रस्तुत किया था, किन्तु न्यूटन ने १६७९ ई० मे इस से सम्वद्ध अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम यह कहा था कि—यदि किसी मीनार के सिरे से कोई गेद गिराई जाए तो वह गेद विलकुल नीचे मीनार के मूल के निकट न गिरकर कुछ पूर्व की ओर हटकर गिरेगी। मीनार का सिरा अपने तले की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से अधिक दूर होता है और इसी कारण उसकी गति भी तेज रहती है। गिरते समय गेद की गति भी वही रहती है जो मीनार के सिरे की ओर कम नही होती। इस कारण गिरते समय गेद तले के निकट न गिरकर आगे वढ जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है।

इसी के साथ इन वैज्ञानिको ने सूर्य को भी गतिशील व्यक्त किया है। अनेक ऊहापोह के पश्चात् जव पृथ्वी को गतिमान् मानने का प्रवाद वढ रहा था उन्ही दिनो अस्सर और टोलेमी ने पृथ्वी को स्थिर वतलाने का प्रयास किया। इधर व्रूक नामक एक अन्य वैज्ञानिक ने भी यह मान्यता फैलाई

की—'पृथ्वी गतिशील है और वह सूर्य के चारो ओर घूमती है।' इस सिद्धान्त पर जव-जव कोई विवाद खडा किया जाता तो ये लोग अपने मत को वनाये रखने के लिये नई-नई युक्तियाँ ढूँढ निकालते और इस तरह—'१—पृथ्वी का २३½ अश का झुकाव, २—पृथ्वी के चारो ओर वायुमण्डल की स्थिति एव ३—गुरुत्वाकर्षण का नियम' ये तीन युक्तिया उनमे प्रमुख रूप से प्रचलित हुई।

धीरे-धीरे यह सिद्धान्त व्यापक वन गया और इनके आधार पर ही **'पृथ्वी की गतिशीलता'** का सिद्धान्त राजमान्य वन गया।

कोपरनिक्स ने पृथ्वी के परिभ्रमण को सिद्ध करने के लिये तर्क दिया कि—पृथ्वी की यह गति उसके कक्ष एव अक्ष पर होती है जिसके फलस्वरूप ये गतियाँ दो प्रकार की कही जाती हैं—१—परिक्रमा और २—परिभ्रमण। पृथ्वी जिस मार्ग पर सूर्य की परिक्रमा करती है उसे 'कक्षा' कहते है और इस मार्ग से सूर्य की परिक्रमा करने मे पृथ्वी को ३६५¼ दिन लगते है जो कि वर्ष की अवधि है। प्रत्येक चार वर्ष के वाद एक वर्ष वृद्धि का वर्ष होता है जिसमे एक दिन का अन्तर पडता है। परिभ्रमण से तात्पर्य है—पृथ्वी का अक्ष—एक अनुमानित रेखा, जो पृथ्वी को भीतरी केन्द्र से उत्तरी एव दक्षिणी ध्रुव को मिलाती है—पर परिभ्रमण। इस मे पृथ्वी अपना एक भ्रमण २४ घण्टे मे पूर्ण करती है, जो हमारे दिन की अवधि है। इन्ही विचारो को पुष्ट करने के लिये पृथ्वी की तीन गतियाँ सिद्धान्तत स्वीकृत है —

१ पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमने की गति।
२ सूर्य के आस-पास भ्रमण की गति।
३ सूर्य की (पृथ्वी सहित अपने तथा उपग्रहो के साथ) भ्रमण की गति।

आज विश्व के वैज्ञानिको का मस्तिष्क इसी मान्यता पर केन्द्रित हो गया है और जो प्राचीन-अर्वाचीन विद्वान् इसके विरुद्ध कुछ कहते रहते रहे हैं, उनको अपने प्रचार-प्रसार के वल पर धूमिल वनाते हुए अपना पन्थ वढा रहे हैं।

प्रामाणिकता की कसौटी

सत्य को छिपाने का दु साहस सफल नही होता। किसी भी सिद्धान्त को स्थिर करने के कुछ प्रमाण मानने पडते है जो न्यायाधीश की तरह तर्क-वितर्क के पश्चात् निर्णय करते है। विज्ञानवादी केवल वितण्डा के वल पर अपनी ढफली अपना राग आलापते हैं। वे शास्त्र मानते नही और जो तर्क उनके सामने रखे जाते है उनका उत्तर दे नही पाते। ऐसी स्थिति मे हम अन्धानुकरण न करते हुए वास्तविकता से वचे एतदर्थ हम विज्ञान की वात को विज्ञान के ही तर्कों से खण्डित कर सत्य तक ले जाने का प्रयास करेंगे।

मीनार के प्रयोग की दुर्बलता

जिस प्रकार मीनार से गिराई हुई गेद पृथ्वी की गति के कारण निश्चित स्थान पर न गिर कर दूर गिरती है तो क्या पृथ्वी से तीर, वन्दूक आदि से किसी ऊँचे स्थान से नीचे और नीचे से ऊँचे स्थान पर लगाये जानेवाले निशान मे भी अन्तर आता है? तो इसका उत्तर होगा—'नही', यदि ऐसा ही होता तो सभी निशाने वेकार जाते क्योकि प्रत्येक निशानेवाज दृष्टि की सीधी रेखा को लक्ष्य मे रखकर ही निशाना लगाता है। अत यह प्रयोग दुर्वल है। इसके साथ ही 'वातावरण की तेज गति' का वहाना

लेकर पृथ्वी की गति से उसकी गति मे अधिक वेग वतलाकर जो समाधान दिया जाता है वह भी गतिमान् पृथ्वी के निशाने से नि सार सिद्ध होता है।

फोकाल्ट का प्रयोग

सन् १८५१ ई० मे फोकाल्ट ने पेरिस मे पेन्थियन गुम्वद से एक हिलती हुई अवस्था मे पेण्डुलम लटकाया जो कि भूमि पर खिंचे चिह्न के समानान्तर मे कुछ समय तो हिलता रहा, किन्तु कुछ समय वाद उसने अपना मार्ग वदल दिया। कुछ ही घन्टो मे चिह्न लम्ववत् और फिर समानान्तर वन गया। चिह्न के समानान्तर होने मे इसे प्राय २४ घण्टे लगे। अत यह सिद्ध हुआ कि वह मकान पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के कारण पेण्डुलम के चारो ओर घूम गया।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रयोग मे यह विचारणीय है कि पृथ्वी यदि गतिशील है तो जिस गुम्वद से पेण्डुलम को लटकाया गया वह भी पृथ्वी के साथ भ्रमण करेगा, वैसा होने पर पेण्डुलम की रेखाएँ सदा वदलती रहनी चाहिए और समानान्तर रेखाओ पर उसका हिलना तथा उसकी सम-विपम रेखाएँ जवकि दाए-वाएँ भी पृथ्वी को स्थिर ही प्रमाणित करती है। साथ ही समानान्तर रेखाओ मे परिभ्रमण के २४ घण्टे मे पूर्ण होने का जो उल्लेख किया है वह ध्रुवप्रदेश मे ही सभव है, क्योकि वहा पृथ्वी की गति के कारण पेण्डुलम का अपनी मूलरेखा पर २३ घण्टे ५६ मिनिट ४ सेकण्ड मे आना वतमान वैज्ञानिक मानते हैं। किन्तु ध्रुव प्रदेश मे जाना कठिन है फिर इस प्रयोग पर कैसे विश्वास किया जाय ?

भार-परिवर्तन का प्रमाण .

कहा जाता है कि—भूमध्यरेखा पर वस्तुओ का भार कम और ध्रुवो पर उन्ही वस्तुओ का भार अधिक होता है क्योकि ध्रुव पर पृथ्वी धीरे-धीरे और भूमध्य रेखा पर तीव्र गति से घूमती है। चूकि भार का सम्वन्ध आकर्षण शक्ति से है और वह आकर्पण शक्ति ध्रुवो पर अधिक तथा भूमध्य रेखा पर कम होती है। अतः यदि पृथ्वी स्थिर होती तो सभी स्थानो पर पृथ्वी का भार एक समान होता ?

समीक्षा—इस कथन मे वायु का दवाव ही कारणभूत है, क्योकि पृथ्वी के मध्यविन्दु से चारो ओर खीची जानेवाली रेखाए समान ही वनती हैं। अत भूमध्यरेखा और ध्रुवप्रदेश मे भार-परिवर्तन की वात पृथ्वी को गतिमान् प्रमाणित नही कर सकती।

दिन और रात्रि के प्रमाण

यह कहा जाता है कि यदि हमारी पृथ्वी स्थिर होती तो दिन और रात सम्भवत नही होते। पृथ्वी के दैनिक भ्रमण के कारण ही जव पृथ्वी का भाग सूर्य के सामने होता है तव दिन और उसके अभाव मे रात होती है। दिन और रात की लम्वाई किसी स्थान की अक्षाशी स्थिति पर निर्भर होती है।

समीक्षा—उपर्युक्त प्रमाण से पृथ्वी की गतिशीलता प्रमाणित करना तर्कसङ्गत नही है, क्योकि गणितशास्त्र के नियमानुसार विशिष्ट परिणामो को सिद्ध करने के अनेक प्रकार होते हैं। जैसे—९ की सख्या ५+४=९ से भी वनती है। इसी प्रकार ६+३=९, ४+५=९, ७, २ - ९ अथवा १०—१=९ आदि प्रकारो से भी प्रमाणित की जा सकती है। इसमे किसी प्रकार विशेप को मिथ्या कहने का दु साहस कोई वुद्धिमान् व्यक्ति कभी नही करेगा।

इस तरह दिन-रात के प्रश्न का समाधान सूर्य की गतिशीलता और मण्डलो मे परिभ्रमण आदि से भी सुगमता से सिद्ध है।

वहने और चलनेवाली वस्तुएँ

फैरल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नदिया और वायुधाराएँ उत्तरी गोलार्ध मे दाहिने और दक्षिणी गोलार्ध मे वाये भाग मे घूम जाती हैं। ऐसा पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण ही होता है।

समीक्षा—उपर्युक्त कथन मे नदी और वायु के प्रवाह का परिवर्तन पृथ्वी की गति के कारण न होकर वातावरण के कारण होता है। गुरुत्वाकर्षण और वातावरण के स्वरूप, प्रकार एव स्थिति को आज स्वतन्त्र रूप से माना जाता है।

रेल-मोटर आदि यानो की गति

यह भी कहा जाता है कि—यदि हम तेज गति से चलनेवाली रेल अथवा मोटर से किसी दिशा मे यात्रा करे तो उसकी दिशा मे सभी वस्तुएँ पीछे की ओर चलती हुई दिखाई देती है। इससे यह स्पष्ट है कि पृथ्वी घूमती रहती है।

समीक्षा—इस आधार पर पृथ्वी की गतिशीलता सिद्ध करना वालको को समझाना मात्र है, क्योकि किसी वडे जकशन पर ठहरी हुई लोकल ट्रेन मे हम जव वैठे होते है तव थ्रू-आउट जानेवाली मेल ट्रेन शीघ्रता से जाती हुई मालूम होती है। इससे सूर्य की गति स्वत सिद्ध है, पृथ्वी की नही।

पेण्डुलम वाली घडी, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से होनेवाले प्रयोगो के आधार पर पृथ्वी की गतिशीलता को सिद्ध करना भी इसीप्रकार अन्यान्य तर्कों से खण्डित हो जाता है। इतना ही नही, पृथ्वी की दैनिक और वार्षिक गति भी तर्कों के सामने टिक नही पाती है, क्योकि जिस वात को आधुनिक वैज्ञानिक पृथ्वी की गति के माध्यम से सिद्ध करते हैं, वही सूर्य की भ्रमणशीलता से सिद्ध हो जाती है। और उसमे व्यर्थ के व्यवधान भी नही आते।

पृथ्वी के सम्बन्ध मे अन्य धारणाएँ

ससार मे यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'एक असत्य को सिद्ध करने के लिये सौ असत्य और जुटाने पडते हैं।' इसी प्रकार पृथ्वी की गतिशीलता को सिद्ध करने के लिये जहा-जहा कठिनाई आई, वही नये-नये प्रकल्प खडे किये गये। उदाहरणार्थ—पृथ्वी को एक ग्रह मानना, सूर्य से पृथग्भूत सूर्यद्रव्य से निर्मित मानना, अण्डाकार मानना, अपनी ही धुरी पर घूमती हुई मानना, एक आकाशीय पिण्ड मानना, सूर्यमाला का अग मानना आदि।

किन्तु परीक्षण करने पर इन मव मे कुछ न कुछ दोप अवश्य ही निहित हैं और कही-कही तो सभी मान्यताएँ परस्पर वैमत्यवाली हैं। स्वय वैज्ञानिक ही उनके वारे मे सशयारूढ हैं। अस्थिर सिद्धान्तो के आधार पर किसी स्थिर सिद्धान्त का खण्डन करना नितान्त अशोभनीय है। इसीलिये कहा गया है कि—**सन्त परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयवुद्धि**—अर्थात् वुद्धिमान् किसी वस्तु की परीक्षा करके ही उनमे से सत्य को ग्रहण करते हैं और जो दूसरे के विश्वास पर असत्य को भी सत्य मान लेते है वे मूढ हैं।

भारत मे यह एक फैशन चल पडी है कि प्रत्येक तथाकथित पढ़ा लिखा व्यक्ति विदेशो का अन्धानुकरण करने मे ही स्वय को विद्वान् मानता है और उसके लिये वह अपने पूर्वमहर्षियो के अप्रतिम

ज्ञान को काल्पनिक कहकर उसका उपहास करता है। हमने इस दिशा मे **'भू-भ्रमणशोध सस्थान-महेसाणा** तथा **जम्बूद्वीप निर्माणयोजना, कपड़वज'** के माध्यम से गुजराती, हिन्दी सस्कृत एव अग्रेजी मे छोटी-वडी अनेक पुस्तको की रचना कर भारतीय भावना को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया है। साथ ही स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा भी विषय को स्पष्ट रूप से स्थापित कर प्राचीन महर्षियो के वचनो की प्रामाणिकता सिद्ध करने का भी यत्न किया है।

जैन-साहित्य और विज्ञान

जिस प्रकार वैदिक एव अन्य धार्मिक साहित्य मे विज्ञान की विशद चर्चा द्वारा अति प्राचीन काल मे भी जो प्रामाणिक बाते उपस्थापित है उसी प्रकार हमारा जैन साहित्य भी विज्ञान के क्षेत्र मे तनिक भी पीछे नही रहा है। गम्भीर-विवेचन पूर्वक शास्त्रीय दृष्टि को स्पष्ट करते हुए सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, नदी-नद आदि का वर्णन जिन ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है उनका सक्षिप्त नामाङ्कन पाठको की सुविधा के लिए हम यहाँ देना उपयुक्त समझते है। वे ग्रन्थ इस प्रकार है—

लोक परिचय के लिये

(१) आचाराग सूत्र, १ श्रुतस्कन्ध, २ अध्ययन १ उद्देशक
(२) आवश्य सूत्र, द्वितीय अध्ययन, (क) विशेषावश्यकभाष्य (२ अ०)
(३) स्थानाग सूत्र, १ स्थान, ३ स्थान, ३ उद्देशक, १५३ सूत्र,
(४) सूत्रकृताग
(५) समवायाग सूत्र प्रथम समवाय
(६) भगवती सूत्र, १३ शतक, ४ उद्देशक, ११ शतक, १० उद्देशक।

लोक के आकारज्ञान के लिये

(१) स्थानाग सूत्र, ३ स्थान, ३ उद्देशक,
(२) भगवती सूत्र ७ शतक, ३ " २६१ सूत्र, तथा १३ शतक, ४ उद्देशक
" " ११ , १० " , ४२० सूत्र, ४८७ सूत्र
(३) आचाराग सूत्र १ श्रुत, ८ अ० , १ उद्देशक

शीलाकाचार्य ने इसकी टीका मे भी विचार किया है। इसी सूत्र मे 'भूकम्प' पर भी विचार किया है।

तिर्यग् लोक विचार

(१) स्थानाग सूत्र ३ स्थान, २ उद्देशक,
(२) अनुयोगद्वार ३ सूत्र,
(३) सूत्रकृताग सूत्र १ श्रुत, ५ अध्य० १ उद्देशक

जम्बूद्वीप-विचार

(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति,	(२) आवश्यक सूत्र १ अध्ययन
(३) जीवाभिगम सूत्र	(४) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(५) समवायाग सूत्र	(६) अनुयोगद्वार
(७) सूत्रकृताग सूत्र	(८, स्थानाग सूत्र २ स्थान, ३ उद्देशक

भरतक्षेत्र विचार

(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३ वक्षस्कार, ७१ सूत्र
(२) स्थानाग सूत्र ६ वा स्थान,
(३) प्रश्नव्याकरण ४ था आस्रव द्वार

खगोल सम्बन्धी गतिविचार

१—सूर्य प्रज्ञप्ति, २—चन्द्र प्रज्ञप्ति, ३—भगवती सूत्र ४—ज्योतिष्करण्डक ५—काललोक-प्रकाश ६- मण्डल प्रकरण ७—वृहत्सग्रहणी (३ ग्रन्थ) ८—तत्त्वार्थसूत्र

भूगोल पर विचार (प्रकरण ग्रन्थ)

१- लघुक्षेत्र समास २—वृहत्क्षेत्र समास
३—जम्बूद्वीप समास ४—क्षेत्रलोक प्रकाश
५—तत्त्वार्थसूत्र और उसपर श्लोकवार्तिक टीका

इसी मे पृथ्वी की गतिमत्ता का खण्डन किया गया है।

उपर्युक्त आगम एव प्रकरण ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक आचार्यो ने तथा स्वतत्र आलोचको ने इन विषयो पर मुक्तरूप से विचार किया है, जिसे हम विस्तार भय से नही दे रहे हैं।

उपसहार

क्षेत्र एव अन्य भूगोल-खगोल के विषयो पर प्राचीन आचार्यों के वचनो को दृढ श्रद्धा वाले लोग ही मान सकते हैं किन्तु सामान्य लोग शास्त्रज्ञान से शून्य होने से चार्वाक—चारु-वाक पर जल्दी रीझ जाते हैं अत हम सदैव पहले विज्ञान से विज्ञान का अनौचित्य सिद्ध करने पर वल देते हैं। जव समझ लेते हैं कि वस्तुत तर्कों की तराजू पर आधुनिक वैज्ञानिको के कथन हलके उतरते हैं, तव शास्त्रीय प्रमाण वतलाकर श्रद्धा स्थिर वनाने की वात कहते हैं।

शास्त्रीय मान्यताएँ सर्वथा सत्य एव अकाट्य हैं किन्तु उन्हे समझने के लिये मेधा की आवश्यकता है और वह भी श्रद्धा एव गुरुकृपा पर निर्भर है। अत हमारा निवेदन है कि—

प्रज्ञावलेन परिवीक्ष्य समस्त शास्त्र—
सम्प्रोक्त-वर्णित-सुतर्कित वाक्यराशिम्।
श्रद्धासमिद्धपरिपावनभावनाभि —
र्गृह्णन्तु वास्तविकसत्यमिह प्रवुद्धा.॥१॥
मा यात लौकिक घटाजटिले पथि स्वा,
वुद्धि निवेश्य च तदङ्गविमृष्टिहीनाः।
"सत्येन सत्यममल नितरां चकास्ति"
नासत्यवाड् मतिमता मुदमातनोति ॥२॥

● ●



इतिहास और परम्परा



● पं० दलसुख मालवणिया

भगवान महावीर के प्राचीन वर्णक

श्रमणधर्म के नायको, तीर्थंकरो के वर्णन मे अरिहत, अर्हत्, बुद्ध, जिन, वीर, महावीर, तथागत, तीर्थंकर आदि जो अनेक विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमे से अधिकाश सर्वसाधारण थे, फिर भी उनमे से कुछ ऐसे थे जो विशिष्ट सप्रदाय ने विशेष रूप से प्रयुक्त किए। परिणाम यह हुआ कि अन्य सप्रदायो मे उनका क्रमश ह्रास हुआ। इस तथ्य की पुष्टि भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त विशेषणो से भी हो सकती है। प्रस्तुत मे तो भगवान महावीर के लिए कालक्रम से प्राचीन जैन आगमो मे किस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त हुए और किस प्रकार से उनमे से कुछ नाम जैसे वनगए उनका निर्देश करना अभिप्रेत है। इस निर्देश से यह भी प्रासगिक रूप से सिद्ध होगा कि पालिपिटक मे भगवान महावीर के लिए दिये गए विशेषणो का मूल प्राचीनतम आगम मे मिलता नही है। अतएव वह पालिपिटक से प्राचीन सिद्ध होता है।

पालिपिटको मे

पालिपिटक मे अन्य तीर्थकरो के साथ भगवान महावीर को भी 'तीर्थकर' कहा गया है और विशेष रूप से **'सव्वण्णु' 'सव्वदस्सी'** भी कहा है तथा अन्य से पार्थक्य करनेवाला विशेषण **'निग्गन्थ'** भी दिया हुआ है। किन्तु जैनागमो के प्राचीनतम अश मे ये विशेषण भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त नही मिला अतएव यह सिद्ध होता है कि आचाराग का प्रथमश्रुतस्कध पालिपिटक से भी प्राचीन है। भगवान महावीर के लिए ये विशेषण क्रमश प्रयुक्त होने लगे थे जो काल की दृष्टि से आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाद के हैं।

'जिन' शव्द का प्रयोग सभी श्रमणो मे साधारण था। गौतम वुद्ध, आजीवक नायक गोशालक तथा अन्य श्रमणो के नायको के लिए 'जिन' शव्द प्रयुक्त होता था। किन्तु भगवान महावीर के लिए वह विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा अतएव उनके अनुयायी विशेषरूप से जैन नाम से प्रसिद्ध हुए। जैन शव्द से दीर्घकाल तक वुद्ध के अनुयायिओ का भी वोध होता था, किन्तु जव से भारत मे से वौद्धो और आजीवको का लोप हुआ है तव से 'जैन' शव्द केवल भगवान महावीर के अनुयायिओ के लिए रह गया है। **'तथागत'** शव्द भी केवल गौतमवुद्ध के लिए ही प्रयुक्त होता हो सो वात नही थी। भगवान् महावीर के लिए या जैन तीर्थंकरो के लिए भी वह विशेपण प्रयुक्त हुआ है, किन्तु कालक्रम से



जैनो मे से वह लुप्त हुआ और केवल गौतमबुद्ध का ही बोध कराने लगा है। इस तरह शब्दो के अर्थ का सकोच होता है—यह भी इस विचारणा से फलित होगा। यही बात 'अर्हत्' शब्द के विषय मे भी है। श्रमणो मे अधिक प्रयुक्त होने के कारण वैदिको ने उस का प्रयोग नहीवत् किया। इस तरह समय-समय पर शब्दो के प्रयोग मे मर्यादा देखी जाती है।

आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध मे, साधक भगवान महावीर के लिए

तीर्थंकर महावीर के जीवन सबधी प्राचीनतम सामग्री आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे उपलब्ध होती है। उसके प्रारभिक अध्ययनो मे भगवान महावीर के उपदेशो का सग्रह है और अतिम अध्ययन मे भगवान महावीर की साधना का निरूपण है। यहाँ प्रथम उनके साधक जीवन के लिए कौन-से विशेषणो का प्रयोग हुआ है यह देखा जाय—

साधनाकाल मे भगवान महावीर अपना परिचय **'भिक्खु'**—'भिक्षु' के रूप मे देते रहे यह स्पष्ट है[1]—उनके कुल का परिचय **'नायपुत्त'** और **'नायसुय'** शब्द से मिलता है[2]—किन्तु यह आगे चल कर उनका नाम दर्शक हो गया है। उनके लिए केवल **'मुणि'** ऐसा भी उल्लेख मिलता हे[3] जो सामान्य साधक के लिए सामान्यरूप से प्रयुक्त देखा जाता है।

श्रमणो मे आचारवत पुरुषो को—**'ब्राह्मण'** कहना पसद किया जाता था। इसकी प्रतीति हमे धम्मपद के ब्राह्मणवग्ग[4], से तथा उत्तराध्ययन के १२ वे अध्ययन से होती है। वहां दोनो स्थानो मे ब्राह्मण की विस्तृत व्याख्या दी गई है उससे स्पष्ट होता है[5]—कि जन्म से नही, किन्तु गुण से ही कोई ब्राह्मण कहलाने योग्य होता है। आचाराग मे इसी परम्परा का अवलम्बन करके पुन पुन भगवान महावीर को **'माहण'** कहा गया है।[6]

'नाणी'—ज्ञानी[7] और **'मेहावी'**—मेधावी[8] जैसे विशेपण भी उनको दिए गए हैं जो उनकी विशिष्ट प्रज्ञा को प्रकट करते हैं। सयम और तपस्या मे पराक्रम के कारण उन्हे **'महावीर'** कहा गया है[9] और उनका यही विशेपण आगे चलकर उनका नाम ही बन गया है। इससे फलित यह भी होता है कि यह नाम उनको देवो ने दिया था ऐसी जो परम्परा है वह बाद मे बनी है।

भगवान बुद्ध की तरह भगवान महावीर को भी **'समणे भगव'**—श्रमण भगवान[10] उनकी पूज्यता दिखाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। और **'भगवं' 'भगवन्ते' 'भगवया'**—ये तो अनकेश प्रयुक्त हैं[11] जो सूचित करता है कि लेखक भगवान महावीर से अत्यन्त प्रभावित है।

---

१. आचाराग—६,२,१२   २ वही—६,१,१०   ३ वही—६,१,६,२०

४ धम्मपद २६   ५ उत्तराध्ययन १२

६ आचारांग ६, १, २३ । ६, २, १६ । ६, ३, १४ । ६, ४, १७, । ६, २, १० । ६, ४, ३

७ वही ६, १, १६   ८ वही ६ १, १६

६ वहीं ६, १, १३ । ६, ३, ८ । ६, ४, ८, १४ । ६, २, १ । ६, ३, १३

१० आचाराग ६, १, १ ।

११ आचाराग ६, १, ४, । ६, १, १५ । ६, २, ५ ६, २, ६ । ६, ७, १५ । ६, ३, १२ । ६, ३, १६ । ६, ४-१-३-५ । ६, ३, ७ । ६, ४, ६ । ६, ४, १२ । ६, १, २३ ।

साधक अवस्था मे वे **'छउमत्थे वि'**- छद्मस्थ होते हुए भी[१२] **'अकसाई'** कषायरहित और **'विगयगेही'** गृद्धिरहित थे[१३] ऐसे वर्णन है।

इससे स्पष्ट होता है कि आचाराग के प्रस्तुत अश मे वे 'भगवान', 'श्रमण भगवान' कहे गए हैं, किन्तु 'तीर्थंकर' विशेषण नही मिलता। यहा यह भी ध्यान देने की बात है कि इसके बाद की रचना मे भी सामान्य स्थविर आदि अन्य श्रमणो को भी 'भगवान' कहा गया है[१४]। इतना ही नही किन्तु, भिक्षु किसी स्त्री को 'भगवती' कह कर पुकारे[१५] ऐसा आदेश है, उससे सूचित होता है कि 'भगवत' यह शब्द आदर-सूचक है फिर भी उसमे 'नायक' या 'तीर्थंकर' को जो महत्व मिला है वह नही है- यह स्पष्ट होता है।

उपदेशक भगवान महावीर के लिए

आचाराग प्रथम श्रुतस्कध के प्रारम्भिक अध्ययनो मे भगवान महावीर एक उपदेशक के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। अब उन अध्ययनो मे उनके लिए जो विशेषण प्रयुक्त हैं, उन्हे देखा जाय—

इस प्रसग मे यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इन अध्ययनो मे 'वीर' या 'महावीर' ये विशेषण किसी भी पराक्रमी के लिए प्रयुक्त है, केवल भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त नही है। **'ऐगे महावीरा विप्परिक्कमति'**[१६] **'एव तेसिं महावीराण'**[१७] **'तेहिं महावीरेहिं'**[१८] **'एस वीरे पससिए जे बद्धे पडिमोयए'**[१९] **धीराण**[२०] इन सब मे भ० महावीर अभिप्रेत नही हैं किन्तु पराक्रमी महापुरुष अभिप्रेत हैं।

यहा यह भी ध्यान देने की बात है कि साधनाकाल के वर्णन मे उन्हे 'वीर', 'महावीर' कहा गया है फिर भी आचाराग के प्रस्तुत सकलन के काल तक उनका 'महावीर' ऐसा नाम प्रसिद्ध नही हुआ था। और यह 'महावीर' ऐसा नाम देवो ने दिया है— यह कथा जब से प्रसिद्धि मे आई है, उससे पूर्व ही वे 'महावीर' नाम से पहचाने जाने लग गये होगे यह भी स्पष्ट होता है। किन्तु यह काल आचाराग के प्रस्तुत सकलन से बाद का ही होना चाहिए। पालि मे वे केवल **'निग्गथ नाथपुत्त'** या **नातपुत्त** के नाम से प्रसिद्ध हैं यह भी सूचित करता है कि तब तक भी वे 'महावीर' नाम से प्रसिद्ध नही हुए थे।

इसी प्रकार **'बुद्ध'** या **'पबुद्ध'** ये विशेषण भी विशेष ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होते थे- यह बात आचाराग के प्रस्तुत अश से सिद्ध होती है[२१]। यही विशेषण बाद मे जाकर भगवान बुद्ध के लिए नाम बन गया है।

साधक की ही तरह उपदेष्टा भगवान महावीर के लिए भी **'नायपुत्त'**[२२] शब्द प्रयुक्त है और **'माहणेण मइमया'**[२३] यह भी देखा जाता है। और **'भगवया पवेइय'**[२४] जैसे प्रयोग पुन पुन देखे जाते

---

१२ वही ६, ४, १५   १३ वही ६, ४, १५   १४ वही २, ७१—
१५ वही २, १३४   १६ वही १, १७२   १७ वही १, १८५। १, १८८
१८ वही १, १८८   १९ वही १, ८६। १, ९८, १, २०४।   २० वही १, १४०
२१ वही १, १३९-१७७। ८, ८, २। १, २०४। १, १६०।   २२ वही ८, ८, १२
२३ वही २, १००। १, २०६।   २४ वही १, १-१०-१५-१६-२३-४५-५२-५८-६०-१८५-२१४-२१६-२२०।

हैं। इसके अलावा 'भगवया पवेइय आसुपन्नेण जाणया पासया'[२५] ऐसे प्रयोगो ने उन्हे आशुप्रज्ञ तो कहा ही है, उपरात उन्हे ज्ञान-दर्शन से युक्त भी कहा है। 'कुसलस्स दंसण'[२६] ऐसा कह कर भगवान को कुशल की उपाधि दी गई है।

यहा भी भगवान् को—'तीर्थंकर' नही कहा गया यह द्रष्टव्य है। पालि दीघनिकाय जैसे ग्रन्थो मे उन्हे 'तित्थकर' कहा गया है, परन्तु यहा नही है, यह सिद्ध करता है कि जैनागमो का प्रस्तुत अगपालि के उन अशो से पाचीन हैं। 'मुणिणा पवेइय'[२७] मे तो उन्हे केवल 'मुनि' कहा गया है।

'अरहता भगवतो'[२८] मे समानधर्मी अनेक अरहतो की सूचना तो मिलती है उपरात तीनो काल के अरहतो का निर्देश सिद्ध कर रहा है कि भूतकाल मे भी कुछ ऐसे ही अरहत हुए थे। बौद्धधर्म के सस्थापक के लिये भी अरहत विशेषण प्रयुक्त हुआ है[२९]। वस्तुस्थिति तो यह है कि मानार्ह पूज्य के लिए वैदिक काल से ही 'अर्हत्' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु श्रमणो ने जब से इसका प्रयोग अपने पूज्य पुरुषो के लिए विशेषरूप से आरम्भ किया तब से इस शब्द का प्रयोग वैदिको मे कम होते-होते निरस्त हो गया। और केवल श्रमणसमत महापुरुषो के लिए रूढ हो गया।

उपदेशको के लिए 'खेयण्णेहिं'[३०] भी देखा जाता है जो आगे के ग्रन्थो मे भी चालू रहा है। 'माहण' की ही तरह 'वेयवी' वेदवित्[31] शब्द भी वैदिक आर्यों मे जो ज्ञानी के लिए प्रयुक्त होता था वह भी यहा देखा जाता है। इसी तरह 'आरिएहिं पवेइए'[३२] मे 'आर्य' शब्द के द्वारा अपने मान्यपुरुषो को सूचित करने की परम्परा भी देखी जाती है। इसी तरह 'महेसी'-महर्षि (१६०) भी पूर्व परम्परा का अनुसरण हैं। 'मेहावी' (१६१) 'पन्नाणमत' (१३६, १६०, १७७) जैसे विशेषण भी उपदेशको के लिए प्रयुक्त है। जिनका प्रयोग आगे चलकर नहीवत् रहा है, किन्तु 'जिण' (१६२) विशेषण के लिए ऐसा नही हुआ। वह तो आगे भी चालू रहा है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वह भी भगवान महावीर के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त हो ऐसी बात नही है किन्तु वह सामान्यरूप से प्रयुक्त है। 'शास्ता'[33] विशेषण भगवान महावीर लिए प्रयुक्त यहा देखा जाता है, किन्तु वह भी विशेषरूप से आगे चलकर म० बुद्ध के लिए प्रयुक्त हुआ है। बहुतायत रूप मे वह जिस प्रकार पालिपिटको मे बुद्ध के लिए प्रयुक्त है, वैसा जैनआगमो मे देखा नही जाता।

साराश यह है कि यहाँ भी मुणि, माहण, नायपुत्त और भगवा—ये विशेषण ही भगवान महावीर के उपदेशक जीवन के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त है।

यहा भी इन्हें 'तित्थयर' नही कहा गया यह ध्यान देने की बात है। 'जिन' शब्द का प्रयोग बौद्धो ने भी बुद्ध के लिए किया है, किन्तु जैनो ने उसका प्रयोग अधिक मात्रा मे किया है और बौद्धो ने 'बुद्ध' का। इसी तरह बौद्धो मे 'शास्ता' अधिक प्रचलित हुआ और जैनो मे तीर्थङ्कर शब्द अधिक प्रचलित हुआ। बौद्धो व बुद्ध को तीर्थंकर क्वचित् ही कहा हो और जैनो ने भी 'बुद्ध' का प्रयोग अपने तीर्थंकरो के

---

२५ आचाराग ८-२००
२६ वही १६६
२७ वही १, १५३-१५६
२८ वही १-१२६
२९ 'पालि प्रोपर नेम्स' मे देखे 'अरहत' शब्द
३० आचाराग १, १२६
३१. वही, १३६
३२ वही १४६, २०७, १८७
३३ सत्थारमेव १८८

लिए क्वचित् ही किया हो। इस प्रकार वौद्धो ने 'वुद्ध' और जैनो ने 'तीर्थंकर' शब्द को बाद मे अपनाया है।

पालिपिटक मे भगवान् महावीर के लिए विशेपरूप से अन्य तीर्थकरो से पृथक् करके **'सव्वण्णू'** और **'सव्वदस्सावी'** विशेपण दिये हैं, किन्तु ये विशेपण भी आचाराग के इस अश मे भी देखे नही जाते अतएव यह कहा जा सकता है कि यह अश पालिपिटक से प्राचीन है।

'सव्वण्णू-सव्वस्सावी' शब्द का प्रयोग न होने पर भी भ० महावीर और उनके जैसे उपदेशको के लिए ये शब्द प्रयुक्त देखे जाते हैं—**'समिच्च लोयं खेयन्ने हि'** (१२६, ३२), **'सम्मत्तदसिणो'** (१३४), **'पन्नाणमते'** (१३६, १६०, १८८), **'पासगस्स'** (१४०), **'वेयवी'** (१३६), **'कुसलस्सदसण'** (१६६), **'वुद्धे हि'** (१७७, २०४), **'मेहावी'** (१६१), **'मइमया'** (२००, २०६), **'अहिन्नाणदसणे** (६, १, ११), **'नाणी'** (६, १, १६), **'आसुपन्नेण जाणया पासया'** (२००), **'आययचक्खू' लोगविपस्सी'** (६३), **'परमचक्खू'** (१५०), **'अइविज्ज' 'सम्मत्तदसी'** (३, २, १), **'नाणव' 'वेयव' 'पन्नाणेहि' 'परिजाणइ लोग'** (१०७), **'सव्वसमन्नागय पन्नाण'** (१५५), **'अभिन्नायदसणे'** (६, १, ११), **'अणेलिसन्नाणी'** (६, १, १६), **'तहागया'** (३, ३, २)। इनमे से कुछ सर्वज्ञ या समदर्शी के प्रतिपादक हो सकते हैं, किन्तु स्पष्टरूप से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी शब्द प्रयुक्त नही है—यह ध्यान देने योग्य है।

सूत्रकृताग—प्रथम श्रुतस्कन्ध मे

आचाराग मे भगवान् महावीर के लिए 'वीर' 'महावीर' प्रयुक्त हुआ है, किन्तु विशेषण के रूप मे। सूत्रकृताग मे वे नाम वन गए है—**'नायपुत्ते महावीरे'**—(१, १, १, २७) **'एवमाहु से वीरे'** (१, १४, २, २२), **'एवमुदाहु निग्गन्थे महावीरे महामुणि'** (१, ६, २४), **'उदाहु वीरे'** (१, १४, ११) **'मुनि'** तो आचाराग मे कहे ही गए हैं किन्तु अव वे **'महामुणि'** वन गए हैं। (१, ६, २४।१,२,२, १५। १, २, १, १४) **'नायपुत्ते'** के अलावा वे अव **'कासव'**—काश्यप नाम से भी प्रसिद्ध हो गए हैं। यह उनका गोत्र था। जिस प्रकार भगवान वुद्ध अपने गौतम गोत्र से प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार भगवान महावीर भी काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुए—**'धम्म पादुरकासी कासव'** (१, २, २, ७) **'कासवस्स अणुधम्मचारिणो'** (१, २, २, २५। १, २, ३, २०, **'कासवेण पवेइय'** (१,३,३,२०। १, ४, २१। १,३, ११, ५, ३२। १, १५, २१) **'कासवे आसुपन्ने'** (१, ५, १२, १, ६, ७)। **'नाय' 'नायपुत्त'** उल्लेख भी यहाँ देखा जाता है—**'नायपुत्ते महावीरे'** (१, १. १,२७ , १, २, ३, २२), **'नाएण'** (१, २, ३, ३१) **'नायसुय'** (१, ६, २), **'समणनायपुत्त'** १, ६, १४, २३), नायपुत्त (१, ६, २१, २४)। इसके अलावा उन्हे यहा **'वेसालिए'**—वैशालिक (१, २, ३, २२) भी कहा है।

'जिन' और अरहा' जो कहा है वह तो पूर्व परम्परा से है—१, २, ०, १६। १, २, ३, २२। १, ६, २६। १, ६, २६) यही वात 'भगवान्' के विपय मे भी कही जा सकती है—(१, २, ३, २२, १, १६, १। १, २, ३, १४)।

यहाँ एक विशेपता देखने को मिलती है वह है ये प्रयोग—**'भगवाणुसासण'** (१, २, ३, १४), **'जिणसासणपरमुहा'** (१, ३, ४, ६), **'जिणाण धम्म'** (, ६, ७) निर्वाणवादिओ मे श्रेष्ठ **नायपुत्त** (१, ६, २१), **'ऋषियो मे श्रेष्ठ'** (१, ६, २२), **'जिणवयण'** (१, १४ १३), **'जिणाहिय'** (१, ६, ६)। इनसे सूचित होता है कि भगवान महावीर का धर्म, वह जिनो का धर्म या शासन है और उनकी ही तरह

अन्य भी वैसे धर्म के प्रवर्तक है यह भी सूचित किया गया है—**वीरेहि सम्मं पवेइयं** (१, २, १, ११), '**आह जिणे इणमेव सेसगा**' (१, २, ३ १९), '**जिणाण त**' (१, ६, १)। आगे चलकर उनका धर्म जो जैनधर्म के रूप मे प्रसिद्ध हुआ, उसका मूल इन प्रयोगो से मालूम हो सकता है। यहाँ केवल बुद्ध के लिए नही, किन्तु यथार्थ ज्ञान के किए प्रयुक्त दीखते हैं —'बुद्ध' और 'तथागत' शब्द—(१, ११, २५, १, ११, ३६, १, १२, १६, १, १२, १८, १, १५, १८, १, १३, २, १, १५, २०)। किन्तु ये शब्द जब भगवान बुद्ध के लिए विशेष रूप मे प्रयुक्त हुए तब उनका प्रयोग जैनो मे क्रमश लुप्त होता गया।

भगवान पार्श्व के लिए अन्यत्र प्रयुक्त '**पुरुसादाणिय**' शब्द भी यहाँ देखने को मिलता है—(१, ६, ३४)।

यहाँ भी भगवान महावीर के लिए '**सव्वण्णू**' शब्द का प्रयोग हुआ नही है किन्तु '**न नायपुत्ता परमत्थि नाणी**' १, ६, २४, '**अणन्तचक्खू**'—१, ६, ६, २५, **सव्वदसी अभिभूयनाणी**'—१, ६, ५, '**दसणनाणसीलो**' १, ६, १४, '**अणतनाणदसी**' १, ६, २४, '**एव से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तर-नाणदसणधरे।**'—१, २, ३, २२,[1] '**आसुपन्ने** ', ५, १२, १, ६, ७, '**खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अणतनाणी अणतदसी**' —१, ६, ३, '**तिलोगदसी**' १, १४, १६, '**जगसव्वदंसिणा**' १, २, ३, ३१।

इनके अलावा जैनपरिभाषा मे जिसे श्रेष्ठ ज्ञान समझा गया है उस केवलज्ञान का सूचन यहाँ मिलता है—'**पुच्छिस्सह, केवलिय महेसी**'—१, ५, १, १, '**एव केवलिणो मय**'-१, ११, ३८, '**केवलिय समाहिं**'—१, १४, १५।

कर्म विचारणा के फलस्वरूप '**दसणावरणतए**'—(१, १५, १) महावीर को कहा गया, किन्तु ज्ञानावरण के अन्त की बात नही की—यह भी ध्यान देने योग्य है। दर्शनावरण का अन्त करके भगवान महावीर त्रिकालज्ञानी हुए—यह कहा है।

इनके अलावा पूर्व परम्परा का अनुसरण कर के '**निग्गन्थ**' (१ ६, २४), '**माहण**' (१, ११, १। १, ६ १), '**महेसी**' (१, ६, २६), '**परममहेसी**' (१, ६, १७), '**मुणि**' (१, ६, ७), '**पभू**' (१, ६, २८) '**समण**' (१, ६, १४, २३) ऐसे सामान्य विशेषणो का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इसमे भी '**तीर्थंकर**' पद दिखाई नही देता यह ध्यान मे रखने योग्य है।

सूत्रकृताग के १६ वे अध्ययन मे ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु, और निर्ग्रन्थ की जो व्याख्याएँ दी गई है वे एक दूसरो को अत्यन्त निकट ला देती है। इससे यह प्रकट होता है कि गुणीजनो के लिए इन शब्दो का प्रयोग सर्वसामान्य रूप से किया जा सकता है।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध .

आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे भगवान महावीर की साधक पूर्व अवस्था का जो वर्णन किया गया है (२,१७५ से) वह प्रथम श्रुत स्कन्ध मे देखा नही जाता। इस कमी की पूर्ति इसमे की गई है, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। यहा वे '**श्रमण भगवान महावीर**' इस नाम से विशेष प्रसिद्ध हुए

---

१ तुलना करिए —
एव से उदाहु अणुत्तर नाणी, अणुत्तर दसी अणुत्तर नाणदसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगव वेसालिए वियाहिए। —**उत्तराध्ययन ६।१८**

देखे जाते हैं। (२ १७५) उनके माता-पिता का दिया हुआ उनका नाम कुमार वर्द्धमान था, यह भी यहाँ स्पष्ट होता है (२ १७६) किन्तु देवो ने उनको 'महावीर' नाम दिया—यह परपरा भी इसमे देखी जाती है (२ १७७)। उनके नाम का पूरा वर्णन है—**'समणे भगव महावीरे नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले'** (२ १७९) इसके अलावा पूर्व परपरा से आने वाले **जिण** (२ १७९) **'जिणवर वीर'** (२ १७९) आदि भी दिखाई देते हैं। किन्तु विशेष बात तो यह है कि उनके विषय मे **'तित्थराभिसेय** (२ १७६) तथा देवो द्वारा **'तित्थ पवत्तेहि'** ऐसी प्रार्थना का भी उल्लेख है। यहाँ भगवान बुद्ध को भी ब्रह्मा ने उपदेश देने की प्रार्थना की थी यह तुलनीय है। यह उनके जीवन मे पौराणिकता लाने का प्रयत्न प्रारभ हुआ, इस बात की सूचना देते है। यहाँ उन्हे प्रथम बार ही 'तित्थयर' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। (२ १७९) इतना ही नही, किन्तु प्रथम बार ही, यहाँ उन्हे—**से भगव अरहा जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदस्सी** (२ १७९) इसमे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा गया है। ये विशेपण उनके लिए पालिपिटक मे मिलते है।

इसमे **'केवलीपन्नत धम्म'** (२ १७९) और पुन पुन **'केवली बूया'** जैसे प्रयोग मिलते है। (२ १३,१७,२६,३६,३७,११५,११६,१४६,१५२,१७९) जिससे सूचित होता है कि उनके उपदेश की विशेषता केवलज्ञान के कारण थी।

सूत्रकृताग द्वितीय श्रुतस्कन्ध

आचाराग निर्युक्ति मे स्पष्ट किया गया है कि आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध वाद मे स्थविरो ने जोडा है,[1] किन्तु सूत्रकृताग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विपय मे ऐसी कोई सूचना नही मिलती। फिर भी वह भी वाद मे जोडा गया है उसके लिए अन्य प्रमाण तो है ही। किन्तु भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त विशेपण भी इस बात का प्रमाण हैं कि वह वाद का है। इसमे गणिपिटक (२ १ ११) का उल्लेख है आचाराग द्वितीय मे **धम्मतित्थ, तित्थ,तित्थयर** हैं तो यहाँ **धम्मतित्थ** (२ १ ८) और **'तित्थायण'** (२ ७.११) हैं। विशेप बात यह है कि यहा **'चोयए पन्नवग एव वयासी'** (२ ३ २) तथा **'आचार्य आह'** (२ ४ २,४) जैसे प्रयोग भी है।

परपरा से चले आनेवाले भगवान महावीर के लिए प्रयुक्त **'समण'** (२ ६ १) **'माहण'** (२ ६.८) **समणे नायपुत्ते** (२ ६ १९), **नायपुत्त** (२ ६ ४०) देखे जाते हैं। और **बुद्ध** (२ ६.४२) **'मुणि'** (२ ६ ४२) जैसे विशेपण भी परपरानुसारी है। भगवान महावीर के शिष्य गौतम के लिए भी **'भगव'** (२ ७ ४) का प्रयोग है।

भगवान के ज्ञान को **'केवल'** (२ ६ ४९) कहा है और **'केवलेण पुण्णेण नाणेण'** (२ ६ ५०) कह कर उस ज्ञान की विशेषता का भी निर्देश दिया गया है। **'समणे भगव महावीरे'** (२ ७ १४) भी आचाराग की तरह मिलता है और भगवान के धर्म को **निग्गन्थधम्म** (२ ६ ४२) और **'निग्गन्थपावयण'** (२ २ २३।२ ७ २) कहा गया है। आचाराग की ही नरह इसमे भी तीनो काल के अरहतो का निर्देश है—(२ २ ४)।

---

१ आचाराग द्वि० श्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, गाथा ६

३३

अन्य अगग्रन्थो मे तथा अन्यत्र

आचाराग और सूत्रकृताग के वाद के सभी आगमग्रन्थो मे 'श्रमण भगवान् महावीर'—यह प्रकार सर्वसामान्य हो गया है। किन्तु यहाँ जो उनका वर्णक स्थिर हुआ है उसका उल्लेख जरूरी है—

"समणे भगव महावीरे[1] आइगरे तित्थगरे सहसबुद्धे पुरिसुत्तमे[2] पुरिससीहे पुरिसवरपुण्डरीए, पुरिसवर गन्धहत्थीए,[3] लोगुत्तमे लोगनाहे लोगप्पदीवे लोगपज्जोयकरे अभयदए चक्खुदए मग्गदए सरणदए[4] धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरत चक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाणदसणधरे वियट्टछउमे जिणे जावए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी, सिवमयलमरुयमणतमक्खयमव्वावाह मपुणरावत्तिय सिद्धिगइनामधेय ठाण सपाविउकामे'।[5]

इसमे भी 'श्रमण भगवान् महावीर' तो है ही। उपरात वैदिको मे ऋग्वेद के पुरुपसूक्त से लेकर **'पुरुष'** को जो महत्त्व मिला है उसे भी स्वीकृत करके भगवान महावीर को 'पुरुषोत्तम' आदि कहा गया है। तदुपरात पुराणप्रसिद्ध **'विष्णु'** आदि के नामो का भी स्वीकार किया गया है। विष्णु के लिए वैदिको ने 'पुरुषोत्तम' नाम दिया ही है। **'पुरुषपुण्डरीक'** भी वैदिको द्वारा प्रयुक्त शव्द है। **'पुरुषवर'** यह विष्णु का नाम महाभारत मे प्रयुक्त है। **'गन्धहस्ति'** शव्द बलवान् गज के अर्थ मे है और **'गन्धगज'** शब्द का प्रयोग चरक मे हुआ है। **लोकनाथ** आदि भी विष्णु के लिए महाभारत मे प्रयुक्त है। **'लोकप्रदीप'** विशेषण वुद्ध के लिए वुद्धचरित मे प्रयुक्त देखा जा सकता है।

उक्त वर्णक के साथ भगवान बुद्ध का पालिपिटकगत वर्णक तुलनीय है—

'सो भगवा अरह सम्मासबुद्धो विज्जाचरणसंपन्नो सुगतो लोकविदु अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सान बुद्धो भगवा।[6]

इसकी विस्तृत व्याख्या विसुद्धिमग्ग मे की गई हैं (पृ० १३३) इसमे भगवान बुद्ध को **सम्मासबुद्ध** कहा है तो भगवान महावीर को **सहसबुद्ध अनुत्तरो** मे पुरुपोत्तम का भाव है। **'धम्मसारही'** के स्थान मे भगवान बुद्ध को **'पुरिसदम्मसारथि'** कहा है। इसमे अर्थभेद है। **'सत्था'** कहा जाय या **'धम्मदेसए'** कहा जाय अर्थभेद नही, है। **'विज्जाचरणसंपन्न'** और **'लोकविदु'** द्वारा जो कहा गया है वही महावीर के लिए **'अप्पडिहयनाणदसणधर'** और **'वियट्टछउम'** द्वारा अभिप्रेत है। दोनो मे 'वुद्ध' शव्द समान रूप मे है यह भी ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के वर्णक के वाद का भगवान महावीर का यह वर्णक है।

●●

---

१ महाव्युत्पत्ति मे भगवान वुद्ध को 'वीर' कहा गया है।
२ महाव्यु० मे वुद्ध को—'नरोत्तम' और 'शाक्यसिंह' कहा है।
३ महाव्यु० मे वोधिसत्वो के नामो मे एक 'गन्धहस्ति' ऐसा नाम है।
४ महाव्यु० मे शरण्य और शरण है।
५ भगवती सूत्र, शतक ५
६ अगुत्तरनिकाय ३ २८५

एक गंभीर प्रश्न सरल उत्तर

युवा पीढी को धर्म और परम्परा के प्रति आस्थावान् कैसे बनाये ?

—डा० नरेन्द्र भानावत एम ए पी-एच डी
(प्राध्यापक हिन्दी विभाग, रा० वि० विद्यालय, जयपुर)

धर्म का शक्ति के रूप मे सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। धर्म के नाम पर बडे बडे लोकोपकारी कार्य हुए हैं और धर्म के नाम पर लोग जिन्दे भी जला दिये गये हैं। जब धर्म अपने प्रकृतरूप मे होता है तब वह शक्ति, तेज, स्फुरण और अमृत बनकर प्रकट होता है लेकिन जब उसका रूप विकृत हो जाता है तब वह सघर्ष, विद्वेष, कमजोरी और विनाश का कारण बन जाता है। आज धर्म अपनी तेजस्विता को नही निखार पा रहा है। इसका सबसे बडा कारण मेरी दृष्टि मे युवा-पीढी का उस पर आस्थाभाव न रहना है। वह मुख्यत बुजुर्ग लोगो का विश्वास बनकर रह गया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म युवा पीढी का विश्वास और सम्बल बने, खून और पसीना बने। यह सब कैसे हो, यही विचारणीय प्रश्न है ?

कुछ लोग, कहते हैं—आज का युवा-वर्ग उद्दण्ड बन गया है उच्छृखल बन गया है, अनास्थावादी बन गया है, धर्मद्रोही बन गया है, पर मुझे यह सब साधार नही लगता। आज का युवा वर्ग स्वतन्त्र भारत मे जन्मा है। उसने विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति का अहसास किया है, उसने धर्म को धर्मनिरपेक्ष राज्य के सदर्भ मे देखा-परखा है। उसका वास्ता श्रद्धा की अपेक्षा तर्क से, भाव की अपेक्षा ज्ञान से और धर्म की अपेक्षा विज्ञान से अधिक पडा है। ऐसी परिस्थितियो मे धर्म के पारम्परिक रूप के प्रति उसका आकर्षित न होना स्वाभाविक है।

मुझे बुजुर्ग और परम्परावादी लोग क्षमा करें यदि मैं यह कहू कि युवा-पीढी को धर्म के प्रति अनास्थावादी बनाने मे वे भी कुछ जिम्मेदार रहे हैं। इस स्थिति के मेरी दृष्टि मे निम्न मुख्य कारण हो सकते हैं—

१ धर्म को अब तक हम अतीत से जोडे हुए हैं और युवावर्ग को ऐसा अहसास नही करा पाये हैं कि धर्म का सम्बन्ध जीवन के वर्तमान क्षणो से भी है। जब भी हम युवा-वर्ग को धर्म और धार्मिक वातावरण के सम्पर्क मे लाना चाहते हैं तब हमारी भाषा और हमारे उपकरण उनकी भाषा और उनके उपकरण नही बन पाते। आज के युवावर्ग की मुख्य भाषा है—हिन्दी और अग्रेजी, लेकिन हम सर्वप्रथम उनसे धर्म का साक्षात्कार कराते है ऐसी भाषा से जो उनको मृत यानी सुदूर अतीत की

लगती है। भापा की इस दूरी के कारण वे धर्म को भी मृत या कि सुदूर अतीत की वस्तु समझ बैठने की भूलकर बैठते है। इसाई लोग जिस क्षेत्र मे अपने धर्म का प्रचार करना चाहते हैं, सर्वप्रथम वे उस क्षेत्र के निवासियो की भापा सीखते है और वहा की सस्कृति का अध्ययन करते हैं। वे उस क्षेत्र की भापा मे ही ईसाई धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते है। इस मनोवैज्ञानिक पकड के कारण ईसाई लोग पराये होकर भी अपने बन जाते है। जबकि हम लोग अपने होकर भी पराये बने हुए है। युवापीढी को धर्म के प्रति आस्थावान बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी भापा मे उनसे बात करे।

२ धर्म मानव मात्र ही नही, प्राणिमात्र के कल्याण के लिए है, ऐसा उदाहरण हम युवावर्ग के समक्ष प्रस्तुत करने मे असमर्थ रह रहे है। धर्म के जितने भी पथ या सम्प्रदाय हैं और उनकी आचार-विचार-मूलक प्रक्रियाएँ हैं, वे सब पूँजीवाद से प्रभावित है। आज की युवा-पीढी मे यह बात जम-सी गई है कि धर्म पूँजीवादी वर्ग द्वारा सम्पन्न होनेवाली कोई विशेप प्रकार की क्रिया है और 'आम आदमी' उसे सम्पन्न नही कर सकता। जब तक धर्म के साथ प्रदर्शन, दिखावा, प्रभुता और पैसा जुडा रहेगा तब तक युवावर्ग—चेतनाशील युवावर्ग—इस ओर आकर्षित नही होगा, उसकी आस्था इसमे नही होगी। वह इसे विशेप वर्ग का, विशेप नशा समझता रहेगा।

यहाँ मैं इस बात पर विशेप बल देना चाहूगा कि आज की युवापीढी को आस्थावान बनाने के सर्वाधिक तत्त्व जैनधर्म मे है। इनमे सबसे प्रमुख तत्त्व है समाजवादी दर्शन का तत्त्व जिसे 'परिग्रह परिमाण व्रत' कहा गया है। यदि हम इस तत्त्व को सही परिप्रेक्ष्य मे, जीवन मे उतारते हुए युवा-युवतियो के समक्ष रख सके तो वे इधर सहज आकर्पित हो सकते हैं।

३ 'धर्म सबका है व सबके लिए है'—आज की पीढी को हम ऐसा अहसास नही करा पा रहे हैं। आज का युवा अपने नियमित अध्ययन-क्रम से सर्वधर्मसमभाव और विश्व-एकता की बात पढता है। पर जब वह अपने कुल क्रमागत धर्म के सम्पर्क मे आता है तो उसे व्यवहार-रूप मे वहाँ बडी सकीर्णता और साम्प्रदायिकता नजर आती है। छोटी-छोटी बातो पर बडे-बडे लोगो को जब वह परस्पर लडते-झगडते देखता है तो उसे प्रचलित धर्म और धार्मिक वातावरण से चिढ-सी हो जाती है। उसे उसका दायरा सकीर्ण और विचार कूपमडूक से लगते हैं। सिद्धान्त और आचरण का प्रत्यक्ष विरोध तथा कथनी और करनी का अन्तर, युवा मन मे वितृष्णा पैदा कर देता है। एक ओर डाकुओ को आत्मसमर्पण करते हुए देखता है तो उसके मन मे अहिंसा और आत्मबल के प्रति विश्वास जगता है, निस्पृही, त्यागी, वैरागी आदर्श सतो की जीवन-चर्या के सम्पर्क मे आकर जब उसे ज्ञान होता है कि ये पूर्ण अपरिग्रही हैं, पैसे के नाम पर कौडी तक नही रखते, नगे पाव पैदल चलते हैं, इनका अपना कोई नियत स्थान या आश्रम नही होता, प्रतिदिन मधुकरीवृत्ति से जीवन-यापन करते हैं, कल के लिए कुछ भी सचय करके नही रखते, किसी के प्रति इनका राग-द्वेप नही होता तो तप, त्याग, सयम जैसे जीवन-मूल्यो के प्रति उसकी आस्था टिकती हैं। पर जब उसे यह ज्ञात होता है कि इनके अनुयायियो मे वह सहिष्णुता नही है, वह उदारता नही है, वह सयम नही है, तब उसे यह सब प्रक्रिया 'भार' और 'प्रदर्शन' लगने लगती है। उसका विश्वास डिग जाता है और आस्था अनास्था मे बदल जाती है।

हमे युवा-पीढी को इस बात का विश्वास दिलाना होगा कि धर्म के साथ जुडा हुआ सकीर्णता का भाव उसकी कमजोरी है। हम सबको मिलकर उसे दूर करना है। जब भी युवावर्ग सम्पर्क मे आये,

उसे ऐसा न लगे कि किन्ही पराये के बीच आ गया है। धर्मस्थानो के साथ जुडे हुए इस 'अजनबीपन' को हमे दूर करना होगा।

४ धर्म के दो पक्ष हैं—आत्म-सुधार और समाज-सुधार। आज उसके दोनो पक्ष निस्तेज हो रहे है। अपने इर्द-गिर्द जब युवावर्ग देखता है कि आत्मसुधार की भावना से धर्म करनेवाले तथा कथित वडे-वूढो ने धर्म को मिनटो और घटो मे वाँट लिया है। वह कुछ समय के लिए करने की वस्तु मात्र बन कर रह गया है। जीवन-व्यवहार के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही लगता। इस द्वैत-स्थिति ने युवापीढी को धर्म के प्रति उदासीन ही नही विद्रोही भी वना दिया है। वे यह नही देखना चाहते, कि धर्म 'क्लास रूम लेक्चर' एटेन्ड करने जैसा 'प्रोसेस' बनकर रह जाय। धर्म की महक धर्म करनेवाले की प्रत्येक क्रिया से फूटनी चाहिए। ऐसा न हो कि प्रात काल और सध्याकाल तो वह किरण की तरह प्रकाश दे और दिनभर स्वय ही अधकार मे न भटके बल्कि दूसरो को भी अधेरे मे ढकेलने का काम करता रहे। ऐसे 'सफेदपोश' धर्मात्माओ को देख कर युवावर्ग का धर्म के प्रति आस्थाभाव जाता रहता है।

युवा-पीढी को धर्म के प्रति आस्थावान वनाने के लिऐ हमे धर्म की शक्ति का उपयोग सामाजिक कुरीतियो को दूर करने के लिए करना होगा। दहेज, फैशनपरस्त, मादक पदार्थों का सेवन जैसी कुप्रथाएँ आज युवा-युवतियो मे तेजी से वढती जा रही है। इनको रोकने या मिटाने मे यदि धर्म शक्तिशाली घटक वन कर आता है तो युवापीढी इस ओर प्रवृत्त हो सकती है।

धार्मिक द्वैध

मदिर स्थानक, मस्जिद, गिर्जाघर और गुरुद्वारे मे जाकर जो परमधार्मिक, भक्तराज, फरिश्ते और वैरागी का रूप धारण करते हैं, वे ही घर, आफिस, समाज एव राजनैतिक मच पर आकर यमराज, रावण और शैतान का आचरण करने लगते हैं। फिर कैसे मानें कि धर्म उनके जीवन मे उतरा है ?

जीवन मे उतरा हुआ धर्म सदा, सब स्थानो मे एकरूप रहता है। सच्चा धार्मिक घटा भर की सामायिक या पूजा नहीं करता, किंतु उसका सपूर्ण जीवन ही सामायिक और पूजा भक्ति से ओत-प्रोत रहता है।

—मधुकर मुनि

श्रमण परम्परा : एक तथ्यात्मक अध्ययन

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

भारतीय-संस्कृति में साधना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन साहित्य के पृष्ठ साधना के उज्ज्वल-समुज्ज्वल आलोक से जगमगा रहे हैं। भारतीय-संस्कृति की तीनों धाराओं में—जैन, बौद्ध और वैदिक, उसके आदर्श को एक स्वर से स्वीकार किया गया है। जैन-परंपरा में अणगार-धर्म, निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या, श्रमण-साधना का, बौद्ध-परंपरा में उपसंपदा का और वैदिक-परंपरा में संन्यास-धर्म का उल्लेख मिलता है। भारत के सभी धर्मों ने अपने साध्य-मोक्ष को प्राप्त करने के लिए साधना-पथ को अनिवार्य माना है। जैन-परंपरा में साधना पर अधिक भार दिया गया है। उसे जीवन का प्राण कहा है। और यहाँ तक कहा गया है कि जब तक सम्यक्-ज्ञान की ज्योति के साथ सम्यक्-साधना की गतिशीलता नहीं होगी, तब तक साधक अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। ज्ञान के साथ साधना—क्रिया का समन्वय होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—ज्ञान और क्रिया का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है —

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्ग ।"

श्रमण-जीवन का इतिहास

श्रमण-जीवन का इतिहास बहुत उज्ज्वल रहा है। त्याग-विराग का इतना बडा आदर्श अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने पर हमें ज्ञात होता है कि श्रमण-जीवन त्याग और वैराग्य की भावना में ओत-प्रोत रहा है। उसके जीवन के कण-कण में त्याग की, तप की, स्वाध्याय की, ध्यान की सरिता बहती हुई परिलक्षित होती है।

श्रमण जीवन का इतिहास बहुत लम्बा है। इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से श्रमण परंपरा का प्रारम्भ होता है। वैदिक साहित्य में भगवान् ऋषभदेव की साधना का उल्लेख मिलता है। फिर भी आगम-साहित्य में श्रमण जीवन का जो उल्लेख मिलता है, वह तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चौवीसवें तीर्थंकर महावीर के युग का मिलता है। श्रमण भगवान् महावीर के युग में भगवान पार्श्वनाथ के श्रमण थे और उन्होंने अपने आप को भगवान महावीर के शासन में विलीन कर दिया था। इससे स्पष्ट होता है कि लगभग २८०० वर्ष से श्रमण-परंपरा की धारा अजस्ररूप से प्रवहमान रही है और आज भी प्रवहमान है।

श्रमण भगवान महावीर के युग मे धार्मिक क्षेत्र मे भी एक वर्ग विशेष का आधिपत्य (Monopoly) था। धर्म साधना मे शूद्र एव नारी को कोई स्थान नही था। भगवान महावीर धर्म-साधना के क्षेत्र मे भेद की इस रेखा को कथमपि उचित नही समझते थे। उन्होने एक जाति विशेष के द्वारा किए जानेवाले शोषण एव उत्पीडन का विरोध ही नही किया, प्रत्युत नारी एव शूद्र जाति को अपने श्रमण-सघ मे सम्मिलित करके जातिवाद की दीवार को ही गिरा दिया। भगवान महावीर ने यह उद्घोषणा की "प्रत्येक व्यक्ति साधना-पथ पर गतिशील होकर अपने जीवन का विकास कर सकता है।"

श्रमण जीवन की साधना को स्वोकार करनेवाले व्यक्ति सासारिक वैभव, भोग-विलास एव विपय-वासनाओ का परित्याग करके अपने त्याग-पथ पर गतिशील होते थे। इस श्रमण या निर्ग्रन्थ धर्म को पुरुप की तरह स्त्रिया भी स्वीकार करती रही है। पुरुष की तरह नारी के जीवन मे आध्यात्मिक विकास करने की पूर्ण शक्ति है। साधना के क्षेत्र मे जाति, पथ, मत, वर्ग एव लिंगभेद को, छूत-अछूत को कथमपि स्थान नही दिया गया है। जातिवाद के पुजारियो द्वारा अछूत माने जानेवाले अनेक व्यक्तियो ने एव अनेक नारियो ने निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार करके मुक्ति को प्राप्त किया। जैन वाङ्मय मे स्थान-स्थान पर उनके आदर्श जीवन का उल्लेख मिलता है।

सामान्य स्त्री-पुरुपो ने ही त्याग-पथ स्वीकार किया हो ऐसी वात नही है। उस युग के वडे-वडे उद्योगपतियो, सेठो, राजाओ, राजकुमारो एव महारानियो ने भोगो से मुख मोडकर त्याग-पथ पर कदम रखा। आगम साहित्य के पन्ने के पन्ने उनके उज्ज्वल आदर्शमय जीवन से भरे हुए है। उसमे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और हरिजन चारो वर्णों के द्वारा साधना की ज्योति से अपने जीवन को ज्योतिर्मय वनाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुरुप ने भी अपने जीवन का विकास किया और नारी जाति ने भी प्रगति के पथ पर कदम वढाया। वालक भी जागृत होकर आगे वढा और वृद्ध भी ससार के भोगो मे ही अन्त तक लिप्त नही रहा, वह भी जगा और आगे वढा।

श्रमणो के प्रकार :

आगमयुग मे साधना के क्षेत्र मे दो परपराओ का उल्लेख मिलता है—श्रमणपरपरा और ब्राह्मणपरपरा। वैदिक परपरा मे प्रचलित सभी तरह की साधना ब्राह्मण परपरा मे समाविष्ट हो जाती है। अन्य साधक श्रमण-परपरा के अन्तर्गत आते है। निशीथभाष्य एव आवश्यकचूर्णि मे पाँच प्रकार के श्रमणो का उल्लेख मिलता है—१ णिग्गथ—निर्ग्रन्थ (खमण), २ सक्क (रत्तपड) ३ तावस (वणवासी—जगलो मे रहने वाले तापस), ४ गेरुअ (परिव्वायअ – गेरुए रग के वस्त्र रखनेवाले परिव्राजक) और ५ आजीविय (पडराभिक्खु गोशालक के शिष्य)।[1] आवश्यकचूर्णि मे—आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चन्नीय (वौद्ध) और वोटिक ये पाँच भेद करके, इन पाँचो प्रकार के श्रमणो को वन्दन करने का निषेध किया है।[2] आवश्यकचूर्णि के रचयिता ने निर्ग्रन्थ को इन पाँच प्रकार के श्रमणो से अलग माना है। इस तरह उस युग मे पाँच या छह प्रकार की श्रमण-परपराएँ रही है, उनमे से कुछ ब्राह्मण परपरा मे विलीन हो चुकी है—तापस और परिव्राजक। कुछ विलुप्त हो चुकी है–आजीवक और वोटिक। इस समय निर्ग्रन्थ (जैन) और वौद्ध दो परपराओ के श्रमण ही परिलक्षित होते है।

---

१. (क) निशीथभाष्य, १३, ४४२०, (ख) आचारागचूर्णि २, १, । २ आवश्यकचूर्णि, २, पृष्ठ २०



वैराग्य के कारण

आगम-साहित्य मे ससार से एव विषय भोगो से विरक्त होने के अनेक कारणो का उल्लेख मिलता है। विषय-वासनाओ के कारण चार गति मे परिभ्रमण करने की व्यथा से व्यथित सामान्य स्त्री पुरुष ही नही ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठी वर्ग, विद्वान एव शक्तिसम्पन्न राजा-महाराजा भी भोग-विलास को छोडकर श्रमण-दीक्षा स्वीकार करने के लिए उत्सुक रहते थे। वे सासारिक सुख-साधनो एव भोगो को तुच्छ और सारहीन समझकर धन-वैभव एव परिजनो का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते थे। कुछ व्यक्ति वीतराग वाणी का श्रवण करके अपने स्वरूप को समझकर साधना की ज्योति जगाते और कुछ अन्य निमित्तो को पाकर जीवन को जगाते।

उस समय की राजनीति भी बडी विचित्र थी। सीमाओ पर रात-दिन सघर्ष चलता रहता था। राज परिवारो मे आन्तरिक सघर्ष भी कम नही था। इन सघर्षो मे ऊबकर भी राजा लोग श्रमण-धर्म को स्वीकार करते थे। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के ९९ पुत्रो को उनके ज्येष्ठ भ्राता भरत चक्रवर्ती ने अपने अनुशासन मे रहने का सदेश भेजा, तब ९८ भाइयो ने भगवान ऋषभदेव से अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए सम्मति मागी। तब भगवान ने उन्हे यह समझाया कि तुम राज्य के टुकडे के लिए क्यो लड रहे हो? मुक्ति के उस अक्षय राज्य को प्राप्त करो, जिसे छीनने की ताकत किसी भी चक्रवर्ती मे नही है। और भगवान के उपदेश से उन्होने राज्य मोह का परित्याग करके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

परन्तु भरत के एक भाई बाहुबली ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखने के लिए भरत के साथ युद्ध की तैयारी की। दोनो भाइयो म द्वन्द्व युद्ध हुआ। दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, भुजा झुकाने के युद्ध, दण्डप्रहार युद्ध—इन चार युद्धो मे भरत हार गया। पाँचवे मुष्टियुद्ध मे आवेश के वश युद्धनीति को त्याग कर भरत ने अपने छोटे भाई पर चक्र-रत्न का प्रहार किया। परन्तु उसका यह प्रयोग भी सर्वथा असफल रहा। पर इससे बाहुबली का आवेश भडक उठा। उसने क्रोध की आग मे जलते हुए भरत को मुष्टि प्रहार से समाप्त करने के लिए मुट्ठी उठाई। उसी समय उसका विवेक जागृत हो गया। कलुषित राजनीति के कारण ज्येष्ठ भाई का अनिष्ट होते देखकर उसके मन मे विराग की धारा बहने लगी और युद्धभूमि मे ही अपनी उठी हुई मुष्टि से केश लुँचन करके श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। इस तरह के और भी उदाहरण आगमो एव आगमोत्तर साहित्य मे भरे पडे हैं, जिनमे राजनीतिक विषमता के कारण अनेक राजा-महाराजाओ के दीक्षा लेने का वर्णन मिलता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अष्टम अध्ययन के प्रारभ मे यह प्रश्न किया गया—"अध्रुव, अशाश्वत और दु ख-वेदनाओ से सकुल-परिपूर्ण इस ससार मे मैं ऐसा कौनसा कर्म करूँ, किस मार्ग पर चलूँ, जिससे दुर्गति के महागर्त मे गिरने से बच सकूँ?"

इसी अध्ययन की दूसरी गाथा मे दु खो से उत्पीडित व्यक्ति के मन का समाधान करते हुए कहा है— 'पूर्व परिचित सयोग का परित्याग करके जो व्यक्ति किसी पदार्थ मे आसक्त नही होता, किसी के प्रति ममत्व बुद्धि नही रखता, स्नेहीजनो के प्रति स्नेह—ममताभाव नही रखता, वह भिक्षु, वह श्रमण समस्त दोषो—प्रदोषो से मुक्त-उन्मुक्त होता है।"

स्थानागसूत्र के दशवेस्थान मे वैराग्यप्राप्ति के दश कारण बताए हैं—१ अपनी अन्तरग प्रेरणा से प्रेरित होकर सयम स्वीकार करना (गोविन्दवाचक की तरह) २ रोष के वश श्रमण बनना (शिवभूति की तरह), ३ दरिद्रता से परेशान होकर साधु बनना (लकडहारे की तरह), ४ स्वप्न देखकर वैराग्य प्राप्त करना (पुष्पचूला की तरह) ५ किसी प्रतिज्ञा के पूर्ण होने पर दीक्षा लेना (धन्यक की तरह), ६ पूर्वजन्म की स्मृति जागृत होने से मुनि बनना (प्रतिबुद्ध आदि राजाओ की तरह), ७ रोग के कारण प्रव्रज्या लेना (सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह), ८ जन-जन से अपमान मिलने के कारण भिक्षु बनना (नदिपेण की तरह), ९ देवो के द्वारा प्रतिबोध मिलने पर साधना के पथ पर गतिशील होना। (श्वेतार्य की तरह) और १० पुत्र-स्नेह के वश दीक्षित होना (वज्रस्वामी की तरह)। इसके अतिरिक्त स्थानाग स्थान ३ और ४ मे अन्य प्रवज्याओ का उल्लेख मिलता है। तीसरे स्थान मे **तोदयित्वा**—प्रव्रज्या मे व्यथा या बाधा उपस्थित करके दी जाने वाली, **प्लावयित्वा**—अन्यत्र ले जाकर दी जाने वाली दीक्षा और **बुयावइत्ता** (सभाष्य)—सभापणपूर्वक दी जानेवाली दीक्षा तथा चतुर्थ स्थान मे—**नटखादिता, भटखादिता, सिंहखादिता और श्रृगालखादिता** नामक दीक्षाओ का भी उल्लेख मिलता है।

जैन वाङ्मय मे ऐसे अनेक व्यक्तियो के जीवन का उल्लेख मिलता है, जिन्होने अपने जीवन मे थोडी-सी प्रेरणा पाकर साधना के पथ को स्वीकार किया। आवश्यकचूर्णी और उत्तराध्ययन सूत्र की टीका मे उज्जैन के महाराज देविलासत एक दिन राजमहलो मे बैठे हुए मनोविनोद कर रहे थे। महारानी की नजर उनके बालो पर पडी और काले-कजरारे बालो के मध्य मे एक सफेद बाल को देखकर महारानी ने कहा—महाराज धर्मदूत आ गया है। राजा ने तुरन्त बाल को तोडकर अपनी अगुली मे लपेट लिया और उसे एक सुवर्ण थाल मे क्षौमयुगल मे रखकर पूरे नगर मे घुमाया। उसके पश्चात् महाराज ने महारानी के साथ दीक्षा स्वीकार की।[१]

चक्रवर्ती सम्राट भरत आरीसाभवन मे बैठे अपने शरीर को अलकारो से विभूपित कर रहे थे, तब उनकी अगुली मे से मुद्रिका नीचे गिर पडी। मुद्रिका-शून्य अगुली को देखकर उनकी विचारधारा शरीर की नश्वरता के चिन्तन मे लग गई। और आत्मचिंतन मे तेजस्विता आते ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।[२]

कापिल्यपुर के महाराज दुर्मुख ने बहुत धूम-धाम से इन्द्रमहोत्सव मनाया, इन्द्रध्वज की पूजा की। सात दिन के बाद जब ध्वज को गिरा दिया तो उसमे से दुर्गन्ध निकलने लगी। इससे दुर्मुख के मन मे वैराग्य भावना जागृत हुई और उसने दीक्षा स्वीकार की।[३]

बावीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जब राजमती से विवाह करने के लिए बारात लेकर मथुरा मे उग्रसेन महाराज के घर पहुचे, तब बारात मे आए हुए अतिथियो के भोजन के लिए बाडे मे बन्द किए हुए पशुओ की करुणा भरी चीत्कार को सुना, तो उनका हृदय दया से द्रवित हो गया। उन्होंने सारथी को सकेत करके पशुओ को बन्धन मुक्त कर दिया और स्वय बिना विवाह किए ही लौट गए। और साधना के पथ पर अग्रसर हो गए।[४]

---

१ आवश्यक चूर्णी २। २ उत्तराध्ययनटीका, १८। ३ वही, अ० ९।
४ उत्तराध्ययन सूत्र २२।

इस प्रकार जैन वाङ्मय मे मन मे वैराग्य की भावना के उद्‌बुद्ध होने के अनेक कारण दिए हैं। अनेक व्यक्तियो को कुछ वस्तुओ को देखकर भी वैराग्य प्राप्त हुआ है।

प्रव्रज्या का निषेध .

जैन वाङ्मय का अनुशीलन परिशीलन करनेवाला व्यक्ति भली-भाँति जानता है कि दीक्षा का द्वार सबके लिए खुला था। व्यवहारभाष्य भाग ४ मे गणिका—वेश्या द्वारा दीक्षा स्वीकार करके जीवन की धारा को बदलने का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-साहित्य मे आम्रपाली—जो गणिका थी, ने तथागत बुद्ध के समीप दीक्षा ली थी। ऐसे अनेको उदाहरण जैन परपरा मे भी उपलब्ध है। फिर भी दीक्षा के नियमो मे कुछ ऐसे व्यक्तियो के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करने का निषेध भी किया गया है, जो साधना-पथ पर चलने मे सक्षम नही माने गए हैं। स्थानागसूत्र और निशीथभाष्य मे नपुसक, वात-रोगी, बाल, वृद्ध, जड़-मूढ़, व्याधिग्रस्त (बीमार), स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शन (अन्धा) दास, दुष्ट, ऋणपीडित, जात्यगहीन, शैक्षनिष्फेटित (अपहृत किया हुआ), गर्भवती और बालवत्सा (जिस स्त्री का बालक छोटा हो) ऐसे व्यक्तियो को दीक्षा देने का निषेध किया गया है।[१]

बाल-दीक्षा

आगमो मे बाल-दीक्षा का उल्लेख मिलता है। आठ वर्ष के बालक को दीक्षा देने की परपरा आगम युग से रही है—भले ही वह एक-दो व्यक्तियो तक ही सीमित रही हो। भगवती सूत्र श० ५, उ० ३ की टीका मे—**"छव्वरिसो पव्वइयो"**—६ वर्ष के बालक को दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है। परन्तु सामान्य तौर पर आठ वर्ष से कम उम्र के बालक-बालिका को दीक्षा देने का निषेध है।

आगम एव आगमोत्तर साहित्य मे बाल-दीक्षा का निषेध नही है। परन्तु बाल-दीक्षा देते समय बहुत विवेक रखा जाता था। भाष्य युग मे बाल-दीक्षा के सम्बन्ध मे ऊहापोह भी होने लगा था। लोगो के सामने बाल-दीक्षा चर्चा का विषय बन गया था। निशीथ-भाष्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी बाल-दीक्षा की आलोचना होने लगी थी। भाष्यकार ने बाल-दीक्षा के दोषो का उल्लेख करते हुए लिखा है[२]—

१ छोटे-से बालक को श्रमणो के साथ विचरण करते देख कर लोग उपहास एव मजाक करते हैं—यह इनके ब्रह्मचर्य व्रत का प्रत्यक्ष फल परिलक्षित होता है, यह इनकी सन्तान है।

२ लोहगोलक को अग्नि मे छोडने पर वह जहाँ-तहाँ घूमता है, जलने लगता है। उसी प्रकार बालक मुनि को जहाँ छोड दिया जाए, वही वह छ काय की विराधना करता है। इधर-उधर भटकता है, खेलता है।

३ रात्रि मे भूख लगने पर भोजन मागता है।

४ उसे देखकर लोग ऐसा व्यग्य भी कसते रहते हैं कि इसे बचपन से ही बन्धन मे, जेल मे डाल दिया है और ये श्रमण जेलर की तरह सदा साथ रहकर इसकी स्वतन्त्रता को रोककर रखते हैं।

५ इससे श्रमणो का अपयश होता है निर्ग्रन्थ धर्म की निन्दा होती है।

---

१ (क) स्थानांग, ३, २०२, (ख) निशीथभाष्य, ११, ३५०६-७।
२. निशीथभाष्य, ११. ३५३१-३२

६ बालक के साथ मे होने से विहार मे विघ्न पडता है ।

७ बहुत छोटी उम्र मे बालक के मन मे सयम के भाव नही होते, इसलिए दीक्षा प्रदाता चारित्र से पतित होता है ।

इतने कारण उपस्थित करने पर भी भाष्यकार ने आगे की गाथाओ मे कुछ परिस्थितियो मे बाल-दीक्षा देने का भी उल्लेख किया है । इस सम्बन्ध मे भाष्यकार लिखते हैं[1]—

१. यदि किसी व्यक्ति का पूरा परिवार दीक्षा स्वीकार कर रहा हो ।

२. यदि किसी श्रमण-साधु के परिजन महामारी आदि रोग के कारण दिवगत हो गये हो, केवल एक बालक ही अवशेप रहा हो ।

३ किसी सम्यक्त्वी के सरक्षण मे कोई अनाथ बालक रहा हो ।

४ किसी कामातुर दुष्ट के द्वारा किसी साध्वी का शीलभग करने से बालक उत्पन्न हुआ हो ।

५ यदि किसी मत्री के द्वारा कुल, गण, सघ एव धर्म को लाभ मिलने की सभावना हो ।

इन परिस्थितियो मे यदि कोई बालक दीक्षा स्वीकार करना चाहता है, तो निशीथ भाष्यकार का अभिमत है कि उसे आचार्य बालवय मे दीक्षा दे सकता है । इन परिस्थितियो के अतिरिक्त भाष्यकार बाल-दीक्षा देना उचित नही समझते ।

सम्पूर्ण आगम-साहित्य मे भगवान महावीर के द्वारा पोलासपुर के राजा विजय के पुत्र राजकुमार अतिमुक्तकुमार के बालवय मे दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है ।[2] और चतुर्दशपूर्वधर आचार्य शय्यभव द्वारा अपने पुत्र मणग को और आर्यसिहगिरि द्वारा वज्रस्वामी को दीक्षित करने का वर्णन मिलता है ।[3] ये दीक्षाएँ भी उपरोक्त परिस्थितियाँ मे ही हुई है ।

वृद्ध-दीक्षा

बालक के शरीर मे, मन मे चपलता रहती है । वह स्थिर मन से सदा-सर्वदा साधना मे लगा नही रह सकता । वृद्ध के मन मे, तन मे स्थिरता तो रहती है, परन्तु शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है । उससे न तो प्रयत्न हो पाता है और न वह समय पर दैनिक क्रियाएँ ही व्यवस्थित रूप से कर पाता है । इसलिए अतिवृद्ध व्यक्ति को दीक्षा देने का निशीथभाष्यकार ने निषेध किया है ।

परन्तु कुछ परिस्थितियो मे वृद्ध व्यक्ति को दीक्षित किया जा सकता है । जिस वृद्ध व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, कष्ट सहने मे सक्षम हो, उसे प्रव्रज्या देने मे दोप नही बताया है । दशवैकालिक सूत्र मे बताया है—"जीवन के सध्या काल मे दीक्षा लेकर भी कुछ व्यक्ति अपनी तेजस्वी साधना से स्वर्ग एव अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं ।"[4]

श्रमण भगवान महावीर ने अपने पूर्व पिता सोमिल ब्राह्मण को और आचार्य सुधर्मा ने जम्बू एव उसके पिता ऋषभदत्त को दीक्षा दी थी । इसके अतिरिक्त नवपूर्वधर आर्यरक्षित के द्वारा अपने पिता सोमदेव को प्रव्रज्या देने का वर्णन मिलता है । आगम एव अन्य साहित्य मे अतिबाल और वृद्ध अवस्था मे कुछ अपवादो को छोडकर दीक्षा देने के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं ।

---

१ निशीथभाष्य, ११ ३५३७-३९ । २ अन्तकृतदशाग, ६ १४ । ३ निशीथभाष्य, ११-३५३६
४ दशवैकालिक, ४,

माता-पिता की अनुज्ञा :

त्याग-वैराग्य की भावना व्यक्ति के मन मे जागृत होती है और वह अपनी अन्तरग इच्छा से साधना के पथ पर गतिशील होना है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि वह अपने माता-पिता, सरक्षक एव स्नेही-साथी की आज्ञा प्राप्त करे। जिस साधना को उसने श्रेयस्कर समझा है, उसके स्वरूप को उन्हे समझाकर उनके मन मे साधना के प्रति श्रद्धा जागृत करना और उनका आशिर्वाद प्राप्त करके बढना साधक का परम कर्तव्य है।

भगवान महावीर के माता-पिता के दिवगत होने के बाद जब तक उनके ज्येष्ठ भ्राता नदिवर्धन ने आज्ञा नही दी, तब तक उन्हे राजमहलो मे ही ठहरना पडा। वे भाई के आग्रह से दो वर्ष तक और ठहरे।[1] मेघकुमार[2] एव अतिमुक्तकुमार[3] जब श्रमण भगवान महावीर के समीप दीक्षा लेने के लिए उपस्थित हुए, तब उनके माता-पिता ने भगवान को शिष्यरूप भिक्षा दी। अन्य दीक्षार्थियो के लिए भी आगम मे ऐसा ही उल्लेख मिलता है। उस समय बिना आज्ञा के एक भी दीक्षा दी गई हो, ऐसा वर्णन कही नही मिलता।

निष्क्रमण-सत्कार :

आगम-साहित्य मे दीक्षा के लिए तैयार साधक का निष्क्रमण-सत्कार करने का उल्लेख मिलता। अभिनिष्क्रमण के समय बहुत धूमधाम से उसे भगवान या सन्तो की सेवा मे पहुचाया जाता था।

थावच्चा-पुत्र के सम्बन्ध मे बताया गया है—जब वह दीक्षा लेने लगा, तब उसकी माता वासुदेव श्रीकृष्ण के राजदरबार मे उपस्थित हुई और अभिनिष्क्रमण सत्कार के लिए उनसे छत्र-चामर आदि की याचना की। तब श्रीकृष्ण ने कहा—तुम जाओ! मैं स्वय तुम्हारे घर आता हू। उसका निष्क्रमण सत्कार मैं करूँगा। फिर श्रीकृष्ण थावच्चा-पुत्र के घर जाते हैं, उसे समझाते हैं, परन्तु उसकी दृढता देखकर उनको एक हजार व्यक्ति उठा सके ऐसी विशालशिविका मे बैठाकर उसे धूमधाम के साथ भगवान नेमिनाथ के चरणो मे पहुचाते हैं।[4]

इसी तरह मेघकुमार एव अन्तकृतदशाग मे गजसुकुमाल, पद्मावती आदि के अभिनिष्क्रमण के समय का विस्तृत उल्लेख मिलता है। अभिनिष्क्रमणार्थी के प्रति लोग अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते थे।

चतुर्विध-संघ

आगम-साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन युग मे श्रमणो का संघटन व्यवस्थित, सुन्दर एव अद्वितीय था। वेदो की रचना के पूर्व भी श्रमण-सघ सगठित रहा है। जिस युग मे जो तीर्थंकर होते, वे केवलज्ञान प्राप्त करते ही चतुर्विध-सघ—श्रमण-श्रमणी, श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका, की स्थापना करते। जिसे आगमिक भाषा मे तीर्थ कहते है। और तीर्थ के सस्थापक होने के कारण वीतराग प्रभु को तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकरो के समय चारो तीर्थ उनके अनुशासन मे रहते थे और उनके पश्चात् उनके शासन मे होनेवाले आचार्यों के नेतृत्व मे श्रमण-श्रमणी अपने महाव्रतो का

---

१ कल्पसूत्र, ५, १००।
२ ज्ञाताधर्मकथा १
३ अन्तकृतदशाग, ६, १४।
४. ज्ञाताधर्मकथा, ५,

परिपालन करते हुए अपने जीवन का विकास करते थे और श्रावक-श्राविका उनसे प्रेरणा पाकर अपने व्रतो का पालन करने का प्रयत्न करते थे ।

श्रमण परपरा मे सघ का, तीर्थ का अपने आप मे वहुत वडा महत्व रहा है। जिनधर्म की आधार शिला या मूलस्तम्भ तीर्थ है। तीर्थंकरो का तीर्थंकरत्व तीर्थ पर ही आधारित है। भगवती सूत्र (२०।८) मे तीर्थ की परिभापा करते हुए वताया है—"धर्म-साधना मे अनुरत चतुर्विध-सघ"—

"तिथ पुण चाउव्वणे समणसघे, तजहा—समणा, समणीओ, सावया सावियाओ य।"

नन्दीसूत्र मे सघ की महिमा का वहुत विस्तार से वर्णन किया है। नगर, चक्र, रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र आदि अनेक उपमाओ के द्वारा सघ का गौरवमय भापा मे वहुत सुन्दर वर्णन किया है। जिसे पढकर मन मे सघ के प्रति श्रद्धा एव भक्ति का अजस्र स्रोत प्रस्फुरित हुए विना नही रहता।

आवश्यक निर्युक्ति मे आचार्य भद्रवाहु ने तीर्थ के सम्वन्ध मे वहुत ही महत्वपूर्ण वात कही है। उन्होने तीर्थ की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए लिखा है—'**तीर्थंकर जव समवशरण मे धर्म देशना देते हैं, उस समय वे तीर्थ को नमस्कार करते हैं।**'[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरो के द्वारा तीर्थ वन्दनीय रहा है। क्योकि तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही उन्होने तीर्थंकर पद प्राप्त किया। तीर्थ तीर्थंकर का मूल आधार है।[2]

आचार्य भद्रवाहु ने तीर्थ के सम्वन्ध मे जिस गौरवमय शव्दावली का प्रयोग किया है, वह केवल कपोल-कल्पना के वहाव मे किया है, ऐसा नही कहा जा सकता। आचार्य भद्रवाहु महान श्रुतधर रहे हैं, अपने युग के पूर्वधर थे और उन्होने आवश्यक सूत्र पर निर्युक्ति की रचना की—जो आगमिक विचार चर्चा का कोप है, मूर्धन्यग्रन्थ है। आगमो के व्याख्या साहित्य मे निर्युक्ति का सर्व प्रथम स्थान है, वह सवसे प्राचीन व्याख्या मानी गई है। भाष्य, चूर्णी एव टीकाओ के लेखकों पर एव वर्तमान युग के विचारक आचार्यों एव वरिष्ठ सन्तो पर निर्युक्ति का विशेप प्रभाव पडा है। इसलिए ऐसा कहना या मानना भयकर भूल होगी कि आचार्य भद्रवाहु ने तीर्थ को वन्दन करने के सम्वन्ध मे कुछ अनर्गल लिखा है। उनके युग मे अवश्य ही ऐसी विचार-चर्चा रही है, जिसमे तीर्थंकरो द्वारा तीर्थ को नमस्कार करने का उल्लेख था। विना किसी आधार के वे ऐसा नही कह सकते। वर्तमान युग के ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलालजी महाराज ने भी तीर्थंकरो द्वारा तीर्थ को नमस्कार करने का उल्लेख किया है।

दुष्कर नियम

आगमो मे श्रमण-श्रमणी जीवन की कठिन साधना का उल्लेख मिलता है। साधना के व्रत-नियम दुष्कर होते थे। उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन की गाथा ३६ से ४३ तक मृगापुत्र के वैराग्य एव त्यागमय जीवन का उल्लेख करते हुए वताया है—गगा के प्रतिस्रोत को तैरना, विराट् सागर को भुजाओ से पार करना, वालू के ग्रास को उदरस्थ करना, तलवार की धार पर नगे पैर गति करना, लोहे के चनो—दानो को दातो से चवाना, प्रज्ज्वलित अग्निशिखा को पकडना और मदरगिरि पर्वत को तराजू

---

१ तित्थपणाम काउ कहेइ साहारणेण सद्देण। —**आवश्यक निर्युक्ति ५६७**

२ तप्पुव्विया अरहया पूइयपूआ च विणयकम्म च। —**वही, ५५८**

पर रखकर तोलना दुष्कर है, कठिन है, उसी प्रकार श्रमण-साधना का पथ भी महादुष्कर है। साधक को अपने जीवन को, अपनी दृष्टि को, अपने विचारो को साधना एव सयम मे केन्द्रित करना आवश्यक है।

आचाराग सूत्र मे साधु-साध्वी के लिए बताया गया है कि वे आहार करते समय स्वाद न ले। भोजन के ग्रास को मुँह मे दाँए से बाँए या बाँए से दाए घुमाते हुए रसो का आस्वादन करते हुए न खाएँ। परन्तु अनासक्त भाव से गले के नीचे उतार लें। और यदि डास-मच्छर काट रहे हो, तो उन्हे भी न हटाएँ। पर समभावपूर्वक उस परिषह को सहन करे।[1]

श्रमण-साधना मे तप का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आचारांग मे भगवान महावीर की महान् तप-साधना का उल्लेख मिलता है। साढे बारह वर्ष तक तप-साधना करते हुए उन्होने जिन दुष्कर परीषहो को समभावपूर्वक सहन किया और वह छ छ महीने तक, उनकी साधना की तेजस्विता को प्रकट करता है।

अनुत्तरोपातिकसूत्र मे धन्नाअणगार की तपश्चर्या का गौरवमय वर्णन मिलता है। उनके पाद, जघा और ऊरु सूखकर रूक्ष हो गए थे, पेट इतना अन्दर धँस गया था कि वह कमर से चिपक गया था। उनकी पसलियो की हड्डिया निकल गई थी और कमर की हड्डियें माला के मनको की भाति गिनी जा सकती थी। वक्ष स्थल की हड्डियें गगा की लहरो की तरह एक-एक करके गिनी जा सकती थी। भुजाएँ सूखे हुए सर्प जैसी कृश हो गई थी, मुख कमल मुरझा गया था, आखे अन्दर धँस गई थी। इस प्रकार शरीर मे रक्त और मास कम हो गया था। वह केवल तप के तेज से चमक रहा था। इस प्रकार श्रमण परम्परा मे दुष्कर तप तपनेवाले साधक भी रहे हैं।

सकटमय जीवन

श्रमण जीवन मे अनेक तरह के कष्टो एव सकटो का सामना करना पड़ता है। आगम युग मे एव उसके पूर्व सामाजिक व्यवस्था आज जैसी व्यवस्थित नही थी और गमनागमन के मार्ग भी आज जैसे सुविधाजनक एव सरल नही थे। उस समय एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय रास्ते मे विकट जगल पडते थे। रास्ते मे चोर-डाकू एव जगली जानवर मिल जाते थे। लम्बे रास्तो मे कभी-कभी भिक्षा भी समय पर एव सुविधापूर्वक नही मिलती। फिर भी साधक अपने श्रमण नियमो का परिपालन करता हुआ विचरता था। कभी-कभी आचार-धर्म का परिपालन करते समय प्राणो का भी त्याग करना पड़ता। फिर भी वह समभावपूर्वक सभी परीषहो को सहन करता था।

रोगजन्य कष्ट

बीमारी के समय साधु को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यदि सहन करने की क्षमता न हो और समभाव नही रहा हो, उस समय उसके लिए चिकित्सा कराने का निषेध नही किया गया है। क्योकि समभाव एव समाधि को बनाए रखना श्रमण का प्रधान कर्तव्य है। समभाव मूलगुण है और क्रिया काण्ड उत्तरगुण है। अत मूलगुण को सुरक्षित रखने के लिए अपवाद मार्ग मे क्रियाओ को शिथिल भी किया जा सकता है और विवेक एव यत्ना के साथ वैसा करने मे किसी तरह का दोष नही लगता।

---

१ आचाराग सूत्र, ७, ४, २१२

यदि श्रमण-सघ मे कोई साधु चिकित्सा का ज्ञान रखता है, तो बीमार साधु पहले साधु को दिखाए, उससे अपनी चिकित्सा कराए। यदि किसी भी साधु को चिकित्सा करने का ज्ञान नही है, तब वैद्य को भी दिखाया जा सकता है और उससे औषध ली जा सकती है। इसके लिए निशीथ और वृहत्कल्प सूत्र एव उसके भाष्य मे दवा लेने का भी कहा है। भाष्यकार ने लिखा है कि साधु अपने स्वास्थ्य की परीक्षा कराने के लिए वैद्य के घर पर या दवाखाने मे जा सकता है। यदि वैद्य स्वय देखने के लिए साधु के स्थान पर जाने के लिए तैयार हो और वह जाने की इच्छा अभिव्यक्त करे तो आचार्य या उस समूह का वरिष्ठ साधु पहले वैद्य या डाक्टर से बात करे, उसे बीमारी के कारणो की जानकारी दे। उसके बाद वैद्य को लेकर बीमार साधु के पास जाकर उसे दिखाए। रोग का निदान करने के बाद वैद्य जो औषध दे और जो पथ्य-पानी बताए, उसकी व्यवस्था का ध्यान रखे। बीमारी के समय साधु की सेवा-सुश्रूषा की उचित व्यवस्था करे।[1]

बीमार साधु को दवा लेने का एकान्त निषेध नही है। परन्तु उसे उस कष्ट को शान्ति के साथ सहन करने एव विवेकपूर्वक स्वास्थ्य के लिए औषध एव पथ्य लेना चाहिए। रोग के कारण मन मे अशान्ति, विषमता एव ग्लानि को प्रविष्ट न होने दे।

दुर्भिक्षजन्य परीषह

उस समय भारत मे छोटे-छोटे राज्य थे। अनेक बार अनावृष्टि या अतिवृष्टि के कारण दुष्काल पड जाता, तब आचार्य साधुओ को एक राज्य से दूसरे राज्य मे भेज देते थे। क्योकि दुष्काल मे शुद्ध भिक्षा का मिलना दुष्कर था। कभी-कभी साधु भिक्षा के अभाव मे सथारा करके समाधिमरण को स्वीकार करते थे।

दुष्काल के समय भिक्षाचरी के लिए अपवादमार्ग का भी आगम मे विधान मिलता है। आचाराग सूत्र मे बताया है—"साधु भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ के घर मे प्रवेश कर रहा है, उस समय उसके द्वार पर श्रमण-ब्राह्मण आदि अन्य भिक्षुओ को भिक्षा के लिए खडा देखकर एकान्त स्थान मे खडा हो जाता है। यदि गृहस्थ उसे देख ले और अपने घर ले जाकर उसे भिक्षा दे और यह कहे कि मेरे पास इतना समय नही है कि मैं द्वार पर उपस्थित सभी भिक्षुओ को भोजन दे सकूँ। अत आप सब परस्पर बाट कर खालें। उत्सर्गमार्ग मे साधु ऐसी शर्त पर दिए हुए आहार को स्वीकार नही करता। परन्तु अपवाद मे वह उसे स्वीकार कर भी सकता है। और फिर सब को गृहस्थ का सदेश सुना कर सब मे उसे समान रूप से विभक्त कर दे। यदि वे साथ मे बैठकर भोजन करना चाहे, तो उनके साथ भी आहार कर सकता है परन्तु आहार बाटते एव करते समय सरस पदार्थों मे आसक्त होकर उन्हे अकेला न खाए, सबको समान रूप से दे।[2]

सूत्रकृतागसूत्र मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि अपवादमार्ग मे आधाकर्म आहार करनेवाले साधु के लिए ऐसा नही करना चाहिए कि वह सात या आठ कर्म का बन्ध करता है।[3] आचाराग वृत्ति मे भी कहा है अपवादमार्ग मे साधु, द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव देखकर सदोष आहार भी ले सकता है।

---

१ वृहत्कल्पभाष्य १, १९१०-२०१३, व्यवहारभाष्य, ५, ८९-९०, निशीथ, १०-१६-३९, निशीथ-भाष्य, २८७३-७४

२ आचाराग सूत्र, २, ५, २९। ३ सूत्रकृताग सूत्र, २, ५, ८-९।

द्रव्य—खाद्य पदार्थो का मिलना दुर्लभ हो। क्षेत्र—ऐसा क्षेत्र जिसमे निर्दोष आहार नही मिलता हो। काल—दुष्काल का समय हो। भाव -रोग आदि की अवस्था हो। ऐसे समय आधाकर्म आहार लेने पर भी साधु साधुता से नही गिरता।[१]

अध्व प्रकरण

साधना को उज्ज्वल रखन एव धर्मप्रचार के लिए श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए विहार एक अत्युत्तम साधन माना गया है। आगमो मे साधु-साध्वी के लिए नवकल्पी विहार का उल्लेख मिलता है। चातुर्मास मे चार महीने के आठ कल्प होते हैं। आठ महीनो मे एक स्थान पर अधिक मे अधिक एक महीना रह सकते है और घूमना चाहे तो आठ महीने विचरण भी कर सकते हैं।

उस युग के विहार सरल और सुगम नही थे। लम्बे-लम्बे विहार करने पडते थे और मार्ग मे विहड जगल भी पडते थे, जिनमे चोर-डाकुओ एवं हिंस्र पशुओ का उपसर्ग बना रहता था। कभी-कभी नदियो मे बाढ आ जाने से आवागमन का मार्ग रुक जाता था। उस समय नौका के द्वारा नदी पार करनी पडती थी। ऐसी परिस्थिति मे आचाराग सूत्र मे यदि नदी मे पानी थोड़ा हो तो उसे विवेक एव यत्नापूर्वक चल कर पार करने का और पानी अधिक हो तो नौका पर बैठकर पार करने का स्पष्ट विधान है।[२] और आपवादिकस्थिति मे इस कार्य को निर्दोष माना है, इसलिए आगमकारो ने इसके लिए प्रायश्चित का उल्लेख नही किया है।

साधु सदा एक ही प्रान्त मे नहीं रहता था। वह अनेक प्रान्तो मे परिभ्रमण करता था। इसलिए बृहत्कल्पभाष्य मे स्पष्ट कहा गया है कि श्रमणो को विभिन्न देशो—प्रान्तो की भाषाओ का परिज्ञान होना चाहिए।[३] जिससे वे सुगमता से जन-जन के मन मे धर्म भावना जागृत कर सकें। इसके लिए वे आचार्यो के सान्निध्य के भाषाओ एव स्व-पर सिद्धान्तो का अध्ययन करते थे। परन्तु इसके लिए उन्हे बहुत लम्बे-लम्बे विहार करने पडते थे। भयकर जगलो,अटवियो,नदी-नालो को पार करना पड़ता था। भयकर जगलो को पार करते समय सार्थवाहो का सहयोग लेना पडता था। जगली जानवरो से रक्षा करने के लिए कभी-कभी सूखे कांटो की वाड लगाने एव वागडवर (वयणचाडर) का सहारा लेने का भी उल्लेख मिलता है।[४] कभी-कभी चोरो एव जगली जानवरो से भयभीत होकर सार्थवाह भाग जाते, और साधु एकाकी होने के कारण रास्ता भूल जाते, उस समय वनरक्षक देव का आसन कम्पायमान करके उससे सहायता लेते थे।[५] यदा-कदा जगलो मे चोर-डाकू उनके वस्त्र छीन लेते, पात्र तोड डालते एव उन्हे त्रास देते, उस समय समभाव रखने का आदेश दिया गया है। साधु उन पर द्वेष नही करते, परन्तु शान्तभाव से उन्हे समझाने का प्रयत्न करते थे।

अध्वगमन के समय साधु को बहुत कष्ट सहने पड़ते थे। भिक्षा का परीषह भी कम न था। भाष्यकारो ने ऐसे समय मे—शक्कर या गुड मिश्रित केले, खजूर, सत्तू या पिण्याक (पिन्नी) आदि ग्रहण करने का उल्लेख किया है।[६] ऐसे लम्बे विहारो मे साथ रहने वाले सार्थवाह से आहार-पानी लेने का

---

१. आचारागवृत्ति २, १, १, १ २. आचाराग सूत्र, २, ३, २, १२२-१२४।
३. बृहत्कल्पभाष्य, १, १२२९-३९, ४ आवश्यकचूर्णि पृष्ठ १५४
५ बृहत्कल्पभाष्य १, ३१०३-१४, ६ निशीथभाष्य, १६, ५६८४,

भी उल्लेख मिलता है ।[1] और बृहत्कल्पसूत्र मे ऐसे समय मे चर्म-छेदिका रखने का विधान है ।[2] इसके कारण का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—लम्बे विहार मे पैर घिस जाने के कारण रास्ता तय करने मे कष्ट होता है । इसलिए चर्म बाधकर विहार कर सकता है । इस प्रकार अध्व-गमन के समय भी साधु अपने नियमो का पालन करने का विशेष ध्यान रखते थे ।

चोर-डाकुओ का उपद्रव

प्राचीन युग मे विहार करते समय यदा-कदा चोर-डाकू रास्ते मे वस्त्र छीन लेते थे । गच्छ की व्यवस्था को नष्ट करने के लिए आचार्य का वध कर देते । उस समय सामान्य साधु सघ व्यवस्था को वनाए रखने के लिए आचार्य का वेष धारण करता और आचार्य सामान्य साधु की तरह चलता । इसके अतिरिक्त आचार्य एव साधु उपदेश देकर चोरो को समझाते या अपनी मत्रशक्ति से या भुजबल से अपनी एव अपने साथियो की रक्षा करते ।

आचाराग सूत्र मे ऐसा प्रसग उपस्थित होने पर साधु के लिए कहा गया है कि चोरो के द्वारा वस्त्र आदि मागने पर, वह शान्तभाव से अपने वस्त्र आदि उपकरण जमीन पर रख दे । वह न तो चोरो पर द्वेष रखे, न उन्हे कठोर शब्द कहे और न गाँव मे आकर किसी व्यक्ति को इस सम्बन्ध मे कुछ कहे । वह उस चोर से प्रतिशोध लेने की कल्पना भी न करे । उसे हर परिस्थिति मे क्षमा एव शान्ति रखनी चाहिए और अपनी साधना मे मस्त रहना चाहिए ।

विरुद्धराज्य सकट

वैराज्य—विरुद्धराज्य मे आवागमन करने से साधु को विभिन्न प्रकार के कष्ट सहन करने पडते थे । वृहत्कल्पभाष्य मे, चार तरह का वैराज्य बताया गया है—१ **अणराय**-विना राजा का राज्य, राजा की मृत्यु हो जाने पर जब तक अन्य राजा या युवराज का राजा के सिंहासन पर अभिषेक नही किया गया हो । २ **युवराज**—पूर्व के राजा द्वारा नियुक्त युवराज से अधिष्ठित राज्य, अभी तक दूसरा युवराज अभिसिक्त नही किया गया हो । ३ **वेरज्जय**—दूसरे राजा की सेना ने राज्य को घेर लिया हो । ४ **द्वैराज्य**—एक ही गोत्र के दो व्यक्तियो मे राज्य प्राप्ति के लिए सघर्ष हो रहा हो । इन परिस्थितियो मे यदि अन्य राज्यो मे स्थित व्यापारियो का आना-जाना रहता हो, तो साधु भी आ-जा सकता है, अन्यथा उसे ऐसे स्थान मे जाने का निषेध था ।[3]

पारस्परिक सघर्ष के समय सीमाओ पर पहरा रहता था । राजमार्ग वन्द कर दिए जाते थे । उन्मार्ग से जाने पर वध-वन्धन आदि की सभावना रहती थी । उत्तराध्ययन अ० २ की टीका मे एक घटना का उल्लेख मिलता है—श्रावस्ती के राजकुमार भद्र को—जो एकलविहारी मुनि थे, वैराज्य मे उन्हे गुप्तचर का सन्देह होने के कारण पकड लिया । उस को सैनिको से वन्धवा कर उसके शरीर मे तीक्ष्णदर्भो को प्रविष्ट करके, उसे अत्यन्त कष्ट दिया गया । इसलिए यदि राजा अनुकूल हो, तव तो साधु वैराज्य मे जा सकते थे, अन्यथा उन्हें जाने की आज्ञा नही थी ।

---

१ निशीथभाष्य, १८,५६८३   २ वृहत्कल्पभाष्य १, ३००५,१४
३ वृहत्कल्पभाष्य, १ ३१३७

दर्शन और ज्ञान का प्रचार करने के लिए, बीमार साधु की चिकित्सा के लिए तथा आचार्य आदि से मिलने के लिए साधु वैराज्य मे आ-जा सकते थे। परन्तु ऐसे समय मे नगर सरक्षक, श्रेष्ठी, सेनापति, अमात्य-मत्री या राजा इनमे से किसी एक या अधिक की आज्ञा लेकर एक-दूसरे राज्य की सीमाओ मे सक्रमण करना आवश्यक बताया है।[1]

वाद-विवाद :

जिनधर्म का प्रचार करने के लिए विचरण करते समय श्रमणो का अन्य धर्म के श्रमणो-ब्राह्मणों एव अन्य व्यक्तियो के साथ वाद-विवाद हो जाता था। निशीथभाष्य मे लिखा है— श्रावस्ती के राजकुमार स्कधकी बहिन का विवाह उत्तरापथ के कुभकारकृत नगर के राजा दण्डकी साथ के हुआ था। एक समय राजा दडकी का दूत पालक श्रावस्ती आया। स्कधक के साथ उसका वाद-विवाद हुआ, जिसमे वह परास्त हो गया। एक दिन स्कधक ने दीक्षा ग्रहण कर ली और विहार करते-करते कुभकारकृत नगर पहुचा। पालक ने अपना प्रतिशोध लेने के लिए स्कधक और उसके शिष्यो को इक्षुयत्र मे पेर दिया।[2] इसके अतिरिक्त जैन मुनियो और रक्तपटो मे तथा राज्य सभाओ मे जैनश्रमणो और बौद्ध भिक्षुओ मे वाद-विवाद होने का उल्लेख मिलता है।[3] सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय अध्ययन की षष्ठम् गाथा मे आर्द्रक मुनि का गोशालक, शाक्यपुत्रो, द्विजातियो, एकदडी साधुओ और हस्तीतापसो के साथ वाद-विवाद होने का उल्लेख मिलता है।

ऐसे प्रसगो पर साधु को समता एव सहिष्णुता रखने का आदेश दिया गया है। वह अपना पक्ष तर्क के साथ रखता है। परन्तु हार जीत की भावना एव प्रतिशोध के लिए वाद-विवाद नही करता।

श्रमण-जीवन का आदर्श :

साधना के क्षेत्र मे श्रमण-श्रमणी का जीवन आदर्श जीवन है। जैन श्रमण के त्याग-तप की समानता अन्य कोई नही कर सकता। साधु-साध्वी विवेक एवं सावधानी के साथ नियमो का परिपालन करने मे तत्पर रहते हैं। आगम मे श्रमण वर्ग को सावधान करते हुए स्पष्ट कहा है कि संयम का परित्याग करके भोगो की आकाक्षा करने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है। जब बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का छोटा भाई रिष्टनेमि अकेली राजमति को गुफा के एकान्त स्थान मे खड़ा देखकर विचलित हो गया और उसके साथ भोग-भोगने की प्रार्थना करने लगा। तब राजमति ने उस सयम मे स्थिर करने की भावना से अति कठोर शब्दो मे उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—"तुझे धिक्कार है कि थोडे-से जीवन के लिए तुम वमन किए हुए काम-भोगो को भोगने की इच्छा करते हो। वमन किए हुए भोगो को भोगने की आकाक्षा एव कामना रखने की अपेक्षा, मृत्यु को स्वीकार कर लेना श्रेयस्कर है। सयम से भ्रष्ट होने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है।"[4]

बृहत्कल्प की भाष्य चूर्णि मे भी यही बात कही है—"चिरसचित व्रत-नियम को तोडने की अपेक्षा प्रज्वलित अग्नि मे कूदकर प्राणो का त्याग कर देना अत्युत्तम है। शुद्ध आचार-धर्म का परिपालन

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, १, २७५५, २. निशीथभाष्य, १६, ५७४०-४३,
३ व्यवहारभाष्य, ५-२७-८, निशीथभाष्य, १२-४०२३ की चूर्णी ४. दशवैकालिक सूत्र, २,

करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है, परन्तु सयम से भ्रष्ट होकर भोगमय जीवन बिताना कथमपि अच्छा नही है।"[१]

आचार के नियमो का पालन करने पर जोर दिया है। परन्तु उसके साथ जीवन को भी व्यवस्थित रखने की बात कही है। भोग के लिए व्रतो मे दोप लगाना भयकर पाप है, पतन के महागर्त मे गिरना है। किन्तु सयम की अजस्रधारा को प्रवहमान रखने के लिए कभी परिस्थितिवश कुछ दोष का आसेवन करना पडे, तब भी उसे पतन का कारण नही माना है। भाप्यकार ने भी कहा है—"मानव तनरूपी हिमगिरि से ही धर्मरूपी निर्मल नीर का निर्झर प्रस्फुटित हुआ है और उसकी धारा अविरामरूप से गतिशील है।" वह धारा खण्डित न हो, इसलिए सयम-निष्ठ शरीर की सुरक्षा करना साधक का परम कर्तव्य है।[२]

यदि कभी विकट परिस्थिति मे सयम की सुरक्षा के लिए आचार-मर्यादा की अक्षाश रेखा का उल्लघन करना पडे, तब भी वह सयम से भ्रष्ट नही होता है। परिस्थितिवश विवेक-पूर्वक सेवन किया गया अकल्पनीय पदार्थ कल्पनीय हो जाता है। और विवेक के अभाव मे कल्पनीय अकल्पनीय हो जाता है। कल्प और अकल्प विवेक-अविवेक पर ही आधारित है। अत श्रमण अपने जीवन के आदर्श को सदा बनाए रखने का प्रयत्न करता है। परन्तु वह विवेक की आँख को बन्द करके नही चलता है। जब भी चलता है और जो कुछ करता है—अपने विवेक से सोच-समझ कर करता है।

अपवाद-मार्ग

जीवन मे परिस्थितियाँ सदा-सर्वदा एक-सी नही रहती। जीवन की धारा बदलती रहती है, उसमे कभी उतार और कभी चढाव आता रहता है। इसलिए साधना-पथ भी एक-जैसा नही रहता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप उसमे परिवर्तन होता रहता है। साधना का मार्ग-मार्ग ही रहता है, वह उन्मार्ग नही बनता। परन्तु साधारण स्थिति मे जो कार्य अकल्प समझा जाता था, वही विशेप परिस्थिति मे कल्प बन जाता है। आगमिक भापा मे इसे अपवाद-मार्ग कहते हैं। अपवाद भी उत्सर्ग की तरह मार्ग है, आगमकारो ने उसे उन्मार्ग नही कहा है।

उत्सर्ग-अपवाद

आचार्य सघदासगणी ने 'उत्' उपसर्ग का अर्थ—'उद्यत' और 'सर्ग' का अर्थ—'विहार' किया है। उद्यत विहारचर्या उत्सर्ग है। अपवाद उत्सर्ग का प्रतिपक्ष है। अपवाद, दुष्काल आदि कठिन परिस्थितियो मे उत्सर्गमार्ग से गिरते हुए साधक को ज्ञान-दर्शन आदि को अवलम्बन पूर्वक धारण करता है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि सकट के समय उत्सर्ग मार्ग पर चलकर साधक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् साधना नही कर पाता, अत अपवाद को स्वीकार करके सयम की रक्षा कर सकता है।[3]

आचार्य हरिभद्र का कहना है—"द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता से सयुक्त साधक के द्वारा किया जानेवाला कल्पनीय आहारादि गवेपणारूप अनुष्ठान उत्सर्ग है और द्रव्यादि प्रतिकूलता के समय विवेक एव यत्नापूर्वक तथाविध अकल्प्य आसेवनरूप उचित अनुष्ठान अपवाद है।[४]

---

१ वृहत्कल्पभाष्य, ४, ४१४६ की चूर्णी

२ वृहत्कल्पभाष्य, १, २६०० की टीका

३ वृहत्कल्पभाष्य, पीठिका, ३१९,

४ उपदेशपद, ७८४

जीवन में नियमों-उपनियमों की जो सर्वसामान्य विधि है, वह उत्सर्ग है और जो विशेष-विधान है, वह अपवाद है।[1]

एकान्तवाद नहीं :

कुछ विचारक उत्सर्ग को ही मार्ग मानते हैं। उसी को पकड़ कर चलते हैं। सदा उत्सर्ग का अवलम्बन लेकर भी उत्सर्ग के गीत गाते हैं। और अपवाद को उन्मार्ग बताते हैं। कुछ व्यक्ति सदा-सर्वदा अपवाद का ही सेवन करते हैं। वे एक तरह से उत्सर्ग को भूल गए हैं। दोनों की एकांगी दृष्टि जैन आगमों के अनुकूल नहीं है। एकान्त को पकड़कर चलनेवाला व्यक्ति सम्यक्-दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि वीतराग भगवान ने अपने प्रवचन में न किसी भी बात का एकान्त विधान किया है, और न एकान्त निषेध किया है। तीर्थंकरों का एक ही आदेश रहा है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर जो कुछ करो उसमें सत्यभूत होकर रहो। अपनी साधना आत्म-निष्ठा के साथ करते रहो। क्योंकि साधक का जीवन न तो कदापि एकान्त निषेध पर चल सकता है, और न एकान्त रूप से विधि मार्ग पर ही। देशकाल की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुरूप वह कुछ स्वीकार करके और कुछ त्यागकर ही अपने जीवन में प्रगति करता है। जीवन निषेध और विधान से समन्वित है।

उत्सर्ग-अपवाद का लक्ष्य :

साधना का उद्देश्य है—आत्म-स्वरूप को कर्म आवरण से अनावृत्त करना और दोष के हेतुओं का नाश करना। उत्सर्गमार्ग का अनुसरण भी मुक्ति के लिए किया जाता है और अपवादमार्ग को भी उसी दृष्टि से स्वीकार किया जाता है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्ग हैं, साधन हैं, साध्य है—मुक्ति उसे प्राप्त करने के लिए दोनो मार्ग है। दोनो का लक्ष्य एक है, दोनो का अर्थ एक है। यदि दोनों परस्पर निरपेक्ष हो, एक ही लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकते हों, तो आगम की भाषा में उत्सर्ग-अपवाद का कोई अर्थ नही रहेगा। क्योकि आगमकारो ने दोनो को मार्ग कहा है। और वस्तुतः दोनों का लक्ष्य एक है—साधना की शुद्धि, आध्यात्मिक विकास, सयम की सुरक्षा और ज्ञानादि गुणो की अभिवृद्धि। इसलिए उत्सर्ग अपवाद से सवद्ध है और अपवाद उत्सर्ग से।

अधिकारी :

उत्सर्ग सामान्य मार्ग है, राजमार्ग है। उस पर गीतार्थ-अगीतार्थ, तरुण-बालक, स्त्री-पुरुष सब चलते है। अत इस पथ पर कौन गति करे और कौन न करे, इस प्रश्न को अवकाश ही नही है। परन्तु अपवाद का मार्ग सरल मार्ग नहीं है। अपवाद तलवार की धार से तीक्ष्ण है। उस पर चलना सामान्य व्यक्ति का काम नही है। इसलिए जो श्रमण गीतार्थ है, आचार-शास्त्र का तलस्पर्शी अध्ययन कर चुका है, निशीथ आदि छेद सूत्रो के रहस्य को समझ चुका है और उत्सर्ग-अपवाद के पदो का अनुशीलन मात्र ही नही किया है, वल्कि उनका अनुभव भी रखता है तथा देश-काल का ज्ञाता है, वही अपवाद को स्वीकार करने, न करने का सही निर्णय दे सकता है।

अपवाद दोषरूप नहीं है :

कुछ विचारक—जो आगम के अर्थों से परिचित नही है, जिनका अध्ययन एव आगमिक चिन्तन गहरा नही है, वे अपवाद को दूषण मानते हैं, परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। अपवाद सयम का

---

१ दर्शनशुद्धि

दूपण नही, भूपण है। अपवाद का सेवन आमोद-प्रमोद के लिए नही, सयम-रक्षा के किया जाता है। हम आगे बताएँगे कि आगमकारो ने सयम-रक्षा के लिए अपवाद का भी विधान किया है और उसे निर्दोष माना है। निर्दोप का अभिप्राय इतना ही है कि उसका प्रायश्चित नही आता। छेद-सूत्रो—जिसे हम प्रायश्चित-सहिता कह सकते है, मे प्रायश्चित के दो रूप बताए है दर्प से और कल्प से। यदि कोई साधक दर्प से, अहकार से, वासना से प्रेरित होकर दोप का सेवन करता है, सच्चे अर्थ मे वही प्रायश्चित का अधिकारी है। कल्प से, विवेक—यत्ना से दोप का सेवन करने वाले के लिए प्रायश्चित नही है।

निशीथभाप्य मे दर्प प्रतिसेवना को प्रमत्तयोग से युक्त कहा है और कल्प प्रतिसेवना को अप्रमत्त-विवेकयुक्त कहा है।[1] वह आलोचना मात्र करता है और आलोचना करना, अपने जीवन का निरीक्षण करना साधक का धर्म है। यदि आलोचना करना ही दूपण माना जाए, तो उत्सर्ग मार्ग पर गतिशील साधक भी शौच से लौट कर, गौचरी से लौटकर, स्वाध्यायभूमि से लौटकर जव स्थान पर आता है, तव आलोचना करता है, फिर उसे भी दोपमय मार्ग मानना होगा। यदि आलोचना करने मात्र से उत्सर्ग दोषमय नही होता, तो अपवाद भी नही होता है। दोप उत्सर्ग और अपवाद मे नही, अविवेक मे है, अयत्ना मे है। जो साधक अधे हाथी की तरह विवेक की आँखे वन्द करके चलता है—भले ही उत्सर्ग मार्ग पर चले, वह दोपी है। परन्तु विवेक से चलने वाला दोप का सेवन नही करता। इसलिए छेद-सूत्रो मे जो प्रायश्चित का विधान किया गया है—वह प्रमाद, दर्प, अविवेक एव अयत्ना से कार्य करने का प्रायश्चित है। यदि आगम मे उल्लिखित विधि से यत्ना और विवेक से कल्पपूर्वक अपवाद का सेवन किया जाता है, तो सयम का दूपण नही, भूपण है और उसके लिए किसी तरह का प्रायश्चित नही आता।

उत्सर्ग-अपवाद की तुलना

साधना के क्षेत्र मे उत्सर्ग अधिक है या अपवाद। यह एक प्रश्न है? यह प्रश्न आज का ही नही, भाप्य-युग से चला आ रहा है। वृहत्कल्प-भाष्य मे प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है—"जितने उत्सर्ग हैं, उतने ही अपवाद हैं और जितने ही अपवाद है, उतने ही उत्सर्ग हैं।[2] उत्सर्ग-अपवाद अन्योन्य आश्रित है। सामान्य परिस्थिति मे जो उत्सर्ग है, विशेप परिस्थिति मे उसीका अपवाद भी होता है। जैसे सामान्य परिस्थिति मे साधु के आधाकर्म आहार आदि नही लेने का विधान है परन्तु परस्थिति विशेप मे आधाकर्म आहार लेनेवाले साधु को दोपी नही कहा है। भगवती सूत्र मे सामान्य स्थिति मे मोह एव अनुराग वश आधाकर्म आहार देनेवाले श्रावक को अल्प आयु वन्ध करने का कहा है, परन्तु विशेप परिस्थिति मे आधाकर्म आदि सदोप आहार देनेवाले को अल्प पाप और महानिर्जरा करनेवाला वताया है।[3] अत उत्सर्ग और अपवाद दोनो तुल्य हैं, समान है।

श्रेय-अश्रेय

उत्सर्ग-अपवाद दोनो मे कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर है और कौन-सा अश्रेयस्कर? कौन सवल है

१ पमाया दप्पो भवति- अप्पमाया कप्पो। निशीथभाष्य, पीठिका ९१ की चूर्णी
२ वृहत्कल्पभाष्य, पीठिका, ३२२
३ भगवती सूत्र, ८, ६, ३३१ टीका और ८, ६, ३३२

और कौन निर्बल ? भाष्यकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है—दोनो अपने अपनेस्थान पर श्रेयस्कर एव सबल है और दोनो पर स्थान मे अश्रेयस्कर एव निर्बल है। उत्सर्ग के स्थान अपवाद और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग का आसेवन करना अकल्याण का कारण है। जो साधक स्वस्थ एव शक्ति-सम्पन्न है, उसके लिए उत्सर्ग स्व-स्थान है और अपवाद पर-स्थान है। पर, जो साधक दुर्बल एव बीमार है, उसके लिए अपवाद स्व-स्थान है और उत्सर्ग पर-स्थान है। स्व-स्थान मे पर-स्थान का और पर-स्थान मे स्व-स्थान का आग्रह रखना पतन का कारण है।[1]

परिणामी, अतिपरिणामी, अपरिणामी

जैनधर्म साधना को आचार को साधना मानता है, साध्य नही। साधन सदा एक-सा नही रहता है। साधक की स्थिति-परिस्थिति के अनुरूप बदलता रहता है। न वह अत्यधिक परिवर्तन को स्वीकार करता है और न एकान्तरूप से अपरिवर्तन को ही। वह बिना कारण नियमो को बदलते रहने को दोष मानता है और कारण उपस्थित होने पर भी जो नही बदलने की अति को पकडे रहता है, उसको भी उचित नही समझता। अति भले ही उत्सर्ग मे हो या अपवाद मे दोनोदोषमय है। जैनधर्म अति की नही, निरति-मध्यममार्ग की बात कहता है। बिना कारण उत्सर्ग को मत छोडो, परन्तु सकारण उसे छोडना पडे तो विवेक के साथ अपवाद को स्वीकार करो।

तीर्थंकरो एव उनके अनुगामी आचार्यों ने साधक को सदा एक ही बात कही है—"**अहा सुहं-देवाणुप्पिया**—जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा मे सुख-शान्ति, समाधि एव समता रहे, उस प्रकार आचरण करो। सयम, क्रिया मे नही, आत्म स्वरूप मे रमण करने मे है, समभाव को बनाए रखने मे है। भगवती-सूत्र मे स्पष्ट शब्दो मे कहा है—आतम-स्वभाव-समभाव ही सामायिक है और वही सामायिक का अर्थ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनो समभाव एव समाधि को बनाए रखने के लिए है। यदि विशेष विकट परिस्थिति मे भी सशक्त साधक समभाव को बनाए रखता है, तो उसके लिए अपवाद का सेवन करना आवश्यक नही है। परन्तु जो साधक सकट की घडियो मे समभाव मे स्थित नही रह सकता, वह यदि विवेकपूर्वक अपवाद का सेवन करता है, तब भी वह आराधक ही रहता है, परन्तु जो साधक विषय-भोग की आसक्ति से प्रेरित होकर उत्सर्ग से अपवाद मे जाता है या उत्सर्ग मे रहकर भी भोगो की आकाक्षा रखता है, वह अपने पथ से भ्रष्ट होता है।

व्यवहारभाष्य एव उसकी वृत्ति मे इस सम्बन्ध मे एक सुन्दर रूपक दिया है—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। वह उनमे से एक को अपना उत्तराधिकारी चुनना चाहता था। अत तीनो को अलग-अलग बुलाकर उसने कहा—"मुझे आम्र चाहिए, लाकर दो।"

उनमे से एक अतिपरिणामी था, वह इतनी-सी छूट मिलने के कारण अन्य अकल्प्य सामग्री लाने की बात करता है।

दूसरा अपरिणामी था, वह कहता है—आम्र लाना कल्प के बाहर है। अत अकल्पनीय वस्तु मैं कैसे ला सकता हू !

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका ३२३-२४

तीसरा परिणामी शिष्य - जो विवेकशील था, विनम्रभाव से पूछता है कि आम्र अनेक प्रकार के होते है। क्या कारण है और उसके लिए किस जाति का आम्र चाहिए, यह स्पष्ट बताएँ ? साथ ही मैं यह भी जानना चाहता हू कि कितने आम्र की आवश्यकता है ? परिमाण-मात्रा का परिज्ञान भी होना चाहिए, अन्यथा मैं गल्ती कर सकता हू।

आचार्य की परीक्षा मे परिणामी-निरतिवादी उत्तीर्ण हो गया। वह न तो अति परिणामी की तरह एक अकल्प्य वस्तु मगाने पर, अनेक अकल्प्य पदार्थ लाने की बात कहता है और न अपरिणामी की तरह आचार्य का अनादर करता है। वह विवेक को सामने रखकर गति करने की बात कहता है। परिणामी साधक ही श्रमण-परपरा का सजग प्रहरी है। वह समय पर देश-काल की परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल सकता है, बदल सकता है।

श्रमण और ब्राह्मण

जैन आगमो मे श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है। आचाराग मे दोनो शब्दो का आदर के साथ उल्लेख किया गया है। आचाराग चूर्णि मे पृष्ठ ६३ पर श्रमण,ब्राह्मण और मुनि को एकार्थक बताया है। ब्राह्मण के लिए आगम मे 'माहण' शब्द मिलता है,जिसका अर्थ होता है—जीवो को मत हनो—मत मारो का उपदेश देनेवाले। कहा जाता है कि भरत को **'माहण'** मत मारो का उपदेश देने वाले वर्ग को भरत ने 'माहण' ब्राह्मण की सज्ञा दी थी और उनकी आजीविका का प्रबन्ध राजकोष से किया था। भगवान ऋषभदेव ने तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की स्थापना की और भरत ने चतुर्थ वर्ण ब्राह्मण की स्थापना की।

उस युग मे ब्राह्मण वर्ग की बहुत प्रतिष्ठा थी। यह त्यागी वर्ग गिना जाता था। अध्ययन-अध्यापन ही इनका काम था। बाद मे इनमे अहभाव एव लोभवृत्ति जागृत हो गई। और यज्ञ-याग के द्वारा उसने धर्म पर एकाधिपत्य (Monopoly) जमा लिया। तब से भारतीय सस्कृति मे दो धाराएँ चल पडी—श्रमण और ब्राह्मण।

ब्राह्मण वैदिक परम्परा को माननेवाले हैं। यज्ञ-भाग का अनुष्ठान करते एव अन्य प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त रहते थे। यज्ञो मे पशुओ का बलिदान करना, इन्द्र आदि देवो की पूजा-उपासना करना इनका मुख्य कार्य था।

ब्राह्मण-परपरा मे ब्राह्मणो का सबसे श्रेष्ठ स्थान माना गया। धार्मिक अनुष्ठान करने एव शास्त्रो का अध्ययन करने का पूरा अधिकार इन्होने अपने पास रखा। शूद्र एव नारी को वेदो का एव धर्म-ग्रन्थो का स्वाध्याय करने और सुनने का अधिकार नही था। शूद्रो के साथ पशुओ से भी अधिक दुर्व्यवहार किया जाता था।

श्रमण परम्परा निवृत्ति-प्रधान रही है। अहिंसा श्रमणो के जीवन के कण-कण मे परिव्याप्त रही है। इसलिए श्रमणो ने हिंसा एव छूआछूत तथा नारी जाति के तिरस्कार का विरोध किया। केवल मौखिक विरोध ही नही, सक्रियरूप से हिंसक यज्ञो को बन्द कराने का प्रयास किया और शूद्र एव नारी जाति को श्रमण-सघ मे सम्मिलित करके उनकी प्रतिष्ठा को स्थापित किया और उन्हे समानता का अधिकार दिया। भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—"धर्म किसी की व्यक्तिगत बपौती नही है।

प्रत्येक व्यक्ति भले ही वह किसी भी जाति, वर्ग, लिङ्ग एग रग का क्यो न हो, धर्म को स्वीकार करके, अपने जीवन का विकास करके साधना के द्वारा मुक्ति को पा सकता है।"

उस युग मे ब्राह्मण एव श्रमणो के वीच अनेक वार विचार-चर्चाएँ हुआ करती थी। भगवान महावीर और इन्द्रभूति गौतम एव अन्य दस ब्राह्मणो के साथ जो विचार-चर्चा हुई और उन्हे ब्राह्मण धर्म से श्रमण धर्म मे दीक्षित करके गणधर पद दिया, विशेपावश्यक भाष्य मे गणधरवाद के नाम से उसका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

हरिकेशी मुनि जव भिक्षा के लिए एक ब्राह्मण के घर पर गए, तव ब्राह्मणकुमारो ने उनका तिरस्कार किया और उनसे वाद-विवाद किया। मुनि ने उनके हिंसाजन्य यज्ञो एव क्रिया-काण्डो का विरोध किया और यज्ञ का यथार्थ स्वरूप वताते हुए कहा—"तप" ज्योति—अग्नि है, जीवज्योति-स्थान है, मन, वचन, काया के योग-स्रुवा—आहुति देने की कडछी है, शरीर कारीपाग—अग्नि को प्रज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाए जाने वाले ईधन है, सयम योग शान्ति पाठ है। मैं इस प्रकार यज्ञ-होम करता हू। जिसे ऋपियो ने श्रेष्ठ वताया है।[1]

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म-स्नान कर कर्ममल से मुक्त होता हू।" इस प्रकार मुनि ने ब्राह्मणो को श्रमण धर्म का महत्व वताकर, उन्हे श्रमण धर्म की ओर आकर्पित किया।

जयघोप मुनि ने वाराणसी के विजयघोष विप्र को ब्राह्मण धर्म का असली रूप वताकर उसे श्रमण परपरा मे दीक्षित किया। मुनि ने कहा हैं—"ब्राह्मण वही है, जो ससार मे रहकर भी काम-भोगो से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल मे रहकर भी सदा जल से ऊपर रहता है।"[3] उत्तराध्ययन के २५ वें अध्ययन मे जयघोप मुनि ने विस्तार के साथ विजयघोष को श्रमणधर्म का महत्व समझाया है।

श्रमण और श्रमण

१ सक्क (रत्तपड), वौद्धश्रमणो के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्हे क्षणिकवादी भी कहते हैं। क्योकि ये आत्मा आदि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते है। भगवान महावीर के समय वौद्ध श्रमण भी विहार प्रान्त मे परिभ्रमण करते थे। ये भी ईश्वर को कर्ता नही मानते थे, वेदो को प्रमाणिक नहीं मानते थे, यज्ञो का विरोध करते थे, शूद्र को अछूत नही मानते थे, शूद्र और नारी को समान अधिकार देने के पक्ष मे थे। खान-पान के नियमो मे कोई प्रतिवन्ध नही था। मास भी ले लेते थे।

जैन श्रमण मास-मदिरा को स्पर्श नही करते थे। उनके नियम कठोर थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे एकान्तवाद मे नही,अनेकान्तवाद मे विश्वास रखते थे। पदार्थों को क्षणिक भी मानते थे, परन्तु एकान्त-रूप से नही। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु को नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य-क्षणिक मानते थे। अनेकान्त जैन-परम्परा का मूल रहा है।

उस युग मे जैन और वौद्ध श्रमणो का मिलन एव विचार-चर्चा होती रहती थी। सूत्रकृताग

---

१ उत्तराध्ययन, १२, ४४, ४६   २ उत्तराध्ययन १२, ४६

३ उत्तराध्ययन, २५, २७

सूत्र मे प्रवल तर्क के साथ वौद्ध श्रमणो के सिद्धान्तो को अयथार्थ वताया गया है। जैन-श्रमण भी अपनी तर्कों के द्वारा अपनी परपरा को समझाने का प्रयत्न करते थे।

२ तापस—श्रमण प्राय जगलो मे रहते थे। और कठोर तप मे सलग्न रहते थे। भगवान पार्श्वनाथ के युग मे कमठ भी इसी तापस परपरा मे दीक्षित हुआ था। कुमार अवस्था मे पार्श्वनाथ ने वाराणसी मे गगा तट पर पचाग्नि तपते समय उससे कहा था—कष्ट तो वहुत सह रहा है, परन्तु तत्त्व को नही जानता, विवेकशून्य होकर क्रिया कर रहा है। तप तो तप रहा है, परतु हिंसा-अहिंसा का विवेक नही रखता। इसलिए धूनि मे साप जल रहा है, उसके प्रति इसके मन मे करुणा एव दया नही है। करुणा, दया एव अनुकम्पा के अभाव मे धर्म ठहर नही सकता।"

आगमो मे तापसो के आश्रमो का उल्लेख मिलता है। भगवान महावीर भी एक वार मोराग सन्निवेश मे तापसो के आश्रम मे ठहरे थे।[1] औपपातिक सूत्र मे २९ प्रकार के तापसो का उल्लेख मिलता है। जैन आगमो मे इनके अज्ञानतप का विस्तार से उल्लेख करके उसे मोक्ष मार्ग के लिए सारहीन वताया है।[2]

३ परिव्राजक—गेरुआ वस्त्र पहनने के कारण इनको गेरुअ या गैरिक भी कहते थे। वशिष्ठ धर्म सूत्र मे कहा है—परिव्राजक को सिर मुण्डाना चाहिए, एक वस्त्र या चर्म खण्ड पहनना चाहिए, गायो के द्वारा उखाडी गई घास से अपना तन ढकना चाहिए और जमीन पर शयन करना चाहिए।" औपपातिक सूत्र मे इनके सम्वन्ध मे विस्तृत उल्लेख मिलता है।[3] भगवती सूत्र मे अम्वड परिव्राजक एव उनके सात शिष्यो का उल्लेख मिलता है, जिन्होने निर्ग्रन्थ धर्म को स्वीकार किया था।[4]

४ आजीविक श्रमण—भगवती सूत्र मे उल्लेख मिलता है कि अजीविक मत गौशालक से ११७ वर्ष पूर्व से चला आ रहा था। भगवान महावीर से पृथक होने के वाद गौशालक ने इस मत को स्वीकार किया था और इसी ने इसको अधिक फैलाया। परन्तु आज इसका केवल इतिहास के पन्नो मे ही नामोल्लेख मिलता है।[5]

गोशालक निमित्तशास्त्र मे पारगत था। वह वस्त्र नही रखता था, घोर तप करता था, घृत आदिरसो का भी परित्याग कर चुका था। इस मत के साधु हिंसा से दूर रहते थे, मद्य-मास एव कद-मूल एव उद्दिष्ट भोजन नही लेते थे। गोशालक की आचार-साधना जैन श्रमणो जैसी थी।[6] केवल नियतिवाद का एकान्त रूप से समर्थन करने के कारण, वह भगवान महावीर से पृथक हो गया। वह उत्थान, कर्म, वल, वीर्य और पुरुषार्थ को कुछ नही मानता था, जवकि भगवान महावीर पुरुषार्थ को भी स्वीकार करते थे। औपपातिक, ४१, व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ७, उ० १०, श० ८, उ० ५, श० १५ मे एव उपासकदशा अ० ७ मे आजीविक सम्प्रदाय के आचार-विचार एव उसके अनुयायियो का विस्तृत वर्णन किया गया है। गौशालक के श्रमणो के साथ जैन श्रमणो की विचार-चर्चा होती रहती थी। वे अनेक वार गोचरी आदि के समय मार्ग मे मिलते रहे हैं।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, ४६३, २ (क) औपपातिक सूत्र, ३८, (ख) निरयावलियाओ, ३,
३ वही, ३८, ४ भगवती सूत्र, ११, १२,
५ वही, १५, ६ सूत्रकृताग ३, ३, ८ टीका

३६

नारी और प्रव्रज्या :

वैदिक-ब्राह्मण परपरा मे नारी को कोई स्थान नही था। वह न तो धर्मशास्त्र पढ सकती थी और न सुन सकती थी। तथागत बुद्ध ने नारी को धर्म शास्त्र पढने-सुनने का अधिकार दिया। उसको भी पुरुष के समान माना, परन्तु उसे भिक्षु-सघ मे प्रविष्ट करने मे हिचकते रहे। तथागत बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द के कहने से उन्होने आम्रपालि को भिक्षुणी बना लिया, परन्तु साथ मे यह भी कहा दिया—आनन्द! भिक्षुणी सघ बन जाने से बुद्ध धर्म की स्थिति आधी हो गई है, यदि वह हजार वर्ष तक जीवित रहता, तो अब वह ५०० वर्ष जीवित रहेगा।

जैन परपरा मे प्रारम्भ से ही नारी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से श्रमणी-सघ का अस्तित्व रहा है। तीर्थ के अन्दर श्रमण और श्रावक वर्ग के समान ही श्रमणी एव श्राविका वर्ग को अधिकार दिए गए। तीर्थंकर भी समवसरण मे बैठते समय इस तीर्थ को अभिवन्दन करते थे। भगवान ऋषभदेव के युग मे सुन्दरी और ब्राह्मी के नेतृत्व मे तीन लाख श्रमणियाँ धर्मप्रचार एव साधना मे सलग्न थी।[1] इससे स्पष्ट होता है कि जैन-परपरा मे मुक्ति का द्वार नारी के लिए सदा से खुला रहा है। जैन-परपरा के सस्थापको के मन मे नारी को प्रव्रजित करते समय जरा भी हिचकिचाहट एव सन्देह नही रहा है।

उन्नीसवे तीर्थंकर मल्ली स्वय नारी थी और महासती बन्धुमती के नेतृत्व मे पचपन हजार साध्विया विचरण करती थी।[2] और उनके शासन मे स्त्रियो की परिषद पुरुष वर्ग से आगे बैठती थी। भगवान अरिष्टनेमि के शासन मे महासती यक्षिणी के नेतृत्व मे चालीस हजार, भगवान पार्श्वनाथ के शासन मे पुष्पचूला के नेतृत्व मे अडतीस हजार और भगवान महावीर के युग मे महासती चन्दनबाला के नेतृत्व मे छत्तीस हजार साध्वियो का परिवार भू-मण्डल पर विचरण कर रहा था।[3] कल्पसूत्र एव त्रिषष्ठिशलाका-पुरुषचरित्र मे अन्य तीर्थंकरो के समय में भी साध्वियो का उल्लेख मिलता है और उसमे यह भी बताया है कि किस तीर्थंकर के समय कितनी साध्वियाँ ने मुक्ति को प्राप्त किया। वर्तमान कालचक्र मे भगवान ऋषभदेव के युग मे सर्वप्रथम मुक्ति को प्राप्त करने वाली माता मरुदेवी नारी ही थी।

विल्सन अपने द्वारा सम्पादित विष्णुपुराण मे १६४ पृष्ठ पर लिखता है—"भागवतपुराण मे जिस ऋषभ का वर्णन मिलता है, वह जैनो के ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य कोई नही है।" डॉ० याकोबी ने भी इण्डियन एण्टीक्वियन पुस्तक मे पृष्ठ १६३ पर भगवान ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया है। और भी अनेक प्रमाण हैं, जिनसे जैन-परपरा का इतिहास भगवान ऋषभदेव से शुरु होता है। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं। अस्तु जैन-परपरा की दृष्टि से साध्वी-सघ का अस्तित्व भगवान ऋषभदेव से और इतिहासवेत्ताओ की दृष्टि से भगवान पार्श्वनाथ से रहा है।[4]

---

१ कल्पसूत्र, २१५, २ ज्ञाताधर्म कथा, १, ८, ८३, ३ कल्पसूत्र, १७७, १६२ और १३५

४. Even though we cast aside the existence of the num-order at the time of the first Tirthakara of the Jainas, who it seems, is more a lagendary figure than a historical one, the antiquity of the order can go back safely to the times of Parsva

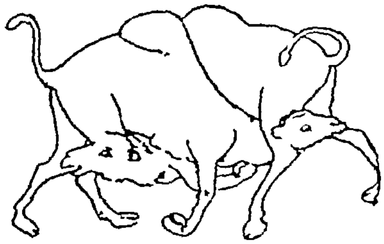
—History of Jaina Morachism, P 502.

ज्ञाताधर्मकथा एव अन्य आगमिक उल्लेखो से यह स्पष्ट होता है कि श्रमणी वर्ग का समाज पर वहुत प्रभाव था। वह भी श्रमण वर्ग की तरह निर्भय होकर धर्म प्रचार करती थी। जव भिक्षा के लिए किसी के घर पर पहुचती, तो समाज के व्यक्ति खडे होकर उसका सम्मान करते थे, स्वागत करते थे।[१]

वौद्ध भिक्षुणियों की सुरक्षा का सघ के सामने सदा प्रश्न वना रहता था। परन्तु जैन श्रमणी वर्ग के लिए ऐसा नही था। समाज मे उनके प्रति अपरिमित श्रद्धा थी। इसलिए वे सदा सुरक्षित रही हैं। श्रमण वर्ग भी उनकी सुरक्षा के लिए सदा सावधान रहता था। कठिन जगल के रास्तो से विहार करते समय आचार्य श्रमणो को उनकी सुरक्षा के लिए साथ भी रखते थे। सामान्यतौर पर श्रमण-श्रमणी साथ-साथ विचरण नही करते। लेकिन शील की रक्षा के लिए अपवाद मार्ग मे आचार्य श्रमणो को स्पष्ट आदेश देते कि साध्वियो के साथ रहकर उनके शील और सयम की रक्षा करो।[२] इससे स्पष्ट होता है कि श्रमणी वर्ग का महत्वपूर्ण आदर्श रहा है।

जैन-परम्परा मे दीक्षा का, साधु जीवन का वहुत श्रेष्ठ स्थान रहा है। उसके प्रति जन-जन के मन मे अपरिमित श्रद्धा-भक्ति एव पूज्य भावना रही है और आज भी विद्यमान है। आगम साहित्य का अनुशीलन करने पर हम इस तथ्य पर पहुँचे है कि प्राचीन युग मे भोग भोगने के वाद भोगो से विरक्त हुए व्यक्तियो ने ही साधना-पथ को स्वीकार किया है। अपवाद रूप मे एक अतिमुक्त को छोडकर एक भी वालक के दीक्षित होने का उल्लेख नही मिलता है। और वह भी योग्यतम महापुरुष भगवान महावीर के द्वारा दी गई थी।

इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि विषयभोगो की कटुता एव दु खद परिणति की अनुभूति से मानव मन मे जो त्याग-विराग की ज्योति जगती है, अन्तर्प्रेरणा जागृत होती है, वही सच्ची साधना है और वही व्यक्ति दीक्षा का योग्य अधिकारी है। अधिकारी ही अपने नियमो व व्रतो की पूर्ण साधना करने मे सक्षम होता है।



१. ज्ञाताधर्मकथा, १. ८ ७९

२ निशीथभाष्य एक अध्ययन, पृष्ठ ६६,

जैन इतिहास के दो युग प्रवर्तक व्यक्तित्वः

उपाध्याय अमर मुनि

आचार्य हेमचन्द्र जैन साहित्य एव संस्कृति के क्षेत्र मे एक महान युग-प्रवर्तक थे तो श्री लोकाशाह धर्म एव परम्परा के क्षेत्र मे एक नवयुग के प्रवर्तक ! दोनो महान् विभूतिया अपने-अपने क्षेत्र मे आज भी अद्वितीय व युग सृष्टा मानी जाती है।

कलिकाल सर्वज्ञ : आचार्य हेमचन्द्र
धर्मक्रांति के सूत्रधार : लौंकाशाह

[१]

विराट प्रज्ञालोक आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र, जिन्हे मैं केवल गुजरात व जैनसस्कृति का ही नही, वल्कि भारतीय सस्कृति का विश्वकर्मा मानता हू। उन्होने अपनी अनेकानेक मौलिक कल्पनाओ से भारतीय सस्कृति के स्वरूप को परिपूर्ण किया है।

भारत के दक्षिण-पश्चिम अचल के एक दिव्य खण्ड मे, जो गुर्जरधरा के नाम से सुप्रसिद्ध है, उदित हुआ वह दीप्त नक्षत्र एकदिन सपूर्ण भारत के सास्कृतिक क्षितिज पर सहस्ररश्मि सूर्य की भाँति चमक उठता है, अपने ज्ञानालोक से दर्शन, धर्म, सस्कृति, साहित्य कला, राजनीति, लोकनीति आदि

के समस्त अंचलो को उद्भासित कर देता है। जन-जीवन को एक नवीन स्फूर्ति और आशा से भर देता है। जिसे युग पहले पहल 'गुर्जरसर्वज्ञ' (गुजरात का सर्वज्ञ) के नाम से सम्बोधित करता है, पर आगे चल कर जब यह विशेषण उनके ज्ञानालोक की अर्थवत्ता का परिबोध कराने मे अपूर्ण और अधूरा पडता है, तो लोक-मानस 'कलिकालसर्वज्ञ' कहकर उनका अभिनन्दन करता है।

कितने विनम्र, कितने सरल

एक सामान्य वणिक्कुल मे जन्म लेनेवाला यह बालक[1] एक दिन दक्षिण-पश्चिम भारत की धर्मनीति और राजनीति का ध्रुव बन जाता है। गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह जैसे पराक्रमी और विद्यारसिक नरेशो को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत करता है। अपनी उदार धर्मनीति के कारण उसकी श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है और कुशल लोकनीति द्वारा उसके शासन-सूत्र को, राजनीति के प्रत्येक निर्णय को दिशाबोध देता है। आगे चलकर कुमारपाल जैसे पराक्रमी शैव नरेशो को तो वह परमार्हत बना देते हैं। मैं समझता हू, यह चमत्कार नही तो और क्या है?

किसी को छोटी-सी भी प्रतिष्ठा मिल जाती है, थोडा-सा भी अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो आप जानते हैं, वह अपने को क्या कुछ समझने लग जाता है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र कितने सागरवर-गभीर और कितने जलकमलवत् निर्लिप्त हैं कि कुमारपाल जैसे सम्राट उनकी चरणधूलि शिर पर लगाते हैं, शासन के हर जनमगल निर्णय पर उनकी सम्मति जानना चाहते है, और वे फिर भी इतने सरल और इतने विनम्र कि विरोधी उन्हे 'हेमड सेवड' कहकर अपने आक्रोश की ज्वाला से दग्ध करने का प्रयत्न करते है, तो वे सरलता के साथ कमल पुष्प के समान मुस्करा देते हैं और उसमे सशोधन उपस्थित करते हैं—"भाई, व्याकरण की दृष्टि से 'हेमड सेवड' अशुद्ध है, 'सेवड हेमड' शुद्ध है 'सेवड' विशेपण है, अत विशेषण का पहले प्रयोग होना चाहिए न?", विनम्रता और सरलता का कितना बेजोड उदाहरण है।

करुणा व स्नेह का अमृतसरोवर :

आचार्य हेमचन्द्र के चरित्र का सबसे विलक्षण रूप यह है कि वह जितना गम्भीर, चिंतक और सुदृढ है, उतना ही विनम्र, सरल और करुणा एव स्नेह से परिपूरित है। उनके जीवनचित्र को सूक्ष्मता से देखने पर ऐसा लगता है कि अमृतसरोवर की उच्छल लहरो का एक दिव्य आवर्त उस पर मडराया हुआ है। किसी लहर मे विनम्रता की कणिकाए हैं, तो किसी मे सरलता का शीतल-स्पर्श। किसी मे मन की स्वच्छता की दुग्ध धवलिमा है, तो किसी मे करुणा व स्नेह का सात्विक वेग है। उनके जीवन की अनेकानेक घटनाए मेरे स्मृति पटल पर उभर रही है, जिनमे उनके चरित्र की गरिमा छन-छन कर सामने आ रही हैं।

एक बार की बात है। आचार्य हेमचन्द्र विहार करते हुए राजधानी पाटन मे आ रहे थे। पाटन से कुछ दूर आचार्य एक छोटे से गाव मे ठहरे। वहाँ एक गरीब विधवा बहन थी, आय का कोई

---

१ प्रभावकचरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि० स० ११४५ की कार्तिकपूर्णिमा को धधुआ ग्राम (अहमदाबाद के उत्तर पश्चिम मे ६२ मील) के चाचदेव नामक वणिक के घर पर होता है। बालक का जन्म नाम चगदेव रखा जाता है।

साधन नही होने से सूत कातती और मोटा-सोटा कपडा बुनकर बडी कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी। उस बहन के भावनाशील मन मे आचार्य को अपने हाथ से काते हुए सूत की चादर वहराने की प्रवल भावना जागृत हुई। आचार्य श्री से आग्रह किया तो बहन की श्रद्धा और भावना ने आचार्य को गद्‌गद् कर दिया। अत्यन्त श्रद्धा से दी हुई वह चादर आचार्य ने ग्रहण कर ली और उसी चादर को धारण किए वे पाटन मे पधार रहे थे।

सम्राट कुमारपाल जब अपने गुरुदेव के स्वागत मे अगवानी के लिए पहुँचा और उनके शरीर पर यह मोटी खादी की चादर देखी तो पहले ही क्षण चौंक उठा! अनन्तर विनम्र प्रार्थना की कि—"आचार्यप्रवर! यह क्या? आप सम्राट कुमारपाल के गुरु और यह मोटी चादर? शोभा नही देती है आपके शरीर पर! कृपया, दूसरी चादर बदल लीजिए।"

आचार्य ने सम्राट के मन मे अह की लहर देखी। पूछा—"क्यो? इसमे क्या बात हो गई?"

"गुरुदेव! इससे तो मुझे शर्म आती है। आपके शरीर पर तो बहुमूल्य कौशेय परिधान होना चाहिए सम्राट के गुरु के योग्य परिधान ।"

बात काटकर बीच ही मे आचार्य ने ओजस्वी भाषा मे कहा—'सम्राट! इस चादर से तुम्हे शर्म आती है? और जिन गरीबो की यह रोटी रोजगार है, उनकी दयनीय स्थिति पर तुम्हे कोई शर्म नही आती? तुम्हारे जैसे धर्म-निष्ठ सम्राट के राज्य मे ऐसी भी गरीब एव असहाय विधवा बहने है, जिन्हे यह सब श्रम करने पर भी पेट भर खाना नही मिलता। मेरे लिए तो यह चादर सादगी का निर्मल शृङ्गार है। इस चादर मे जो श्रद्धा स्नेह व श्रम के सुनहले धागे हैं, वे तुम्हारी रेशमी चादरो मे कहाँ मिलेंगे?"

सम्राट का सिर झुक गया। कहते हैं कि कुमारपाल ने तभी घोषणा की कि राज्य की गरीब व असहाय विधवाओ के लिए शासन प्रति वर्ष एक करोड मुद्रा खर्च करेगा।

यह है आचार्य की करुणा व स्नेह का अमृतसरोवर। जिसकी लहरो ने समाज की दीनता, गरीबी और दुःख की कालिमा का प्रक्षालन किया।

परपरा का परिष्कार :

आचार्य के अहिंसा व करुणा के उपदेश से प्रेरित होकर जब सम्राट कुमारपाल ने अपनी कुल देवी के समक्ष पशुबलि बद करदी, तो कुछ पुजारी-पुरोहितो ने भ्रम फैलाया कि देवी कुपित होकर राज्य को सकट मे डाल देगी। सम्राट असमजस की स्थिति मे आचार्य के चरणो मे पहुचे। धैर्य डगमगाया देखकर आचार्य ने इतना सुन्दर समाधान किया कि सम्राटका मन स्थिर हुआ सो हुआ, एक ही रात मे सम्पूर्ण जनमत भी बदल गया। आचार्य के परामर्श से सम्राट ने देवी के मदिर मे पशुओ को उन्मुक्त छोड दिया, कि देवी को यदि बलि अभीष्ट है तो वह अपने आप बलि ले लेगी! प्रात जब मन्दिर के द्वार खुले तो सभी पशु आनन्द मे हरी-हरी घास चरते मिले। सम्राट ने और जनता ने एक स्वर से स्वीकार किया कि देवी को बलि नही चाहिए, बलि स्वार्थी पुजारियो को चाहिए।"

मैं आपसे बता रहा था कि हजारो वर्षो से चली आती इस हिंसक परम्परा को आचार्य ने कितने सहज और मधुर समाधान के साथ समाप्त कर दिया। परपरा एक दृढ सस्कार बन जाती है उन-

वद्ध सस्कारो का वदलना सहज नही होता। उनके पीछे प्रवल जनमत होता है। अत जनता के चिरागत सस्कार और विचार प्रवाह को वदल देना और वह भी मधुरता तथा सरलता से। वस्तुत यह एक महान दिव्य कार्य था।

आचार्य हेमचन्द्र मे पुरानी परपरा को नया रूप देकर उसे समाजोपयोगी बनाने की अद्भुत कला थी। वस्तुत यह एक विलक्षणता ही थी कि उन्होंने पुरानी ज्योति को बुझने नही दिया, उसी मे नया स्नेहदान करके उस ज्योति को आगे नये रूप मे प्रज्वलित करते गये। पुराने प्रकाश और तेज को अक्षुण्ण रखकर जनचेतना को सतत नव जागरण देना—यह आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा का चमत्कार है।

नवसाहित्य सर्जक :

दर्शन और साहित्य के चलते आये पुराने मानदडो, परिभाषाओ और विचारस्रोतो को उन्होने नई दिशा दी, नया रूप दिया। सस्कृत व्याकरण के क्षेत्र मे उन्होंने अपने युग का सर्व श्रेष्ठ और सर्वांगपूर्ण व्याकरण **श्री सिद्धहैम शब्दानुशासन** तैयार कर दिया। सरल सक्षम सूत्र योजना और सुगम सज्ञाओ के कारण उस युग का विद्वद्वर्ग इस व्याकरण पर मुग्ध हो उठा। जिसकी कमनीयता के सम्वन्ध मे आज भी यह उक्ति प्रसिद्ध है—'**श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा. श्री सिद्धहेमोक्तय**।"[1] तत्कालीन सस्कृतभक्त विद्वत्समाज मे प्राकृत भाषा की प्रतिष्ठा और सुव्यवस्थित भाषा शास्त्र की दृष्टि से उन्होने प्राकृत व्याकरण की भी सरचना की, जो सिद्ध हेमशब्दानुशासन के आठवे अध्याय के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। व्याकरण के ज्ञान को काव्य की मधुरता के साथ प्रस्तुत करने के लिए दण्डी की तरह उन्होने भी द्वयाश्रय काव्य का निर्माण किया, और वह भी एक नही, वल्कि दो-दो। सस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य।

कोश भाषाज्ञान की मूल सपत्ति होती है। सस्कृत कोषकारो मे जहाँ धनजय और अमर सिंह का नाम आता है, वहाँ उनमे भी अधिक आदर के साथ आचार्य हेमचन्द्र का नाम लिया जाता है। उन्होंने एक नही, वल्कि चार कोशो की रचना की जिनमे अभिधानचिन्तामणि तो एक विशालकाय कोश है।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। साहित्य का कोई भी अग उन्होने अछूता नही छोडा। वाग्भट और मम्मट की तरह उन्होने काव्य-शास्त्र के विशद विज्ञान हेतु काव्यानुशासन का प्रणयन किया, जिसमे कुछ परिभाषाएँ तो वहुत मौलिक और नवीन हैं। काव्य के पुराने प्रयोजन **'यशसे, अर्थकृते कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'** आदि जो चले आरहे थे, उसमे आचार्य ने एक सर्वथा नवीन प्रयोजन—**'काव्यमानन्दाय'** और जोडा, उसी का **'स्वान्त सुखाय'** रूप वर्तमान मे सर्वाधिक सृजनात्मक प्रेरणा के रूप मे माना गया है।

जैन जगत के व्यास :

महाभारत के लिए एक कहावत है—**"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"**—जो

---

१ भ्रात सवृणु पाणिनिप्रलपित कातन्त्रकंथा वृथा,
मा कार्षी कटु शाकटायनवच क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्जठरयत्यात्मानमन्यैरपि,
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा. श्री सिद्धहेमोक्तयः॥

इसमे है, वही दूसरी जगह है, जो इसमे नही है वह कही भी नही है। आचार्य हेमचन्द्र के त्रिपष्टिशलाका पुरुप चरित्र के सम्वन्ध मे भी यदि यही वात कही जाए तो कोई अत्युक्ति नही होगी।[1]

भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर तक के जैन इतिहास को सकलित करने का भगीरथ प्रयत्न सर्वप्रथम आचार्य भद्रवाहु ने आवश्यक निर्युक्ति मे किया था। पर वह इतिहास इतना सक्षिप्त व सकेत मात्र था कि विना टीका व भाष्य के उसे केवल स्मृतिसकेत (नोट्स) मात्र कहा जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कमी को पूरा किया। उन्होने भगवान् ऋपभदेव से लेकर अपने युग तक के सपूर्ण जैन इतिहास को एक क्रमवद्ध रूप दिया, परम्परा दी और वह भी काव्यात्मक शैली मे। त्रिपष्टि-शलाका पुरुप चरित के माध्यम से न केवल जैन परपरा का एक विशद इतिहास उपस्थित होता है, अपितु महाभारत की तरह उसमे भी अध्यात्म, सस्कृति, नीति, धर्म और आचार की अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ भरी हुई है। मैं तो मानता हूँ आचार्य ने इस रचना के द्वारा जैन साहित्य की वहुत वडी रिक्तता को भरा है, जैन परम्परा व इतिहास को एक अमरता प्रदान की है। वैदिक साहित्य मे जो स्थान महाभारत-कार व्यास का है, लगभग वही स्थान जैन-साहित्य मे आचार्य हेमचन्द्र का है। वे जैनजगत के व्यास कहे जा सकते हैं। जिन्होने जैन साहित्य को सर्वांगता एव सपूर्णता प्रदान की है।

आचार्य हेमचन्द्र की कृतियो को जव कभी पढने का अवसर मिलता है, तो मेरे मन मे एक सहज श्रद्धा स्फुरित हो उठती है कि वह महान आचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी था। 'सर्वतोमुख' शव्द मैं सामान्य अर्थ मे नही, किन्तु एक विशेप अर्थ मे कह रहा हू। भारतीय धर्म की एक कल्पना है कि व्रह्मा के चार मुख होते हैं। हमारे यहा तीर्थंकरो के लिए भी यह कहा जाता है कि समवसरण मे उनके मुख चारो ओर दिखाई देते हैं। यह एक अतिशय माना गया है। शव्द सत्य के रूप मे लोगो को यह वात अटपटी लगती है, किन्तु हम यदि शव्द के आवरण को हटाकर भाव का स्पर्श करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि जिस व्यक्ति का ज्ञान सर्वांगीण होता है, वह जीवन के किसी भी पार्श्व को छू ले, प्रकाश ही प्रकाश जगमगाता मिलेगा। जिसका सपूर्ण जीवन ज्ञानालोक से प्रदीप्त होगा, उसे हम व्रह्मा, सर्वज्ञ, चतुर्मुख या सर्वतोमुख आदि शव्दो से पुकारते हैं। प्रतिभा की इसी विलक्षणता एव व्यापकता के कारण उन्हे 'कलिकाल सर्वज्ञ' के विरुद से भूपित किया गया। साहित्य का क्या, जीवन के किसी भी अग को उन्होंने अछूता नही छोडा—यह एक विलक्षण वात है। कभी-कभी सोचता हू उनकी प्रतिभा मे भारतीय इतिहास की सहस्रो प्रतिभाएँ एक साथ समाहित हो गई है। त्रिपष्टि शलाकाचरित देखने पर वे जैनजगत के विद्यापीठ पर व्यास के समकक्ष खडे प्रतीत होते है। व्याकरण उठाकर देखता हू तो पाणिनि और शाकटायन से भी आगे वढे लगते है। प्रमाणमीमासा का अध्ययन करते हैं तो लगता है वे सुप्रसिद्ध वौद्धा-चार्य धर्मकीर्ति की धवलकीर्ति के धनी हैं। दो-दो द्वयाश्रय महाकाव्यो को पढते ही महाकवि दण्डी के साथ उनकी तुलना करने का जी होता है। काव्यानुशासन का अध्ययन करने पर मम्मट और वाग्भट के साथ आचार्य को प्रतिष्ठित करने का सकल्प जग जाता है। अभिधानचिन्तामणि जव देखें तो अमर और

---

१ महाभारत जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति का प्रमुख इतिहास ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित भी जैनधर्म व सस्कृति का महान् इतिहास ग्रन्थ है—यह नि सदेह कहा जा सकता है।

धनंजय की प्रतिभा का समावेश आचार्य मे होता प्रतीत होता है और योगशास्त्र का अवलोकन करने पर योगदर्शनकार पतजलि की स्मृति हुए विना नही रहती। अर्हन्नीति का अध्ययन करते लगता है, यह जैन जगत् का मनु उपस्थित हो रहा है। इसप्रकार उनकी सर्वागीण प्रतिभा पर मन श्रद्धा से झूम-झूम जाता है।

आज कार्तिक पूर्णिमा के दिन भारतीय क्षितिज के सपूर्ण कलामडित कलाधर आचार्य हेमचन्द्र की यह स्मृति हमारे मन मस्तिष्क को गुदगुदा रही है। और उनके विलक्षण कृतित्व से एक ओर दिव्य प्रेरणाएँ जग रही हैं, तो दूसरी ओर मन श्रद्धाविमुग्ध हुआ पुलक रहा है।

[२]

पन्द्रहवीं शताब्दी की पृष्ठभूमि :

जैन इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि श्रमणभगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक जैन परम्परा एक अखण्ड प्राणवान् परम्परा रही है। भद्रबाहु के पश्चात् जैन सघ दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप मे दो टुकडो मे विभक्त हो जाता है। इसका परिणाम होता है कि उसकी तजस्विता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। पूर्व भारत, जो कभी श्रमण परपरा का केन्द्र रहा था, वह अब शून्य होने लगता है और जैनश्रमण भारत के दक्षिण तथा पश्चिम अचल मे चले जाते हैं। दक्षिण मे जानेवाले जैन श्रमण अधिकाश दिगम्बर श्रमण होते हैं। दक्षिण भारत मे जहा शकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के स्पृश्यास्पृश्य धर्म का बोलवाला रहा है, जैन विचार उससे बहुत दिन तक अप्रभावित नहीं रह सका। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे परिस्थितियो व जन-प्रवाह के साथ सामजस्य विठाने के लिए जैन-धर्म का एक दक्षिण भारतीय सस्करण तैयार हो गया, जिसकी आदि मे वेदान्त (निश्चयनय) की भूमिका लिखी गई तो उसके अगले पृष्ठो पर स्त्री-अनिर्वाण, शूद्रान्न परिहार आदि अध्याय जुड गए। चूकि ये विचार जैन-धर्म के मूल विचार नही थे, अत उत्तर पश्चिम भारत के जैन श्रमण इस परम्परा से विलकुल दूर, और कही-कही तो प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे भी खडे हो गए।

भारत के उत्तर-पश्चिम भाग मे जो श्रमणपरपरा फैली, उसमे प्राय श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण थे। मैं नहीं मानता कि यह परम्परा भी अपने मूल रूप मे अविचल एव अक्षुण्ण रही हो। यदि वैसा हुआ होता तो क्रान्ति की बात सर्वथा असगत-सी प्रतीत होती। वडे-वडे मठो और मठाधीशो के सामतशाही वातावरण मे जो मीठा चेपी रोग छिपा था, उसने धीरे-धीरे जैन श्रमणो को भी आक्रात कर लिया। वे भी चैत्य और धर्म प्रभावना के नाम पर धन की वरसा करने लगे, जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर वडे-वडे आडवर रचे जाने लगे। श्रमण वर्ग अपने 'सज्झायझाणरए स भिक्खू' के आदर्श से हटकर, लोकसग्रह मे जुट गया। 'अणगार' और 'अणिकेयचारी' कहलाने वाला श्रमण अव चैत्यवासी और उपाश्रय-उपधिधारी बन रहा था। राजाओ, वादशाहो, ठाकुरो आदि को यत्र-मत्र-तत्र का चमत्कार वताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा मे कूद पडा। भले ही इन सब के पीछे जैनधर्म और सघ की प्रभावना का उद्देश्य रहा हो, पर यह भी मानना होगा कि यह रास्ता गलत था, इससे जैनसघ की मूलभित्ति सुदृढ नही हुई। हा, कुछ आचार्यों व मुनियो की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और महिमा मे अवश्य ही चार-चाद लग गए।

मैं यह तो नही मानता कि कोई भी परम्परा किसी काल मे अपने मूल रूप से सर्वथा दूर हट जाती है । श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद भी अनेक ज्योतिर्धर आचार्य जैन परम्परा मे हुए हैं जिन्होने इसके गौरव को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है। कुमारिल्ल, शकराचार्य, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे प्रतिस्पर्धी विद्वानो के आघातो एव तर्क तूफानो से रक्षा करके इसकी नाव को खेते रहे है, बडी कुशलता के साथ ! यह सब कुछ होते हुए भी श्रमणपरम्परा मूलत अपने अभ्युदय की ओर नहीं बढ सकी, स्वेच्छाचार और ऐहिक आकर्षणो मे अपने स्वत्व की रक्षा नही कर सकी—यह भी खेद के साथ स्वीकार कर लेना पडता है। भगवान् महावीर ने धर्मक्राति की जो गगा बहाई थी, धीरे-धीरे उसमे काफी शैवाल आ गई थी, और उसकी धारा भी प्राय शुष्क व क्षीण-सी हो गई थी।

परिस्थितियो की विवशता और श्रमणवर्ग की शिथिलता, विचार-चितन का अभाव और गतानुगतिकवृत्ति का प्रावल्य—ये कुछ चिह्न थे, जो अब किसी नई क्राति और हल-चल का सकेत दे रहे थे। अत पन्द्रहवी शताब्दी पूर्ण होते-होते भारत के उसी पश्चिमाचल गुजरात मे लोकाशाह क्रान्ति का शखनाद करते है।

लोकाशाह मे एक बहुत बडा आत्मबल और साहस था कि वे गृहस्थ साधक होते हुए भी श्रमण यतिवर्ग के विरुद्ध क्रान्ति का झडा उठाकर खडे हो जाते है। एक गृहस्थ साधक के द्वारा धर्म-क्रान्ति का सूत्रपात इतिहास का दुर्लभ सत्य है। साधारण मनुष्य मे यह साहस होना बहुत ही कठिन है। एक तो गृहस्थ वैसे ही साधु-सन्यासी से डरा-डरा सा रहता है—वह उसे अग्नि से कम भयानक नही मानता—

राजा जोगी अगनि जल इनकी उलटी रीत।
डरता रहियो परसराम थोडी पालें प्रीत ॥

और उसमे भी तत्कालीन यतिवर्ग मत्र-तत्र के चमत्कारो के लिए भी प्रसिद्ध था, बडे-बडे बादशाहो को भी उसने चमत्कार दिखाए थे, उस यति वर्ग से लोहा लेना, उन्ही की जडो पर प्रहार करना, कितना कठिन और साहस का काम था यह ? बात यह है कि जिसके पास सत्य का बल होता है उसे कभी किसी से भय नही होता, उसका हृदय सदा साहस और आत्म-विश्वास से भरा रहता है।

गभीर शास्त्रज्ञाता :

लोकाशाह का परिचय हमे आज जो मिलता है उसमे सबसे पहली बात यह कही जाती है कि वह एक लहिया लिपिक) था। उसने शास्त्र लिखते-लिखते जब पढे और उनका अर्थ समझा, तो वह चोक उठा।

मैं सोचता हू, यह एक अधूरा सत्य है। कोई भी लिपिकार, उस विषय को समझ सके जिसे वह लिख रहा है आवश्यक नहीं। यदि पुस्तके देखने और लिखने से इतना ज्ञान हो जाता हो तो लिपिकार (नकल करनेवाले) तो आज के ये टाइपिस्ट, ये कम्पोजिटर और ये लाइब्रेरियन भी हैं। ये सब से अधिक ज्ञानी बन जाने चाहिएँ। बात यह है कि पढना कुछ और बात है, और उनका मनन-चिंतन करना कुछ और बात है। लोकाशाह केवल एक लिपिकार ही नही थे, वे अध्ययनशील चितक भी थे। उनका अध्ययन तलस्पर्शी था। यह बात मैं केवल श्रद्धा के कारण नही, किंतु इतिहास के आधार पर कह रहा हू। लोकाशाह की दो कृतिया आज प्राप्त होती हैं—लुकाना सद्दिया ५८ बोल' और लुंकानी हुंडी ३३

बोल'। आचाराग, सूत्रकृताग, भगवती, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार प्रज्ञापना आदि अनेक आगम ग्रन्थो तथा आचारागनिर्युक्ति तथा आचारागवृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, वृत्ति, निशीथचूर्णि आदि गुरुगभीर ग्रथों की जो चर्चा व उनके प्रमाण उपस्थित किये गये है, वे सिद्ध करते है कि वह एक सामान्य लिपिकार नही, वल्कि आगमो का गभीर अभ्यासी था।

क्रान्ति का आग्नेयपथ :

लोकाशाह का जीवन यह स्पष्ट कर देता है कि सत्य का साधक कभी असत्य को बरदाश्त नही कर सकता। लोकाशाह ने जव आगम के साथ तत्कालीन साधु जीवन और आचार-व्यवहार की तुलना की होगी, तो अवश्य ही उनकी चेतना सहसा चौक उठी होगी। अहिंसा और करुणा के अवतार भगवान् महावीर ने भिक्षु के लिए जहाँ एक फूल की पखुडी को छूने का भी निपेध किया है, एक अन्न के कण के सग्रह को भी पाप वताया है, वहाँ भक्ति और पूजा के नाम पर फूलो के अनर्गल ढेर कसे लग सकते हैं? पूर्ण अकिचन वीतराग की मूर्ति पर सोना और हीरे पन्ने कैसे सजाये जा सकते हैं? समता और वैराग्य-प्रधान श्रमणधर्म केवल आडवर और पूजा प्रतिष्ठा के दलदल मे वुरी तरह दव जाए—यह वात किसी भी सत्यशोधक को उद्वेलित कर सकती है। मैं समझता हू सत्य की यही प्रवल प्रेरणा लोकाशाह को तत्कालीन श्रमणयतिवर्ग के विरुद्ध क्राति के आग्नेयपथ पर वढा देती है।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है लोंकाशाह ने विद्रोह का मर्यादाहीन कठोर पथ नही अपनाया था। उनके स्वर मे सत्यशोधक की दृढता अवश्य है, पर उसके साथ ही हितचितक की मृदुता भी है। वे अपने यति वर्ग से विनम्र भापा मे कहते थे—"जो वुद्धिमान हैं, वे मेरी वातो पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी वातो को समझे।" सत्य को प्रस्तुत करने की यह मधुर व विचारपूर्ण शैली उनकी क्राति को व्यापक व सफल वनाने का मूल मत्र था। यही कारण है कि कुछ ही समय मे उनकी क्राति मे एक प्रवाह और वल आ जाता है। लखमसी, जो पाटण का एक वहुत धनाड्य व्यापारी था, वह लोकाशाह का समर्थक वन जाता है। धीरे-धीरे जनता मे विचारक्राति की एक लहर दौड जाती है, कुछ खलवली-सी मच जाती है और पुरानी परपरा के सिहासन डगमगाने लगते है।[1]

उथल पुथल का युग :

कुछ इतिहासकार यह मानते है कि पन्द्रहवी शताब्दी विश्व मे धर्म-क्राति की शताब्दी थी। यूरोप मे उन दिनो पोप के विरुद्ध जनमत जागृत हो रहा था। जनता मे धार्मिक चेतना प्रवुद्ध हो रही थी, और मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका नेतृत्त्व कर रहे थे। भारत मे भी उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक धर्म, समाज और राजनीति मे उथल-पुथल थी। पजाव मे गुरु नानकदेव भारत के अद्वैत और अरव के इस्लाम से हिंदूधर्म का नया सस्करण तैयार कर रहे थे,

---

१ उस समय की स्थिति का अकन करते हुए लोकाशाह के समकालीन सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीकमलसयम ने लिखा है—

डगमगपडियु सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुकइ वात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुउ लखमसी।
—कुमतकदली कृपाणिका (वि० १५४४)

जिसमे समानता और वन्धुता का आदर्श था। पूर्वभारत मे कवीर जैसे सत, मदिर मस्जिद-दोनो का ही उपहास करके धर्म के वाह्याडबरो के विरुद्ध क्राति का शखनाद कर रहे थे।

दक्षिण मे उससे भी कुछ पूर्व नामदेव जैसे सतो के स्वर गूज उठे थे, जो न मदिर की पूजा मे विश्वास करते थे और न मस्जिद की नमाज मे।[1] धार्मिक आडवर, वाह्याचार, मूर्तिपूजा आदि के विरुद्ध समस्त भारत मे एक अजव लहर उठ रही थी, जो जन-मानस को शुद्ध और सरल धर्म साधना की ओर उडाये ले जा रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकाशाह अकेले नही, भारत का अधिकाश चितक वर्ग उस युग मे धार्मिक चेतना और क्रान्ति से आलोडित है।

लोकशाह के सम्वन्ध मे कुछ विद्वानो का यह भी विचार है कि प्रारभ मे उन्होने केवल साधु-वर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवाज उठाई थी, किन्तु धीरे-धीरे उनका विरोध ज्यो-ज्यो प्रवल होता गया, और उसमे विरोध के नये-नये स्फुलिंग स्फुटित होते गये, त्यो-त्यो मूर्तिपूजा-विरोध, वेषपरिवर्तन आदि की वाते भी उसमे जुडती गई। यह भी हो सकता है कि मूर्तिपूजा के विरोध का वातावरण उस युग मे सर्वत्र वन चुका था। इस कारण भी लोकाशाह की वात को वल मिला हो, और फिर लखमशी आदि के साथ विचार चर्चा मे ज्यो-ज्यो नये-नये मोड आते गए, त्यो त्यो मतभेद की वातें अधिकाधिक विस्तृत होती गई हो।

इन सव वातो को समझ लेने पर भी यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि लोकाशाह मे एक निष्ठावान् और तेजस्वी व्यक्तित्व निखर रहा था। जिस सत्य के दर्शन उन्होने किए उसे प्रकट करने मे कभी कतराये नही। जिस ज्योति को उन्होने स्वय प्राप्त किया, उसे तूफानो और प्रभजनो के वीच भी जलाते ले गए। सत्य के लिए उन्होने लोक प्रतिष्ठा का व्यामोह छोडा, जीवन की सुख सुविधाओ का त्याग किया, वडे से वडे विरोध और आतक का सामना किया। उनकी धर्मक्रान्ति हजारो-हजार साधको के लिए प्रकाश का मार्ग वन गई, जीवन की सवल वन गई। जीवन के अत मे भले ही सुकरात की तरह उन्हे भी विप मिला हो, किन्तु जिसने जीवन भर अमृत का मथन किया हो, अमृत वाटा हो, वह भला विप से कभी विचलित हुआ है? मैं तो मानता हू वह जगत का विष वटोर कर दूर फेक गया और हमारे लिए सत्य का अमृत छोड गया। स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा लोकाशाह के उस अमृतमथन की आज भी ऋणी है, और सदा रहेगी।

१ हिन्दु पूजे देह रा मुसलसान मसीत।
नामा सोई सेविया, जह देहरा न मसीत॥ —नामदेव

जैन परम्परा में

आचार्य का स्वरूप

● मरूधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म०

दशवैकालिकसूत्र के नवमे अध्ययन मे वताया गया है कि साधु-सघ का सचालक आचार्य कैसा होना चाहिए ? सघ की व्यवस्था, सघ का सुचारुरूपेण सचालन, समृद्धिपना और सघ की सुदृढता ये सारी वाते किसके ऊपर आधारित हैं ? किस पर पर निर्भर हैं ? उत्तर मे कहा जायगा कि सघ-सचालक पर निर्भर है। अर्थात् आचार्य पर।

आचार्य के गुण

यदि सघ का सचालक कुशल, लोकव्यवहारज्ञ, दूरदर्शी और निपुण है, तो उसके संघ की व्यवस्था मे कभी गडवडी उत्पन्न नही हो सकती है। वह सघ का आचार्य कैसा होना चाहिए ? इस विषय मे आगम मे कहा गया है—

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध छावासो।
मेरुव्व णिप्पकपो सुरो पचाणणो वज्जो॥
देस-कुल-जाइसुद्धो सोमगो सग-भग-उम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आयरियो एरिसो होइ॥

संगह-णिग्गह कुसलो सुत्तत्थ विसारओ पहियकित्तो।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरियो॥

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य मे स्नान करने से अर्थात् परमागम के पूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोषरीति से छह आवश्यको का पालन करते है, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर है, सिह के समान निर्भय हैं, श्रेष्ठ है, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्त्ति हैं, अन्तरग और वहिरग दोनो प्रकार के परिग्रह-सग से उन्मुक्त है और आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसा महापुरुप आचार्य होता है। जो सघ के सग्रह अर्थात् दीक्षा देने मे, और निग्रह अर्थात् प्रायश्चित दड देने मे कुशल हो, सूत्र और अर्थ की विचारणा मे विशारद हो, जिनकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल रही हो और जो सारण (आचरण) वारण (निषेध) एव साधन (व्रतो का सरक्षण) रूप क्रियाओ मे निरन्तर उद्युक्त हो, ऐसा व्यक्ति ही आचार्य होने के योग्य है।

आचार्य की परिभाषा और भेद

आचार्य का शब्दार्थ है—आचारवान। शब्दशास्त्र के विद्वानों ने बताया है—

आचार ग्राह्यत्याचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।[1]

जो दूसरों को आचारवान बनाता है, शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन करता है तथा आचार व शास्त्र की शिक्षा-द्वारा बुद्धि को परिमार्जित करता है वह आचार्य कहलाता है।

शास्त्र मे आचार्य के कई प्रकार बताये हैं। राजप्रश्नीय सूत्र मे तीन प्रकार के आचार्य बताये गये है—

तओ आयरिया पण्णत्ता—
कलायरिए, धम्मायरिए, सिप्पायरिए।[2]

तीन प्रकार के आचार्य कहे हैं—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य।

धर्माचार्य के कई प्रकार बताये हैं।

आचार्य के ज्ञान, उपशम, वैराग्य आदि गुणों की अपेक्षा से चार प्रकार बताये हैं—

१ आंवले के मीठे फल के समान।[3]
२ दाख के मीठे फल के समान।
३ खीर के समान।
४ इक्षुखंड के समान।

आचार्य के यह भेद उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार अन्य उपमा देकर भी आचार्य के चार भेद बताये गये हैं। जैसे[4]

(१) चण्डाल के करण्डतुल्य—षट्प्रज्ञक गाथादि रूप सूत्रधारी एवं विशिष्ट क्रियाहीन।

(२) वेश्या के करण्डतुल्य ज्ञान अधिक न होने पर भी वाग्आडम्बर से मुग्धजनों को प्रभावित करने वाला।

(३) गृहपति के करण्डतुल्य—स्व-समय पर-समय का जानकर एवं क्रियादि गुणयुक्त।

(४) राजा के करण्डतुल्य – समस्त गुणों से युक्त आगम मे वर्णित आचार्य के गुण व गरिमा से संयुक्त।

आचार्य की गरिमा

चौथे प्रकार के आचार्य किस प्रकार से संघ मे शोभा को प्राप्त होते हैं इस विषय मे कहा गया है—

जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल भारहं तु।
एवायरिओ सुयसील - बुद्धिए, विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥[5]

---

१ निरुक्त अ० १ खण्ड ४।१२   २ राजप्रश्नीयसूत्र
३ स्थानांग ४।३।३२०   ४ स्थानांग ४।४।३४८
५ दशवैकालिक ६।१४



जैसे रात्रि के अन्धकार का नाशक तपन-किरण वाला सूर्य दिन मे सारे भरत क्षेत्र को अकेला ही प्रकाशमान करता है। इसी प्रकार आचार्य भी सारे सघ को अपने तेजस्वी प्रताप रूप प्रकाश से सदा प्रकाशमान करता है और जो अपने श्रुत शील और बुद्धि से सघ में इस प्रकार विराजमान है जैसे कि इन्द्र देवो के मध्य मे विराजता है। आचार्य के विषय मे और भी कहा गया है—

जहा ससी कोमुई जोगजुत्तो नक्खत्त तारागणपरिवुडप्पा।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के एव गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥[1]

जिस प्रकार शरद्पूर्णिमा का चन्द्रमा अट्ठाईस नक्षत्र, अठ्यासी ग्रह और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६,९७५) कोडा-कोडी तारो के परिवार से घिरा हुआ निर्मल मेघ-रहित आकाश मे शोभायमान होता है, उसी प्रकार गणका स्वामी—सघपति भी अपने सघ के साधुओ के मध्य मे शोभायमान होता है।

शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा के लिए कहा जाता है वह अमृत बरसाता है, इसीलिए इसका नाम भी सुधारोचिप् या अमृतवर्षी रखा गया है। सिद्धान्त की दृष्टि से चन्द्र इन्द्र तो आसोज शुक्ला पूर्णिमा को चन्द्र विम्व पर आता है। शेप दिनो मे तो उसके प्रतिविम्व ही आते है। उक्त दोनो पूर्णिमाओ मे चन्द्रमा से वरसती हुई अमृतमयी किरणो के सम्पर्क से जगलो मे उत्पन्न होनेवाली अनेक औपधिया अमृत से परिपूर्ण होकर महान् गुणवाली हो जाती हैं। आज भी अनेक अनुभवी और पुराने वैद्य लोग उक्त पूर्णिमाओ के चन्द्र प्रकाश मे रात्रिभर औपधिया रखते हैं कि जिससे उनमे भी अमृत का प्रभाव पड सके और वे अति लाभकारी वन जावें। इसी कारण चन्द्रमा को औपधीश्वर भी कहते है। इस प्रकार का अमृतवर्षी चन्द्रमा जैसे अपने पूरे परिवार के साथ गगन मडल मे शोभा पाता है, इसी प्रकार से उपर्युक्त सर्व गुण-सम्पन्न आचार्य भी अपने मुनि मडल मे शोभा पाता है।

जव चन्द्रमा मे शीतलता है, अमृतवर्षीपना है, प्रमोद उत्पादकता है और प्रकाशमान ज्योति है, तभी तो वह जगदानन्द-दायक कहा जाता है। और सारा ससार उसे देखकर अपनी तपन को बुझाकर शान्ति का अनुभव करता है। इसी प्रकार श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वीरूप चतुर्विध सघ का स्वामी आचार्य को कहा गया है। अथवा जैसे अपने ऐश्वर्य, तेज और प्रभाव से इन्द्र अपने देव-परिवार के मध्य शोभा पाता है उसी प्रकार आचार्य को भी कहा गया है। आचार्य को शीतगृह—आज की भाषा मे वातानुकूलित गृह के समान कहा गया है। शास्त्रो मे वर्णन आता है, चक्रवर्ती का भवन ऐसा होता था जो सव ऋतुओ मे एक समान सुखप्रद तथा ऋतु के अनुकूल रहता था। उसे शीतगृह कहा जाता था। आचार्य को उस शीतगृह की उपमा देते हुए कहा है—

रागद्दोस विमुक्को सीयघरसमोय आयरिओ।[2]

राग-द्वेप से रहित, समता भावी आचार्य शीतगृह के समान है। ऐसे आचार्य की समस्त श्रमण सघ सेवा करता है। पर ये सव वातें आचार्य के लिए कव सभव है? जव कि उसमे उपर्युक्त गुण हो? सघ की उन्नति या अवनति का सारा भार और उत्तरदायित्व आचार्य के ऊपर रहता है। यदि आचार्य

---

१ दशवैकालिक ९।१५
२ निशीथभाष्य २७९४

सर्वप्रकार से योग्य नही है, तो सघ भी योग्य नहीं होगा। शास्त्रकारों ने आचार्य के छत्तीस विशिष्ट गुण वतलाये है। उसे साधु के साधारण गुणो से विशिष्ट छत्तीस गुणो का धारक होना चाहिए। जैसा कि कहा है—

छत्तीस गुण समग्गो णिच्चं आयरइ पच आयार।
सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूर परमेट्ठी ॥[1]

जो छत्तीस गुणो से सयुक्त हो, पाच आचारो का नित्य आचरण करे और शिष्यो का अनुग्रह करने मे कुशल हो, वह आचार्य परमेष्ठी कहा गया है।

छत्तीस गुण :

आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार कहे गये है—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः।
कल्पादशाऽवश्यकानि षट्त्रिंशद् गुणा गणे ॥

आचारवत्त्व आदि आठ गुण, अनशनादि बारह तप, आचेलक्यादि दशकल्प और सामयिकादि छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण आचार्य के कहे गये है। इनमे आचारवत्त्वादि आठ गुण इस प्रकार कहे गये है—

आयारव च आधारवं च ववहारव पकुव्वो य।
आयावयाविदसी तहेव उत्पीलगो चेव ॥
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवण गुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥

आचारवान् हो, अर्थात् दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पच आचारो का स्वय पालन करे और अपने शिष्यो को करावे। जैसा कि कहा—

वही चतुर्विध सघ का नायक गणी आचार्य ध्यान करने के योग्य है, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और उत्कृष्ट तप इन पाच आचारो मे अपने को भी नियुक्त करता है और अन्य शिष्यादि को भी नियुक्त करता है।

दसण-णाण पहाणे वीरिय-चारित्त-वर तवायारे।
अप्पं परं च जुजइ सो आयरिओ मुणीझेओ ॥[2]

आचार्य का दूसरा गुण आधारवान् है। उसे शास्त्रो का भली-भांति से ज्ञाता होना चाहिए। क्योकि श्रुतज्ञान के आधार के विना वह अपने आपको एव शिष्यो को रत्नत्रय मे स्थिर नही रख सकता है तीसरा गुण व्यवहारवान् है, उसे प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए, तथा देश-काल और पात्र की स्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। चौथा गुण प्रकर्तृत्व है। आचार्य मे इतनी कर्तृत्वशक्ति होना चाहिए कि संकट का समय उपस्थित होने पर वह सर्व सघ की रक्षा एवं वैयावृत्य कर सके। पाचवां अपायोपायदर्शी गुण है—जो साधु आलोचना करने मे कुटिलता करे तो उसके ठीक नही कहने के दोप

---

१ प्रवचनसारोद्धार, द्वार ७२
२ द्रव्यसग्रह ५२

और ठीक कहने के गुण बतानेवाला होना चाहिए। छठा अवपीडक गुण है—यदि शिष्य अपने दोषो को न कहे तो उसे डाट-फटकार दिखा करके उससे दोप कहला सकने का सामर्थ्य होना चाहिए। सातवा अपरिस्रावी गुण है—किसी भी शिष्य के द्वारा कहे गये दोपो को बाहर प्रकट नही करना चाहिए। आठवा निर्यापक गुण है—सथारा स्वीकार करनेवाले साधु को क्षुधा-तृपादि परीपहो से पीडित होने पर उसकी बाधाओ को दूर करते हुए, उसका सम्यक्-प्रकार समाधि-मरण कराने मे कुशल हो। इन आठ गुणो से युक्त साधु ही आचार्यपद के योग्य माना गया हैं।

आचार्य स्वय अनशन आदि बारह प्रकार के तपो का पालक हो और आचेलकत्व आदि दशकल्प का धारक हो। वे दशकल्प इस प्रकार हैं—

आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहार रायपिंडकिइकम्मे ।
वदजेट्ठ पडिक्कमणे मास पज्जोसवणकप्पो ॥[1]

आचेलक्य, अनौद्देशिक, शय्यातर-अशन त्याग, राजपिंड-त्याग, कृतिकर्म करने मे उद्यम, व्रतारोपणत्व, व्रतज्येष्ठत्व, प्रतिक्रमण पाडित्य, मासकल्प और पर्युपणाकल्प। इन दशकल्पो का धारक एव अपने शिष्यो से परिपालन करानेवाला आचार्य को होना आवश्यक है। इसी प्रकार उसे सामायिकादि आवश्यको का भी भलीभाति से पालन करना चाहिए।

आगम मे कहा गया है कि जो आचार्य इन छत्तीस गुणो का पालन नही करता है, वह स्वय तो धर्म से भ्रष्ट होता ही है, साथ ही औरो को भी धर्म से परिभ्रष्ट कर देता है, एव धर्म-मार्ग का नाश करत है। यथा—

भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ।
सम्मग्गठिओ सूरी तिण्णिवि मग्ग पणासति ॥
उम्मग्ग नासए जो उ सेवए सूरी णियमेण ।
सो गोयम, अप्पाण अप्पं पाडेइ ससारे ॥[2]

जो स्वय भ्रष्टाचारी है, भ्रष्टाचारवालो की उपेक्षा करता है और उत्सूत्ररूप मार्ग का प्रस्थापक है, ये तीनो ही प्रकार के आचार्य सन्मार्ग का विनाश करते हैं। भगवान् गौतम से कहते हैं कि हे गौतम! जो ऐसे उन्मार्ग-आश्रित आचार्यों की सेवा करता है, वह अपने आपको ससार-समुद्र मे गिराता है। इसलिए ऐसे भ्रष्ट आचार्य से दूर ही रहना चाहिए।

अपूर्ण औरो को परिपूर्ण कैसे बनायेगा?

जिस आचार्य मे जितने गुणो की कमी है, वह उतना ही अपूर्ण है। जो स्वय अपूर्ण है, वह सघ को परिपूर्ण कैसे बना सकेगा? जो स्वय परिपूर्ण होगा, वही दूसरो को परिपूर्ण बना सकेगा। आचार्य के कुछ और भी गुण कहे है—

पचिंदिय-सवरणो तह नवविहबभचेरगुत्तिधरो ।
चउव्विहकसायमुक्को इह अट्ठारस गुणेहि सजुत्तो ॥

---

१ पचास्तिकायविवरण, गाथा १७

२ गच्छाचार पइण्णा २८-२९

३८

पाचो इन्द्रियो का सवरण करने वाला हो। आचार्य को सर्वप्रथम अपनी सर्वइन्द्रियों का दमन करने वाला होना चाहिए। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन पाचो ही इन्द्रियो को अपने वश मे रखे, उनके विषयो मे अपनी प्रवृत्ति न होने देवे। पाचो इन्द्रियों के तेईस विषय है और दो सौ चालीस विकार है। ये विषय और विकार जिनसे सर्वथा दूर हो गये हैं, वे जिन्हे दवा नही सकते है, या जिन पर हावी नही हो सकते, वे ही महापुरुष आचार्य कहलाने के योग्य हैं। किन्तु आचार्य होकर के भी जिसके कान, आख, नाक और जवान अपने वश मे नही हैं, वह पुरुष आचार्यपद पाने के योग्य नही है। आचार्य के प्रति सघ की क्या प्रवृत्ति है और आचार्य की सघ के प्रति क्या प्रवृत्ति है? यह भी जानना आवश्यक है। क्योकि सारे सघ का उत्तरदायित्व आचार्य के ऊपर है। तथा आचार्य की जिम्मेदारी सारे सघ के ऊपर है। इस विषय पर मुझे एक पुरानी सत्य घटना याद आ रही है, उसे प्रसगवशात् कहना अनुचित नही होगा।

प्रेरक आदर्श :

हमारी परपरा मे पूज्यरघुनाथजी महाराज हुए। उनके पाट पर टोडरमलजी महाराज, दीपचन्दजी महाराज, भेरदासजी महाराज और उनके पाट पूज्य जैतसिहजी महाराज हुए हैं। यह घटना जैतसिहजी महाराज से सम्वन्ध रखती है। वे वहुत ही सुन्दर भाषण देते थे। उनके व्याख्यान को सुनकर लोग मत्र-मुग्ध मे हो जाते थे। उन्हे कुछ कविता करने का शौक था। वे एक समय पाली पधारे। चैत्र का मास था। वे रुई के कटलेवाले स्थानक मे विराज रहे थे। चैत्र मे गनगौरियो का मेला लगता है।

हा, तो मेला जोरो से भरा हुआ था। जो कविता करते हैं, उन्हे सगीत सुनने का भी शौक रहता है। उस स्थानक की पोल मे एक छोटी सी वारी थी। वहा पर पाटिया लगाकर पूज्य महाराज विराज गये और वैठे-वैठे मेले मे गाये जाने-वाले दो-चार राग धारण कर लिये। उसी स्थानक मे भोपत-रामजी तपस्वी भी विराजते थे। उनकी वहुत भारी धाक वहा पर थी। उन्होने जो पूज्य जी को वारी मे वैठा देखा तो सोचा कि यह तो वहुत अनुचित है कि सघ का एक आचार्य मेला देखे? यद्यपि पूज्यजो केवल राग हृदयगम करने के लिए ही वैठे थे, मेला देखने के लिए नही। परन्तु तपस्वीजी ने सोचा कि यदि लोगो को पता चलेगा कि पूज्य महाराज मेला देखने को वारी मे वैठे हैं तो वे क्या सोचेंगे कि जव ये स्वय ऐसे हैं, तव शिष्यो को क्या रोक सकते हैं? यह वात तपस्वीजी को वहुत अखरी। परन्तु कुछ कह नही सकते थे, क्योकि वे पूज्यजी भी ऐसे ही रौव वाले थे। रियासत के धनी राजा के सामने, तथा सघ के स्वामी आचार्य के सामने वोलने मे रोमाच हो जाता है। हा, तो पूज्यजी राग अव-धारण करके कुछ देर पश्चात् वहा से उठकर अपने स्थान पर आगये। उन्हे मेला देखने से तो कोई प्रयोजन था ही नही। परन्तु तपस्वीजी को भ्रम हो जाने से उनका वहा वैठना वहुत खटका और बुरा लगा।

जव दूसरे दिन सवेरा हुआ, तव वडे सवेरे ही सिरेमलजी मूथा साधु-वन्दन के लिए आए। वे सात सौ थोकडो के ज्ञाता थे और श्रावक-सघ के भी मुखिया थे। उनके आते ही तपस्वीजी ने कहा—मूथाजी, जरा भीतर दया पालो। जव वे भीतर गये तो उन्होने रात्रि की सारी घटना उन्हे सुना दी और कहा कि आप एकान्त मे पूज्य महाराज साहव से निवेदन कर देना। मूथाजी ने कहा—हा महाराज, कर दूगा। व्याख्यान का समय होने पर पूज्य महाराज आकर पाट पर विराज गये और व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु उस दिन मूथाजी तपस्वीजी की वात सुनकर घर चले गये और व्याख्यान

प्रारम्भ होने के वाद कुछ देर से स्थानक मे पहुचे । उन्होने पहुचते ही वडे जोर से कहा—तपस्वीराज, वह कौन भेपधारी था, जिसने रात को मेला देखा है ?

मूथा सिरेमलजी के ये शब्द सुनते ही आचार्य महाराज ने वडी लज्जा का अनुभव किया, व्याख्यान देना वन्द कर दिया और शास्त्र के पन्ने पुट्ठे मे रखकर तुरन्त भीतर कमरे मे चले गये । यह देखकर मूथाजी का हृदय दहल गया और तपस्वीजी सोचने लगे—यह क्या गजब हो गया । मैंने तो मूथाजी से एकान्त मे कहने को कहा था । परन्तु इन्होने तो भरी हुई सभा मे ही कह दिया । अव मूथाजी और तपस्वीजी दोनो भीतर गये । पूज्य महाराज ने कहा—मूथाजी, कल दूसरा साधु और कोई नही था, मैं ही वारी मे वैठा हुआ था । मेरी इच्छा मेला देखने की नही थी । परन्तु दो-चार रागो को धारण करने के भाव से वहा बैठा था । फिर भी मैं मानता हू कि मेरा वहा पर बैठना उचित नही था । व्यावहारिकता की दृष्टि से यह अयोग्य कार्य था । परन्तु आपको भी तो इस प्रकार भरी सभा मे कहने का क्या अधिकार है ? मूथाजी ने कहा—महाराज साहव, मुझसे भूल हो गई, आप मुझे क्षमा करे । मुझे इस प्रकार भरी सभा मे नही कहना चाहिए था । अब आप जो दड दे, उसे हम लेने को तैयार हैं । मेरे से वहुत वडी आशातना हो गई, इसका मुझे वहुत अधिक दु ख है । पूज्यजी ने कहा—भाई, पहले जूते मार देना और पीछे कहना कि भूल हो गई, क्या यह बात ठीक है ? जव आपके सघ ने मुझे आचार्य पदवी दी है, तव उसका मान-सन्मान रखना भी आपका कर्त्तव्य है ? क्या इस प्रकार अपमानित करना आप लोगो को शोभता है ? वोलो—क्या तुम्हे ज्ञात नही था ? या तपस्वीजी को पता नही था ? यदि पूछना ही था, तो व्याख्यान के वाद पूछ लेते ? यदि एकान्त मे तुम मुझे दो थप्पड भी मार देते तो मैं सहन कर लेता । परन्तु भरी सभा मे इस प्रकार कहना यह मेरा नही, वल्कि इस गादी का अपमान करना है । मैंने भूल की है, अत मैं ही पहिले दण्ड लेता हू । क्योकि जब मैं ही ऐसे काम करूँगा तो दूसरो को कैसे रोक सकूगा ? यह कहकर उन्होने तेला का प्रत्याख्यान कर लिया । तव मूथाजी और तपस्वीजी ने कहा—पूज्य महाराज, हमको भी दड दे दीजिए । उन्होने उत्तर दिया—जो दड तुम्हारी आत्मा कहे, वह तुम ले लो । इसके पश्चात् पूज्य महाराज व्याख्यान देने को गये तो उन दोनो की आखो से आसू झर रहे थे । उन्होने पूज्य महाराज साहव और सारी सभा के बीच मे कहा—भाइयो, आज हमसे भ्रमवश वुद्धि-विपर्यास से इस गादी की भारी आशातना हुई है अत हम गादी के प्रति अपराधी है और उसके प्रायश्चित्त स्वरूप हम दोनो एक-एक अठाई का दड लेते हैं, यह कह कर उन्होने उसी समय सवके सामने आठ उपवास का प्रत्याख्यान कर लिया ।

इस घटना के उल्लेख का अभिप्राय यह है कि आचार्य ने जो भूल की, उसका दड उन्हे लेना पडा और मूथाजी वा तपस्वीजी ने जो भूल की उसका दड उन्हे लेना पडा । प्रत्येक कार्य अपनी मर्यादा से होना चाहिए । जिस आचार्य की इन्द्रिया अपने अधीन नही हैं, वह क्या हमारा आचार्य वन सकता है ? और उसका दूसरो पर क्या प्रभाव पड सकता है ? पूर्व काल मे आचार्य और सघ दोनो ही अपने अपने कर्त्तव्य पालन करने मे दृढ और कठोर थे । पहिले सघ को आचार्य की और आचार्य को सघ की शका रहती थी । यदि उस समय आचार्य अपना कर्तव्य न निवाहते, तो जगत् मे दोनो का ही अपवाद फैलता । परन्तु दोनो ने अपनी-अपनी भूल स्वीकार करके तत्काल उसका परिमार्जन कर दिया । इससे दोनो की ही शोभा रह गई ।

पाच इन्द्रियो के सवरण के पश्चात् आचार्य के गुणो मे वतलाया गया है 'तह नवविह बंभचेरं च। अर्थात् आचार्य नववाड सहित ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा आचार्यको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो से मुक्त होना चाहिए। इस प्रकार पाच इन्द्रियो को जीतना, नववाडयुक्त ब्रह्मचर्य को पालना और चार कषायो का दमन करना ये सब अठारह गुण हो गये। इनमे पाच महाव्रतो के मिलाने से तेईस गुण हो जाते है। फिर इन मे पूर्वोक्त आचार और आधारवान् आदि आठ सपदा को मिलाने से छत्तीस गुण हो जाते है। जिसमे ये छत्तीस गुण हो, वही आचार्य हो सकता है।

परन्तु आज हम लोगो को यह भूख लग रही है कि सघ हमे आचार्य कब बनावे? आज आचार्य पदवी के विना हम से साधना ही नही होती है। साधु के कर्तव्य पालन मे हमारा चित्त ही नहीं लगता है। आचार्य बनाओ! कौन मना करता है। केवल आचार्य बन जाने मे ही शोभा नहीं है, परन्तु उसमे इतने गुण होना चाहिए। आचार्य को अनुशासन के समय वज्र से भी अधिक कठोर होना चाहिए और अनुग्रह के समय फूल से भी अधिक कोमल होना चाहिए। आचार्य के दोनो नेत्र सावन और भादवें के समान सजल और शुष्क रहना चाहिए। आचार्य मे एक ओर जोश और दूसरी ओर होश होना आवश्यक है। उसमे क्रान्ति भी होनी चाहिए और जहा जिसका उपयोग आवश्यक समझे, वहा पर उसका उपयोग करना चाहिए, जिससे कि सघ मे किसी भी प्रकार कुप्रवृत्ति प्रवेश न कर सके। इस प्रकार से ही सघ सुरक्षित रहता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति कर सकता है।

तर्क और श्रद्धा……

तर्क ने कहा—"मैं ससार की प्रत्येक वस्तु को निरावरण करके उसे नग्नरूप मे उपस्थित कर सकती हू।

श्रद्धा ने कहा—वहन! इसमे क्या वडी वात है। हर वच्चा और हर प्राणी नग्नरूप मे ही पैदा होता है, विशेपता तो यह है कि उसे सजाकर सुन्दर परिधानो मे वेष्ठित कर उसके नयनाभिराम सौन्दर्य के दर्शन किये जाय। यह काम तुम नही, मैं कर सकती हू।"

—मधुकर मुनि

साध्वी-परम्परा की हिन्दी जैन कवयित्रियां

डा० (श्रीमती) शान्ता भानावत, एम ए पी-एच डी.
हिन्दीविभाग, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर

हिन्दी कवयित्रियो पर अब तक जो शोध कार्य हुआ है[1] उसके द्वारा विभिन्न परम्पराओ और प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्त्व करनेवाली कई कवयित्रियाँ हमारे सामने आई है। निर्गुणधारा की कवयित्रियो मे दयाबाई, सहजोबाई तो प्रसिद्ध है ही, इनके अतिरिक्त रूपादे, उमाबाई, स्वरूपाबाई, गवरीबाई आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सगुणधारा की कवयित्रियो मे कृष्णशाखा के अन्तर्गत मीराबाई, सोढीनाथी, छत्रकुवरीबाई, सम्मानबाई, सौभाग्यकुवरी आदि कई कवयित्रियो के नाम हमारे सामने आते हैं। रामशाखा के अन्तर्गत प्रतापकुवरी, रत्नकुवरी और चन्द्रकलाबाई के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डिंगल-परम्परा की कवयित्रियो मे भीमा चारणी, पद्मा चारणी, चम्पादे रानी आदि प्रसिद्ध हैं।

भारतीय धर्म-परम्परा मे साधुओ की तरह साध्वियो का भी विशेष योगदान रहा है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नही, ऐतिहासिक-परम्परा के रूप मे हमे भगवान महावीर के बाद के साधुओ की आचार्य-परम्परा का तो पता चलता है पर उनकी साध्वियो की परम्परा अधकाराच्छन्न है। भगवान महावीर के समय मे ३६००० साध्वियो का नेतृत्व करने वाली साध्वी चन्दनबाला का उल्लेख शास्त्रो मे आता है। महावीर मे ही तत्त्वचर्चा करनेवाली जयन्ती का उल्लेख भी हमे मिलता है। यह तो निश्चित है कि साधुओ और श्रावको के साथ-साथ साध्वियो और श्राविकाओ की भी अविच्छिन्न परम्परा रही है। इस परम्परा को खोज निकालना इतिहासज्ञो एव साहित्यिको के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओ के साहित्य-निर्माण मे जैन साधुओ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उसके मूल्याकन की ओर अब विद्वानो का ध्यान जाने लगा है। साधुओ के साथ-साथ जैन-साध्वियो ने भी साहित्य के निर्माण और सरक्षण मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। साध्वी-परम्परा की इन कवयित्रियो की ओर अभी विद्वानो का ध्यान नही गया है। इस निबन्ध मे साध्वी-परम्परा की कुछ प्रमुख हिन्दी जैन-कवयित्रियो पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

---

१ इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित दो ग्रथ द्रष्टव्य हैं—
(क) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ —**डॉ० सावित्री सिन्हा**
(ख) राजस्थानी कवयित्रियाँ —**श्री दीनदयाल ओझा** [प्रेरणा फरवरी १९६३]

१४ वी शती से लेकर २० वी शती तक की जिन जैन-साध्वी कवयित्रियो का हमे उल्लेख प्राप्त हुआ है उनके नाम इस प्रकार हैं—

	नाम	रचना-काल
१	गुणसमृद्धि महत्तरा	वि० सम्वत् १४७७
२	विनयचूला	,, १५१३ के लगभग
२	पद्मश्री	,, १५४० के लगभग
३	हेमश्री	,, १६४४ के लगभग
५	हेमसिद्धि	,, १६६२ से पूर्व
६	विवेकसिद्धि	,, १६७० के लगभग
७	विद्यासिद्धि	,, १६६६
८	हरकूवाई	,, १७२० के आसपास
६	हुलासाजी	,, १८८७
१०	सरूपाबाई	,, १६०० के लगभग
११	जडावजी	,, १८६८ (जन्मकाल)
१२	आर्या पार्वताजी	,, १६११ जन्मसम्वत्)
१३	भूरसुन्दरी	,, १६२४ (,,)
१४	रत्नकु वरजी	,, १६६२

यहा उक्त कवयित्रियो का सक्षेप मे परिचय दिया जा रहा है—

१. गुणसमृद्धि महत्तरा—

यह महत्तरा खरतरगच्छीय जिनचन्द्रसूरि की शिष्या थी। इनके द्वारा रचित प्राकृत भाषा मे ५०२ श्लोको मे निवद्ध 'अजणा सुन्दरी चरिय' ग्रन्थ जैसलमेर के भडार मे विद्यमान हैं। इसमे हनुमान जी की माता अजना सुन्दरी का चरित्र वर्णित है। इस रचना की प्रशस्ति से सूचित होता है कि इसकी रचना विक्रम सम्वत् १४७७ मे चैत्र सुदि त्रयोदशी के दिन जैसलसर मे की गई—

"सिरि जेसलमेर पुरे विक्कमचउदसहसत्तुत्तरे वरिसे।
वीरजिण जन्म दिवसे कियमजणिसुन्दरी चरिय ॥४६२।

२. विनयचूला—

ये साध्वी आगमगच्छीय हेमरत्नसूरि के समुदाय की हैं। इन्होने सम्वत् १५१३ के आसपास 'श्रीहेमरत्नसूरि गुरुफागु' नाम की ११ पद्यो मे रचना वनाई है। इसमे अमरसिंहसूरि के पट्टधर हेमरत्नसूरि का परिचय दिया गया है। इस रचना के अनुसार हेमरत्नसूरि खेतसीवशीय भीमग के पुत्र थे। इनकी माता का नाम राभली था। उन्होने वाल्यावस्था मे ही विरक्त होकर अमरसिंहसूरि से दीक्षा ग्रहण की और वाद में ये आचार्य वने।[१] [इस रचना का आदि और अत भाग इस प्रकार है]

१ इस रचना का प्रकाशन श्री अगरचन्दजी नाहटा ने 'सुधर्मा' के अक्टूबर १९५० के अक मे कराया है।

आदि भाग—

अहे जुहारिस जगत्रय अधिपति, मुनिपति सुमति जिणंद ।
अहे गायसु रागि धनागम, आगमगच्छ मुणिंद ।।
श्री हेमरत्नसूरि भगति हि, विगति हि गुण वर्णवेसु ।
गुरु पद पकज सेविय, जीविय सफल करेसु ।।१।।

अन्त भाग—

अहे विनय मेरु अनुकूला, चूला गरिम निवास ।
मम लहर, मणहर देसण भास ।
इणिपरि सुहगुरु सेवड, केवड नही भववासि ।
दुर्लभ नरभव लाधड, साधड सिद्धि सल्हास ।।११।।

३. पद्मश्री—

इनका सम्बन्ध भी आगमगच्छीय समुदाय से रहा है। श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने "जैन गुर्जर कविओ भाग ३ खण्ड १ के पृष्ठ ५३५ पर इनकी एक रचना 'चारुदत्त चरित्र' का उल्लेख किया है। पुष्पिका मे लिखा है 'इसे आगमगच्छीय धर्मरत्नसूरि ने सम्वत् १६२६ चैत्रवदि १४ के दिन लिपिवद्ध किया। यह २५४ छन्दो की रचना है। इसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि भाग—

देवि सरसति देव सरसति अति वाणी ।
आपु मनि आनन्द करि धरीय भाव भासुर चिहत्तिहिं ।
पत्र पकय पणमू सदा, भय हरणी भालीय भत्तिहिं ।
चारुदत्त कम्मह चरी, पभणिसु तुम्ह पसाय ।
भवीयाँ भाविहिं साभलु, परिहरि परहु पमाय ।

अन्त भाग—

सुख ससारि भोगव्या घणा, फल लीधा मणुय जनमह तणा ।
अन्तकालि अणसण उच्चरइ, देवलोकि सुरवर भवतरइ ।।२५२।।
नेमि चरित्र वसुदेव कथा, सुणता पातिक हुई वृथा ।
तिहा थी अरथ अहे उद्धरी, चारुदत्त नू कीधू चरी ।।२५३।
जाणइ भणावइ भासुर भीत्ति, अथवा जडे सुणइ निज चित्ति ।
तेह घरि नवनिधि हुई निरमली, भणइ पद्मश्रीयवचित फली ।।२५४।।

४ हेमश्री—

ये साध्वी वडतपगच्छ के नयसुन्दरजी की शिष्या थी। 'जैन गुर्जरकविओ' भाग १ के पृष्ठ २८६ पर इनकी एक रचना 'कनकावती आख्यान' का उल्लेख मिलता है यह ३६७ छन्दो की रचना है। इसका निर्माण सम्वत् १६४४ वैशाख सुदी ७ मगलवार को किया गया। [इसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि भाग—

सरसति सरस सकोमल वाणी रे, सेवक उपरि वहु हीत आणी रे।
श्री जिनचरण सीसज नामी रे, सहि गुरु केरी सेवा पामी रे।
सेवा पामी सीस नामी, गाउ मनह उलट घणइ।
कथा सरस प्रवन्ध भण सू, सुजन मनइ आंणदनी।

अन्त भाग—

भणई गुणई सभलिजे नर, तेह वरि मगल च्यार।
हेम श्री हरखई ते वोलई, सुख संयोग सूसार।।३६७।।

५. हेमसिद्धि—

इनका सम्वन्ध खरतरगच्छ से था। श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने 'ऐतिहासिक जैनकाव्य सग्रह' के पृष्ठ २१० और २११ पर इनके दो गीतो का पाठ दिया है। पहली रचना है—'लावण्य सिद्धि पहुतणी गीतम्' इस रचना मे साध्वी लावण्यसिद्धि का परिचय दिया गया है। रचना के अनुसार लावण्यसिद्धि वीकराजशाह की पत्नी गुजरदे की ये सुपुत्री थी। पहुतणी रत्नसिद्धि की ये पट्टधर थी। जिनचन्द्रसूरिजी के आदेश से ये वीकानेर आई और वही अनशन आरावना की। सम्वत् १६६२ मे स्वर्ग सिधारी [रचना का आदि अन्त इस प्रकार है—]

आदि भाग—

आदि जिणेसर पयनमी, समरी सरसती मात।
गुण गाइसु गुरुणी तणा, त्रिभुवन माही विख्यात।

अन्त भाग—

परता पूरण मन केरी, कल्पतरु थी अधिकेरी।
हेमसिद्धि भगति गुण गावइ, ते सुख सम्पति नितुपावइ।

इनकी दूसरी रचना 'सोमसिद्धि निर्वाण गीतम्' है। इनमे १८ पद्य है। रचना के अनुसार सोमसिद्धि का प्रारभिक नाम सगारी था। ये नाहर गोत्रीय नरपाल की पत्नी सिंगादे की पुत्री थी। वोथरा गोत्रीय जेठाशाह के पुत्र राजसी से इनका विवाह हुआ था। १८ वर्ष की आयु मे इन्होने दीक्षा ली। ये लावण्यसिद्धि के पद पर प्रतिष्ठित हुई। इनके वाद कवयित्री हेमसिद्धि पट्टधर वनी। यह रचना कवित्वपूर्ण है। इसमे कवयित्री का सोमसिद्धि के प्रति गहरा स्नेह और भक्तिभाव प्रकट हुआ है। अन्त की पक्तिया देखिये—

मोरा नइ वलि दादुरां, वावीहा नइ मेहो रे।
चकवा चितवत रहइ, चदा उपरि नेहो रे।।१६।।
दुखीया दुख भाजीयइ, तुम्ह विना अवरन कोइ रे।
सह गुरुणी गुण गावीयइ, वादउ दिन २ सोई रे।।१७।।
चन्द्र सूरज उपमा दीजइ (अधिक) आणंदो रे।
पहुतीणी 'हेमसिद्धि' इम भणइ देज्यो परमाणंदो रे।।१८।।

६ विवेकसिद्धि—

ये लावण्यसिद्धि की शिष्या थी। नाहटा जी ने ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह के पृ० ४२२ पर उनकी एक रचना 'विमल सिद्धि गुरुणी गीतम्' प्रकाशित की है। इस रचना के अनुसार विमल सिद्धि मुलतान निवासी माल्हू गोत्रीय शाह जयतसी की पत्नी जुगता दे की पुत्री थी। बीकानेर मे इनका स्वर्गवास हुआ। रचना का आदि अत इस प्रकार है —

आदि भाग—

गुरुणी गुणवन्त नमीजइ रे, जिम सुख सम्पति पामीजइ रे।
दुख दोहग दूरि गयी जइ रे, पर भवि सुरसाथिरमी जइ रे।

अन्त भाग—

विमल सिद्धि, गुरुणी महीयइ रे, जसु नामइ वाछित लहीयइ रे।
दिन प्रति पूजइ नर नारी रे, विवेक सिद्धिसुखकारी रे॥२२४॥

७ विद्यासिद्धि—

नाहटाजी ने 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' के पृ० २१४ पर इनकी एक रचना गुरुणी गीतम् से प्रकाशित की है। प्रारभ की पक्ति न होने से गुरुणी का नाम ज्ञात नही हो सका है। बाद की पक्तियो से सूचित होता है कि ये गुरुणी साउसुखा गोत्रीय कर्मचन्द की पुत्री थी और जिनसिंह सूरि ने इन्हें पहुतणी पद दिया था। यह रचना सवत् १६९९ भाद्र कृष्णा २ को रची गयी है।

८. हरकूबाई—

इनका सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से रहा है। आचार्य श्रीविनयचन्द ज्ञान भण्डार जयपुर मे पुष्ठा स० १०५ मे ८८ वी रचना 'महासती श्रीअमरुजी का चरित्र' इनके द्वारा रचित मिलती है। इसकी रचना सवत् १८२० मे किशनगढ़ मे की गई। इन्ही की एक अन्य रचना 'महासती जी चतरुजी सज्झाय' नाम से नाहटाजी ने ऐतिहासिक काव्य सग्रह मे पृष्ठ सख्या २१४, २१५ पर प्रकाशित की है।

९ हुलासाजी—

यह भी स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्धित है। आचार्य विनयचन्द्रज्ञान भण्डार, जयपुर मे पुष्ठा स० २१८ मे ५० वी रचना क्षमा व तप ऊपर स्तवन इनकी रचित मिलती है। इसकी रचना सवत् १८८७ मे पाली मे हुई थी।

१०. सरूपाबाई—

ये स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्रीमलजी महाराज से सम्बन्धित है। नाहटाजी ने ऐतिहासिक काव्य सग्रह मे पृ० १५६-१५८ पर इनकी एक रचना 'पूज्य श्रीमलजी की सज्झाय' प्रकाशित की है।

११ जडाव जी—

ये स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्रीरतनचन्द्र जी महाराज के सम्प्रदाय की प्रमुख रभाजी की शिष्या थी। इनका जन्म सवत् १८९८ मे सेठों की रीया मे हुआ था। सवत् १९२२ मे ये दीक्षित हुई। नेत्र ज्योति क्षीण होने से सवत् १९५० से अतिम समय सवत् १९७२ तक ये जयपुर मे ही स्थिरवासी

३९

वनकर रही। इनकी रचनाओ का एक सकलन "जैन स्तवनावली" नाम मे प्रकाशित हुआ है। इसमे इनकी स्तवनात्मक, कथात्मक, उपदेशात्मक और तात्विक रचनाएँ सग्रहित है। रूपक लिखने मे उन्हें विशेष सफलता मिली है। एक उदाहरण देखिये—

'ज्ञान का घोडा चित्त की चाबुक, विनय लगाम लगाई।
तप तरवार भाव का भाला, खिम्मा ढाल वंधाई॥
सत सजम, का दिया मोरचा, किरिया तोप चढाई।
सभाय पच का दारु सीसा, तोपा दीवी चलाई॥
राम नाम का रथ सिणगार्‌या दान दया की फौजा।
हरख भाव से हाथी हौदे, वैठा पावो मौजा॥
साच सिपाही पायक पाला, संवर का रखवाला।
धर्म राय का हुक्म हुआ जव, फौजा आगी चाला॥

१२. आर्या पार्वताजी—

इनका सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्रीअमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय से है। इनका जन्म आगरे के निकट खेड़ा भाडपुरी गाव मे चौहान रजपूत वलदेव सिंह की पत्नी धनवती की कुक्षी से सवत् १९११ मे हुआ। जैनमुनि कवरसेनजी के प्रतिवोध से सवत् १९२४ मे इन्होंने साध्वी हीरादेवी के पास दीक्षा ग्रहण की। वाद मे ये सती खम्वाजी की शिष्या तपस्वीनी मेलोजी की शिष्या वन गई। पजाव की साध्वी परम्परा मे इनका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ खण्ड १ पृष्ठ ३८९ पर इनकी निम्नलिखित चार रचनाओ का उल्लेख है—(१) वृत मण्डली (सवत १९४०) (२) अजितसेन कुमार ढाल (संवत १९४०) (३) सुमति चरित्र (सवत १९६१) (४) अरिदमन चौपाई (सवत १९६१) इनकी हस्तलिखित प्रतिया वीकानेर मे श्रीपूज्य जिनचारित्रसूरिजी के सग्रह मे है। इनकी कई गद्य कृतियाँ भी प्रकाशित हैं।[1]

१३ भूरसुन्दरी—

इनका सम्वन्ध स्थानकवासी परम्परा से है। इनका जन्म सवत् १९१४ मे नागौर के समीप वुसेरी नामक गाव मे हुआ। इनके पिता का नाम अखयचन्दजी राका तथा माता का नाम रामा वाई था। अपनी फुआ से प्रेरणा पाकर ११ वर्ष की अवस्था मे साध्वी चपाजी से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। ये कवयित्री होने के साथ-साथ गद्य लेखिका भी थी। इनके निम्नलिखित ६ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं -

(१) भूरसुन्दरी जैन भजनोद्धार (सवत १९८०) (२) भूरसुन्दरी विवेक विलास (स० १९८४) (३) भूर सुन्दरी वोध विनोद (स० १९८४ (४) भूरसुन्दरी अध्यात्म वोध (स० १९८५) (५) भूरसुन्दरी ज्ञान प्रकाश (स० १९८६) (६) भूरसुन्दरी विद्या विलास (स० १९८६)

इनकी रचनाये मुख्यत स्तवनात्मक और उपदेशात्मक हैं। इन्होने पहेलियां भी लिखी हैं। दो उदारहण देखिये—

१. आर्या पार्वताजी का विस्तृत जीवन परिचय 'साधनापथ की अमर साधिका' (लेखिका साध्वी सरलाजी सपादक—श्रीचन्द सुराना 'सरस') के खण्ड २ मे देखा जा सकता है।



आदि अखरविन जग को ध्यावे, मध्य अखर विन जग सहारे।
अन्त अखर विन लागत मीठा, वह सबके नयनो मे दीठा ॥

उत्तर=काजल

आद दह अत दह रह मध्य अरु माय ।
तुम दरसन बिन होत है, दरसन से जाय ।

उत्तर=दर्द

१४ रत्नकुवर जी—

ये स्थानकवासी परम्परा के पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज के सम्प्रदाय की प्रवर्तिनी रही हैं। सवत् १९९२ मे ५१ ढालो मे निवद्ध इनकी एक रचना 'श्री रत्नचूड मणिचूड चरित्र" प्रकाशित हुई है।

उक्त साध्वी कवयित्रियो के अतिरिक्त श्राविका कवयित्रियो मे चम्पादेवी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये देहली निवासी लाला सुन्दरलाल टोग्या की धर्मपत्नी थी। इनके पिता अलीगढ निवासी श्री मोहनलालजी पाटनी थे। इनका जन्म सवत १९१३ के आसपास हुआ था। ६६ वर्ष की अवस्था मे ये वीमार पड गई। तव अर्हंद् भक्ति मे तन्मय होकर इन्होने कई पद लिखे। जिनका सग्रह "चम्पा शतक" नाम से डा० कस्तूरचद कासलीवाल ने सम्पादित किया है।

आज भी विभिन्न सम्प्रदायो मे कई जैन साध्वी कवयित्रियाँ काव्य-साधना मे लीन हैं। तेरा पन्थ सम्प्रदाय की हिन्दी कवयित्रियो के सम्वन्ध मे एक निवन्ध उदयपुर से प्रकाशित होनेवाली 'शोध पत्रिका' के जनवरी १९६९ अक मे प्रकाशित हुआ है। इस निवन्ध मे डा० नरेन्द्र भानावत ने साध्वी जय श्री, साध्वी मजुला, साध्वी स्नेह कुमारी, साध्वी कमल श्री, साध्वी रत्नश्री, साध्वी कानकुमारी, साध्वी फूलकुमारी, साध्वी मोहना, साध्वी कनक प्रभा, साध्वी यशोधरा, साध्वी सुमन श्री और साध्वी कनक श्री की काव्य-रचनाओ का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैनकाव्य धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली इन साध्वी कवयित्रियो का हिन्दी कवयित्रियो मे एक विशिष्ट स्थान है। इन्होने न तो डिंगल कवयित्रियो की भाति अत पुर मे रहकर रानियो के मनोविनोद के लिये काव्य-रचना की और न किसी की प्रतिस्पर्धा मे ही कलम तोडी। इन्होने प्राणी मात्र को अपना जीवन निर्मल, निर्विकार और सदाचारमय वनाने का उपदेश दिया है। स्वानुभूतियो से निसृत होने के कारण इनके उपदेश सीधे हृदय को छूते हैं।

मानव ! तेरे अन्तरतम मे,
छिपा हुआ सुख का अमृतघट।
और दुःखो की ज्वालाएँ भी,
वहीं किया करती हैं लट-लट !

—मधुकर मुनि

स्थानकवासी जैन परम्परा की अमर विभूतियाँ

▣ साध्वी उमराव कुंवर 'अर्चना'

१ आचार्य श्री भूधरजी महाराज

- जन्म-स्थान—नागौर (राजस्थान)
- जन्म-दिवस—वि० स० १७१२ विजयादशमी
- दीक्षा-दिवस—वि० स० १७५१ फाल्गुन शुक्ला पचमी
- स्वर्गवास-दिवस—वि० स० १८०४ विजयादशमी

गृहस्थ-जीवन :

वि० स० १७१२ की विजयादशमी के दिन आचार्य श्री भूधरजी महाराज का जन्म राजस्थान के सुप्रसिद्ध शहर नागौर मे हुआ था ।

उनका गोत्र ओसवाल मुणोत था । पिताजी का नाम माणकचदजी व माताजी का नाम रूपादेवी था ।

भूधरजी का शारीरिक सौन्दर्य जैसा नयनाभिराम था, उनका आन्तरिक व्यक्तित्व भी वैसा ही प्रभावोत्पादक था ।

वचपन से ही भूधरजी के हृदय मे सैनिक शिक्षा को प्राप्त करने की अभिरुचि विशेषत थी ।

अपनी इम अभिरुचि के फलस्वरूप श्री भूधरजी ने सैनिक शिक्षा मे अधिकतम योग्यता प्राप्त की । अपनी इस योग्यता ने उन्हे सेना के एक उच्चपद पर आसीन कर दिया ।

जव श्री भूधरजी की नियुक्ति सोजतशहर मे हुई तो उस समय वहाँ डाकुओ का भयकर आतक फैला हुआ था । इस आतक को दूर करने के लिए भूधरजी ने अधिकार पूर्ण परिश्रम किया और वे उसमे पूर्णत सफल भी वने ।

भूधरजी सोजत मे अधिकतम जनप्रिय हो गए । उनका कार्यक्षेत्र भी सोजत ही हो गया ।

भूधरजी के हृदय मे वैराग्य भावना का उदय डाकुओ के साथ की गई एक मुठभेड के समय हुआ। बात यह बनी कि वि० स० १७४० मे ऊठो पर सवार होकर चौरासी डाकुओ ने कटालिया गाव मे डाका डाल दिया।

कटालिया के ठाकर साहव की सूचना पर भूधरजी उन डाकुओ को सर करने के लिए वहा पर पहुचे।

भूधरजी के वहा पहुँच जाने के कारण सभी डाकू नौ-दो ग्यारह हो गए। आगे-आगे डाकू भाग रहे थे और उनके पीछे भूधरजी भी इन्हे पकडने के लिए तेजी से जा रहे थे। आखिर काजलवास गाँव के पास दोनो की मुठभेड हो गई।

इस मुठभेड मे एक डाकू ने भूधर जी के ऊट पर तलवार से प्रहार कर दिया। इससे वह ऊट अधिक घायल हो गया और उसने स्वामी भूधरजी के सामने ही दम तोड दिया।

वह ऊट भूधरजी का अतीव प्रेम-पात्र था। अत उसकी इस प्रकार से मृत्यु की घटना का उन पर मर्मान्तक प्रभाव पडा। इस घटना के वाद उन्होने राजकीय कार्यो से अवकाश ले लिया।

साधना पथ पर

अव भूधरजी का लक्ष्य आत्मचिन्तन वन गया। इस चिन्तन के फल स्वरूप उन्होने 'पोतिया-वन्ध' पथ मे सयम ग्रहण कर लिया।

पोतियावन्ध पथ मे उन्हे वास्तविक आत्म शान्ति न मिली। अत वे वास्तविक आत्म-शान्ति की खोज मे लग गए।

'जिन खोजा तिन पाइया' इस लोकोक्ति के अनुसार वे अपनी खोज मे सफल हुए।

एक दिन भूधरजी आचार्य श्रीधर्मदासजी महाराज के पट्टधर आचार्य श्रीधन्नाजी महाराज के सम्पर्क मे आए।

आचार्य श्री जी के साथ की गई तत्त्व चर्चा मे उन्हे आभास मिल गया कि इस परम पुनीत पूज्य पुरुष की सेवा मे रहने से मुझे वास्तविक आत्म-शान्ति मिल सकती है। फिर क्या था। वे वि० स० १७५१ की फाल्गुन शुक्ल पचमी के दिन आचार्य श्री धन्ना जी की सेवा मे दीक्षित हो गए।

भूधरजी सत्य पथ के गवेषी थे अत इन्होंने सत्य पथ पालिया।

भूधरजी का अतरग अदम्य उत्साह से ओत-प्रोत था। धीरज के वे धनी थे। साहस उनका सहयोगी था। अत वे यत्र-तत्र सर्वत्र सफल वनते गए।

अव भूधर जी मुनि हो गए। अपने गुरुदेव के प्रति भूधरमुनि जी की अनन्य भक्ति व श्रद्धा थी।

मतिज्ञानावरणीय व श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम उनमे अद्भुत था। आगमो की साक्षी के साथ वे उलझी हुई समस्याओ का समाधान करने मे अत्यन्त विचक्षण थे। उनके जीवन मे जव भी ऐसे प्रसग आए तो उन्होने शकाओ का समाधान करने मे सफलता प्राप्त की।

एक वार तो उन्होने एक सो अट्ठाहर दिनो की तपस्या कर के सव को आश्चर्य-चकित कर दिया। अपनी सुसयम-साधना व निष्काम-तप साधना से वे जन-जन के प्रिय वन गए। अपने चारित्र-वल के प्रभाव से उन्होने सहस्र-सहस्र भूले-भटके राहियो को समयपथ पर अग्रसर किया। साठ वर्ष तक इनकी यह साधना चलती रही।

श्रीभूधरजी महाराज क्षमा के तो साक्षात् अवतार ही थे। विरोधियो द्वारा उनपर आक्रमण किया गया। मारणान्तिक उपसर्ग के अवसर भी उनके जीवन काल मे आए, परन्तु वे सर्वत्र सन्तुलित रहे। अपने अपराधियो को भी गले लगाकर उन्होने क्षमा का अपूर्व आदर्श उपस्थित किया। एक दिन मुनिभूधरजी को आचार्य पद मिल गया। वे जन-जन के वदनीय वन गए।

शिष्य परिवार

आचार्य भूधरजी महाराज के ६६ शिष्य हुए। उनमे नव शिष्य तो सचमुच नव रत्न ही थे। वे ये थे—

१ श्रीनारायणजी २ श्रीरघुनाथजी ३ श्रीजेतसीजी ४ श्रीजयमलजी ५ श्रीकुशलोजी ६ श्री जगमाल जी ७ श्री रूपचन्द जी ८ श्री रतनचन्द जी ९ श्री गोवर्धन जी।

आचार्यश्री भूधरजी महाराज को अनेकश अभिवन्दन।

२ आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—सोजत
- **जन्म-दिवस**—अज्ञात
- **दीक्षा-दिवस**—अज्ञात (दीक्षास्थान-जोधपुर)
- **स्वर्गवास-दिवस**—१८८६ माघ शुक्ला एकादशी (पाली)

जीवन का प्रथम चरण!

आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज की जन्म-भूमि सोजत थी। वापना नथमलजी उनके पिता थे। जव आचार्य श्री जी अपनी माताजी के उदर मे आए थे, तव उनकी माता सोमादेवीजी को एक रात स्वप्न मे मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के दर्शन हुए थे। जव पुत्र का जन्म हुआ तो उक्त स्वप्न के आधार पर नवजात शिशु का नाम 'रघुनाथ' रखा गया,

वचपन मे ही रघुनाथजी अतीव प्रभाव पूर्ण प्रतिभा वाले थे। जव वे कुछ बडे हुए तो उनका व्यक्तित्व और भी निखर आया। अपनी इस प्रतिभा के कारण वे अपनी अल्प आयुमे ही सुशिक्षा मे सम्पन्न हो गए!

सोलह वर्ष की अवस्था मे ही रघुनाथजी ने अपने घर के उत्तरदायित्व को सभाल लिया।

पिता के हृदय में अपने पुत्र के प्रति असीम स्नेह था तो पुत्र के हृदय मे अपने पिताजी के प्रति असीम श्रद्धा व भक्ति थी। दोनो के आपसी सम्बन्ध अतीव उच्च थे। अतएव उनका घरेलू वातावरण जन-जन के लिए प्रशसनीय था।

रघुनाथजी का एक अभिन्न मित्र था। उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनके कोमल हृदय पर इस वात का वडा आघात पहुँचा।

अपने चिन्तन के क्षणो मे रघुनाथजी के हृदय मे एक वात आई कि यह मृत्यु वडी भयकर

वस्तु है, इस पर विजय पाना अतीव आवश्यक है। मृत्यु पर विजय पाने से ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है।

उन्होने यह दृढसकल्प कर लिया कि मुझे अवश्यमेव मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है। वे अमरत्व की प्राप्ति के लिए एक प्रकार से जुटते गए।

अब रघुनाथजी से जो भी मिलता, वे उससे अमरत्व की उपलब्धि का पता पूछते रहते थे कि यह कहाँ मिलती है?

कुछ अन्ध भक्तो ने इन्हे यह सलाह दी कि यदि तुम भगवती चामुडा देवी के चरण-कमलो मे अपना शिर काटकर रख दो तो तुम्हे अमरत्व की उपलब्धि हो सकती है?

फिर क्या था? रघुनाथजी ने सोचा कि अमरत्व की उपलब्धि का उपाय इससे सरल और क्या हो सकता है? उन्होने चामुडा देवी के चरणो मे अपना शिर काटकर रखने का दृढ सकल्प कर लिया।

इधर घर पर रघुनाथजी के विवाह की तैयारी अतीव उत्साह और साज-सज्जा के साथ हो रही थी।

शाह नथमलजी व सोमादेवी जी अपने आत्मज के इस दृढ निश्चय से अतीव परेशान हो रहे थे। वे किंकर्तव्यमूढ हो रहे थे। अज्ञात आशकाओ से उनका मानस अतीव उद्विग्न हो रहा था।

ठीक उसी समय आचार्य श्री भूधरजी महाराज का पदार्पण सोजत शहर मे हो गया। समाज के समझदार सदस्यो से आचार्य श्री जी को रघुनाथजी के विचारो की जानकारी मिली। लोगो की प्रेरणा से रघुनाथजी भी आचार्य श्री जी की सेवा मे पहुचे।

अमर-चरण

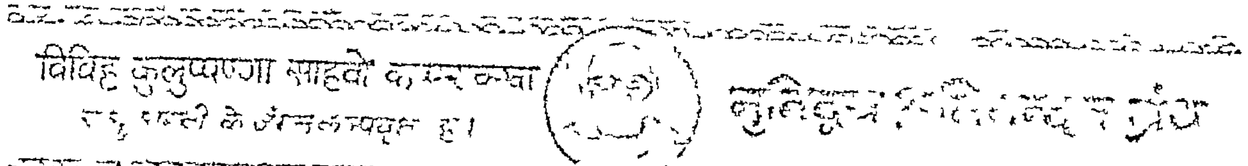
आचार्य श्री जी ने उन्हे अमरत्व की उपलब्धि का वास्तविक मार्ग बताया। आचार्य श्री जी के सत्सग से रघुनाथजी को आत्म-बोध मिला। उनके डिगते चरण सत्य मार्ग पर सुस्थिर हो गए।

एक सयमी जीवन ही अमरत्व की उपलब्धि का अमोघ उपाय है। यह बात रघुनाथजी के दिल मे शत-प्रतिशत जम गई। उन्होने अब विरक्तदशा मे प्रवेश कर लिया।

अपनी वाग्दत्ता भावी पत्नी के प्यार का तथा ससार के सारे परिग्रह का परित्याग कर वे आचार्य श्री भूधरजी महाराज के श्री चरणो मे पहुच कर सयमी हो गए। उनकी भावी पत्नी श्रीमती रत्नकुवर बाई ने भी अपने पतिदेव के पद चिन्हो का अनुसरण कर साध्वी जीवन मे प्रवेश कर लिया।

सयमी जीवन मे प्रवेश करने के बाद श्री रघुनाथ मुनिजी ने अन्य-अन्य सुसाधनो के साथ-साथ तपस्या की साधना भी प्रारभ कर दी।

तप साधना मे श्री रघुनाथजी मुनि को अपूर्व आध्यात्मिक आनद मिलता था। अतीव उल्लास व उत्साह के साथ उनकी यह साधना चलती थी। उनकी इस साधना मे क्रमश प्रगति होती जा रही थी।



एक दिन उनकी इस सुसाधना ने उन्हे आचार्य-पद पर भी प्रतिष्ठित कर दिया।

उग्र तप साधना

आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज एक महान उग्र तपस्वी थे। वैराग्य और दृढ सकल्प शक्ति उनकी अजव थी। उनकी साधना का रोमाचक वर्णन श्रीमरुधरकेसरीजी महाराज ने काव्य पक्तियो मे इस प्रकार किया है।

चार विगं टाली चतुर दीक्षा दिन थी जाण।
पाच-पाच लग पारणो, अभिग्रह धार्यो आन॥
× × ×
पाच मास पाली मे कीना मेड़ते चार रसाल।
चार मास उज्जैन पचखिया चार जोधाणे रसाल।
तीन मास इग्यारा आदर्या दोय मास सप्त धार।
मासी तप इकवीस अन्दाता पक्ष पाच ही लार॥

अपने साधनामय ६० वर्ष के जीवन मे लगभग ३ वर्ष से भी कम आहार किया ५७ वर्ष करीव तपस्या मे विताये।

मुनिश्री जेतसीजी, आचार्य श्रीजयमलजी व मुनि श्रीकुसलोजी आचार्य श्रीरघुनाथजी के अनुज गुरु भ्राताओ मे से थे।

तेरापथ सम्प्रदाय के आद्यप्रवर्तक भिक्खु स्वामी आचार्य श्रीरघुनाथ महाराज के ही शिष्य थे।

वर्तमान समय मे आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज की परम्परा मे प्रवर्तक स्वामीजी श्रीमरुधर केसरी मिश्रीमलजी महाराज श्रमण सघ के चमकते सितारे हैं।

रघुनाथ गणाधीश वन्दे नित्य हि भावत।

३ आचार्य श्री जयमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—लाविया-मारवाड-राजस्थान
- **जन्म-दिवस**—वि० स० १७६५ भाद्रपद, शुक्ला त्रयोदशी
- **दीक्षा-दिवस**—वि० स० १७८७ मार्गशीर्ष, कृष्णा द्वितीया (मेडता)
- **स्वर्गवास-दिवस**—विक्रम स० १८५३ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी (नागौर)

गृहीजीवन

राजस्थान की मरुधरा मे लाविया एक शस्य-श्यामला भूमिवाला सुन्दर गाँव है। वही पर जयमलजी महाराज का जन्म हुआ था।

उनके पिता समदडिया मेहता मोहनदासजी, माता महिमा देवीजी और अग्रज भ्राता रिडमल जी थे।

जयमलजी बचपन से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। व्यवहार कुशलता, व्यावसायिक-योग्यता एव उचित-परामर्श देने की क्षमता उनमे प्रारम्भ से ही थी। उनके हृदय मे उदारता थी, बोली मे मधुरिमा थी। निश्छलता उनका प्रमुख गुण था। वे विनोद-प्रिय भी थे और कवित्वशक्ति से सम्पन्न भी थे।

जयमलजी जब बाईस वर्ष के हुए तक उनका विवाह रिया-निवासी सेठ शिवकरणजी की सुपुत्री श्रीमती लक्ष्मीदेवी के साथ हो गया। वर-वधू की सुन्दर जोडी देखते ही बनती थी। विवाह के कुछ दिनो के बाद नव-वधू लक्ष्मी देवी अपने पीहर चली गई थी।

गौना अभी तक उसका हुआ नही था । इस बीच मे जयमलजी एक बार व्यवसाय के लिए मेडता गए थे। जिसदिन वे वहाँ पहुँचे, वह कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी का दिन था।

उस वर्ष मेडता मे आचार्य श्री भूधरजी महाराज का वर्षावास था। कार्तिकशुक्ला चतुर्दशी उतरती-चौमासी कहलाती है। वर्षावास की समाप्ति का समय एकदम निकट आ गया था। इसलिए जैन-जनता अपना कारोबार छोडकर उसीदिन आचार्यश्रीजी के अन्तिम प्रवचन-सदेश को सुनने के लिए अधिकतम सख्या मे स्थानक मे गई हुई थी। बाजार लगभग बद-सा था।

आज बाजार क्यो बद है? यह जानकारी जब जयमलजी को मिली तो वे भी आचार्यश्री भूधरजी महाराज का प्रवचन सुनने के लिए स्थानक मे पहुच गए।

जब जयमलजी प्रवचन सभा मे पहुचे तो आचार्यश्रीजी के मुखारविन्द से ब्रह्मचर्य के प्रसग पर सेठ सुदर्शन का जीवन-इतिवृत्त चल रहा था।

आचार्य श्री जी के कहने का ढग अपना निराला था। और उसमे भी सेठ सुदर्शन का प्रभावोत्पादक प्रसग! जनता आचार्यश्रीजी के प्रवचन से मत्र-मुग्ध-सी हो रही थी।

प्रबुद्ध हो उठे

जयमलजी ने अथ से इति तक सेठ सुदर्शन की बात सुनी। उसमे कपिला व अभया के माया-जाल का प्रसग, सर्वत्र सेठ सुदर्शन का अकप व अपने ब्रह्मचर्य व्रत मे सुदृढ रहना, परिस्थिति-वश महाराज दधिवाहन के आदेश पर सेठजी का शूली पर चढना तथा शूली का सिहासन होना आदि घटनाओ का प्रभाव जयमलजी के कोमल हृदय पर इतना पडा कि वे उसी समय आजीवन ब्रह्मचर्य व्रतधारी बन गए और दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी मे लग गए।

जयमलजी की दीक्षाव्रत ग्रहण करने की बात सुनकर वहाँ उनके पिता मोहनदासजी आए, माता महिमा आई और प्रिय पत्नी लक्ष्मीदेवी भी मेडता पहुच गई।

माता, पिता व प्रिय पत्नी की ओर से जयमलजी को घर पर रोकने के अनेक प्रयास किए गये पर सभी विफल। अन्ततोगत्वा वि० स० १७८७ की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को जयमलजी की दीक्षा मेडता मे आचार्य श्री भूधरजी महाराज की नेसराय मे हो गई। कुछ समय के बाद श्रीमती लक्ष्मी देवी ने भी सयमी जीवन ग्रहण कर लिया।

वज्रसंकल्प

दीक्षा-दिवस से ही मुनिश्री जयमलजी ने एकान्तर तप की साधना प्रारभ कर दी। वह सोलह वर्षो तक निरतर चलती रही। जिस दिन अपने परम पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री भूधरजी महाराज का

४०

स्वर्गवास हुआ उस दिन से तप साधना के स्थान पर लेटकर नीद न लेने की कठोर साधना उन्होंने अपना ली। उनकी यह साधना भी आजीवन चलती रही। पचास वर्षो तक उन्होंने लेटकर नीद नही ली। यह इनकी बहुत बडी भीष्म-प्रतिज्ञा रही। द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी व चतुर्दशी-इन तिथियो मे वे विगय का सेवन नही करते थे।

मुनिश्री जी की वैराग्य-भावना व सयम की साधना कितनी उच्चतम थी, यह आभास उनकी इन प्रतिज्ञाओ से जन-जन को मिल सकता है।

समय पाकर मुनिश्री जयमलजी आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित हो गए। यह पद सघ मे शासन-सचालन का पद है। सघ गत अनेक उलझनो को सुलझाने का पद है। विविध उत्तरदायित्व को सम्भालने का पद है।

इस पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी आचार्यश्री जयमलजी ने अपने इस पद को बराबर निभाया और उन्होंने अपनी साधना मे जीवन भर तक किसी भी प्रकार का अन्तर नही आने दिया।

आचार्य श्री भूधरजी महाराज के अनेक शिष्य थे। यद्यपि वे सभी श्रुत-सपन्न व सयम-सम्पन्न थे परन्तु जो सिद्धि व प्रसिद्धि आचार्य श्री जयमलजी महाराज को मिली वह वस्तुतः अद्वितीय थी।

बीकानेर क्षेत्र मे यतियो का काफी साम्राज्य था। अपनी मत्र-साधना व चामत्कारिक प्रवृत्तियो के कारण वे वहाँ अत्यधिक प्रभावशाली बने हुए थे। जैन-समाज के सदस्य व अधिकारी लोग भी उनके गाए गीत ही गाते थे। आचार्यश्री जयमलजी महाराज जब उस ओर पधारे तो उन्होने अपनी सयम-साधना के बल पर वहाँ स्थानकवासी जैन-जगत् का झडा रोप दिया।

बहुमुखी प्रतिभा

राजस्थान के अनेक छोटे-बडे नरेश व ठाकुरो पर आचार्य श्री जी का बहुमुखी प्रभाव था। अपने उपदेश के अवसर पर तथा उनसे व्यक्तिगत सपर्क जोडकर आचार्यश्री जी ने उन लोगो को शिकार खेलना, मास-भक्षण व मदिरापान आदि के शपथ दिलवाये।

कवित्व-शक्ति के बीज उनमे पहले से ही थे। अपने गृहस्थ जीवन मे भी वे हास्य-व्यग्य रस से परिपूर्ण कविताएँ किया करते थे। सयमी जीवन मे प्रवेश करने के बाद उन्होने अपनी कविताओ को नैतिक-जीवन वैराग्यरस व आगम के अनुकूल आध्यात्मिक पदो की ओर मोड दे दिया।

पूज्य गुरुदेव श्रीमधुकर मुनिजी ने आचार्यश्री जी की रचनाओ का एक सकलन 'जयवाणी' के नामसे प्रकाशित करवाया है। अभी भी उनकी अनेक ऐसी रचनाएँ है, जो अभी तक प्रकाश मे नही आ पाई हैं। आचार्यश्री जी की आचार्य-परपरा व सत-परपरा मे भी अनेक सुप्रसिद्ध कवि हो गए हैं। उनकी भी बिखरी हुई रचनाओ का प्रकाश में लाना अतीव आवश्यक है।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण आचार्यश्री जी ने तेरह वर्षों तक नागौर मे स्थिरवास किया। अन्तिम समय मे आचार्यश्री जी ने सलेखना की तथा एक मास का सथारा किया। अतीत मे—जय-गच्छ मे अनेक सुप्रसिद्ध आचार्य, सयम-सम्पन्न सन्त व सतियाँ हुई हैं।

इस समय इस गच्छ के वयोवृद्ध पूज्य स्वामीजी श्रीरावतमलजी महाराज, उपप्रवर्तक पूज्य स्वामीजी श्रीब्रजलालजी महाराज तथा पडितरत्न स्वामीजी श्री जीतममजी महाराज आदि मुनिराज

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-सघ मे जिन शासन की शोभा वढा रहे है । इस गच्छ की साध्वियो की सख्या लगभग पचास है ।

आचार्यं हिं जय वदे-जगत्‌रत्न महत्तमम् ।

४ स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—सिहू गाँव (नागौर राजस्थान)
- **जन्म-दिवस**—वि स० १९३६, अक्षय तृतीया
- **दीक्षा-दिवस**—वि० स२ १९४४ अक्षय तृतीया (नागौर)
- **स्वर्गवास-दिवस**—वि० स० १९८६ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी (भवाल)

यह भारत-भूमि अवतारो की जन्मभूमि, वीरो की कर्मभूमि, साधको की साधना-भूमि और दार्शनिको की चिन्तन-भूमि रही है ।

इस भूमि मे अनेक अनेक समाज-रत्न और सन्त-रत्न उत्पन्न हुए हैं ।

इन महापुरुषो ने विश्वभर मे सात्विक स्नेह की सुनिर्मल सरस सरिता वहाई, अपने तप पूत जीवन से जन-मानस को जागृत किया और अपने सदाचरणो से सर्वत्र सद्‌गुणो की सौरभ फैलाई । ऐसे जिन नर-रत्नो के नाम स्वर्णाक्षरो मे अकित है, उनमे एक नाम मेरे पूज्य दादागुरु स्वामीजी श्रीजोरावर-मलजी महाराज का भी है—इनका जीवन-इतिवृत्त इस प्रकार है —

बचपन मे वैराग्य

मेडता के पास गोटन स्टेशन के अति-निकट एक लघुतम ग्राम है, 'सिहू' । वहाँ इस समय तो सिर्फ प्रमुख वस्ती है चारणो की, परन्तु पहले वहा ओसवाल जाति की भी काफी अच्छी बस्ती थी ।

इस 'सिहू' गाँव मे स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी महाराज का जन्म हुआ था । श्रीरिद्धकरणजी वोथरा उनके पिताजी थे और मगनकु वर बाई उनकी माताजी थी ।

स्वामीजी के बचपन मे ही उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया था । उसके बाद शीघ्र ही उन्होने तथा उनकी माताजी ने सयम ग्रहण कर लिया ।

वालक जोरावर तथा उनकी माताजी की दीक्षा वडी कठिनाइयो के बीच हुई थी । अनेक परीषहो को सहन करने के पश्चात् दोनो माता और पुत्र दीक्षित हो सके ये ।

दोनो की दीक्षा का घटनाचक्र यह है कि एक वार मेरी दादागुरुणीजी चोथाजी महाराज अपनी शिष्या-मडली के साथ 'सिहु' पधारी थी । सतीजी श्रीचोथाँजी अपने समय की एक सुप्रसिद्ध ख्याति-प्राप्त साध्वीरत्न थी । सतीजी के प्रतिभा-पूर्ण प्रवचनो का प्रभाव मगनकु वर बाई पर ऐसा पडा कि उनके हृदय मे वैराग्य की भावना जागृत हो गई ।

जब सतीजी श्री चोथाजी ने 'सिहू' से प्रस्थान किया तो मगनकु वरवाई भी अपने पुत्र जोरावर को लेकर सतीजी के साथ सिहू से रवाना हो गई ।

जब सतीजी पारसनाथजी की फलोदी (मेडतारोड) पहुची तो मगनकु वरबाई ने अपना निर्णय सतीजी के सामने रख दिया और स्वय ने श्वेतवस्त्र धारण कर लिए।

मगनकु वरबाई ने अपने ससुराल भी यह सूचना भेज दी कि "मुझे व जोरावर को दीक्षा लेना है अतः आप हमारे लिए अनुमति भेज दीजिए, जिससे इस दीक्षा व्रत को सुलभता के साथ ग्रहण कर सकें।"

इस सूचना के पाते ही बाईजी के जेठजी मेडतारोड पहुचे और क्रोध मे आग-बबूला होकर उन्होने श्वेतवस्त्रधारिणी मगनाजी को लट्ठियो से पीटना प्रारम्भ कर दिया।

लगभग बीसबार लट्ठियो का प्रहार जेठजी ने मगनाजी पर कर दिया। इतना होने पर भी मगनाजी अपने विचारो मे विचलित नही हुई। अकपभाव से मगनाजी ने अपने जेठजी से कहा कि आपकी ओर से बीस बार लट्ठियो का प्रहार हो गया है। अब इक्कीसवाँ प्रहार आपके ऊपर मेरा रहेगा—अर्थात् मुझे अवश्यमेव सयम ग्रहण करना है।

मगनाजी की यह बात सुनकर उनके जेठ के मुख से यह बात फूट पड़ी कि "तुम खुशी से दीक्षा ग्रहण कर सकती हो पर जोरावर को मेरे साथ भेज दो।"

अपने जेठ के मुख से इतना सुनते ही मगनादेवी ने कहा कि बस हो गया मेरा कार्य सिद्ध। आपने मुझे तो दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर ही दी और जोरावर पर तो एकमात्र मेरा ही स्वाधिकार है, अत मैं स्वय आज्ञा देकर उसे दीक्षित कर दू गी।

इस प्रकार मगनकु वरबाई स्वय ने तो भागवती दीक्षा ग्रहण की ही साथ मे अपने प्रिय पुत्र जोरावर को दीक्षा दिलवाकर श्रमणसघ को एक अमूल्य रत्न भेंट किया।

वि० स० १९३६ की अक्षय तृतीया स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी महाराज का जन्म दिवस था और वि० स० १९४४ की अक्षय तृतीया उनका दीक्षा-दिवस था।

नागौर उनकी दीक्षाभूमि थी। स्वामीजी उस समय के सुप्रसिद्ध वैयाकरण और चर्चावादी सन्त परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीफकीरचन्दजी महाराज के शिष्य-रत्न बने।

स्वामीजी श्री फकीरचन्दजी महाराज के सोलह शिष्य थे, उनमे स्वामीजी उनके सबसे छोटे शिष्य थे।

योग्य गुरु योग्य शिष्य :

बचपन से ही स्वामीजी मे सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। अत उनका अध्ययन अतीव उच्चतम रहा। योग्यतम गुरुदेव की सेवा मे रहकर शिष्य योग्यतम बनें—इसमे अतिशयोक्ति क्या ?

स्वामीजी ने सस्कृत, प्राकृत, आगम, चूर्णी, टीका, भाष्य, काव्य, छद शास्त्र व ज्योतिष आदि का गम्भीर अध्ययन किया। अपने समय मे वे आगमो के एक तलस्पर्शी विज्ञाता, विचक्षण विद्वान् माने जाते थे। वे उग्रक्रियावादी नही थे तो कोरे ज्ञानवादी भी नही थे। उनमे ज्ञान-क्रिया का सुन्दरतम सगम था।

स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज "यथानाम तथागुण" इस उक्ति के अनुसार सचमुच जोरावर थे। उनके चेहरे पर चमकता हुआ ओज था। किसी भी व्यक्ति की हिम्मत एकदम उनके सामने बोलने की नही होती थी।

यद्यपि उनका विचरण राजस्थान मे ही हुआ था फिर भी उनका वर्चस्व जैन व जैनेतर समाज मे सर्वत्र छाया हुआ था ।

स्वामीजी सही वात को ही पकडते थे, पर उनकी पकड वहुत सुदृढ होती थी । आगम के आधार पर तर्क की कसौटी पर कसकर वे विरोधियो को ऐसा करारा जवाव देते की विरोधी व्यक्ति स्वयमेव उपशान्त हो जाते ।

सुधारवादी सत :

स्वामीजी सुधारवादी भी थे । अनेक स्थानो पर उन्होने परम्परा से प्रचलित अनेक कुप्रथाओ का निवारण किया । वारात मे रात्रि-भोजन, ढोल पर कुलीन औरतो का नाचना विवाह शादियो मे औरतो का गदे गीत गाना आदि कुप्रथाएँ स्वामीजी को वहुत अखरती थी ।

अछूत जाति के प्रति भी स्वामीजी की वडी हमदर्दी थी । हरिजनो को उच्छिष्ट भोजन देने का भी वे सख्त विरोध करते थे ।

साधु-समाज मे क्रिया की ढिलाई स्वामीजी को विलकुल नही सुहाती थी । चाहे अपनी सम्प्रदाय के ही साधु क्यो न हो, जिनमे वे क्रिया की ढिलाई देखते तो उन से वे अपना सम्पर्क कभी नही रखते थे । इस वात को लेकर स्वामीजी साधु-समाज मे कुछ कठोर प्रकृतिवाले भी माने जाते थे ।

स्वामीजी मे एक खास विशेषता यह थी कि यदि साधु समाज की गलत प्रवृत्तियो को देखकर श्रावक समाज मे उन साधुओ के प्रति अश्रद्धा का वातावरण वन जाता तो वे समाज मे पुन उनकी जाजम जमाने मे भी कभी नही चूकते थे ।

स्वामीजी के तीन शिष्य हुए स्वर्गीय स्वामी जी श्री हजारीमलजी महाराज, वर्तमान मे विराजित पूज्यगुरुदेव उपप्रर्वतक स्वामीजी श्री व्रजलालजी महाराज व पण्डित रत्न श्री मधुकर मुनिजी महाराज ।

स्वामीजी का ४२ वर्ष का सयमी जीवन रहा । अन्त मे उन्होंने भवाल मे समाधिमरण प्राप्त किया ।

श्री 'जोरावर' सन्मुनि गुरुवर वन्दे सदा भावत ।

५ स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज

- **जन्म-स्थान**—डासरियाँ (टाटगढ—मेरवाडा)
- **जन्म-दिवस**—वि० स० १९४३ वसत पचमी
- **दीक्षा-दिवस**—वि० स० १९५४ ज्येष्ठ कृष्णादशमी (नागौर)
- **स्वर्गवास-दिवस**—वि० स० २०१८ चैत्रकृष्णा दशमी (नोखा चादावतो का)

जीवन का पथ अथ से इति तक अनेक कठिनाइयो से परिपूर्ण है । उस पथ पर वढनेवाले पथिक को पद-पद पर विघ्न मिलते रहते हैं । वहाँ परस्पर विरोधी शक्तियो मे प्रतिपल प्रतियोगिता होती रहती है । इसी का नाम है—जीवन-सग्राम ।

ससार का एक भी मार्ग निरापद नही है। उसमे भी साधना का मार्ग तो और भी कटकाकीर्ण है। इस पथ पर तो सयमी पुरुष ही साहस का सवल लेकर वढ सकता है। इसलिए इस विकट पथ के पथिक को वाधाओ की परवाह न करके पूरी साज-सज्जा के साथ इस पथ पर वढते रहना चाहिए।

जो सच्चा साधक होता है, उसे यद्यपि पद-पद पर चोट खानी पडती है फिर भी वह एक सैनिक की तरह जीवन सग्राम मे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वढता ही रहता है। ऐसे ही मानव इस वीहड पथ को पार कर अपने लक्ष्य की सिद्धि कर लेते हैं।

अपनी मजिल को प्राप्त करनेवाले ऐसे महामानवो मे एक नाम पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज का भी है। जिनके कदम ग्यारह वर्ष की अल्पवय से लेकर पचहत्तर वर्ष की उम्र तक साधना के विकट पथ-पर निरतर अकपभाव से वढते ही रहे। उनके कदम न तो कही अटके और न कही भटके ही।

राजस्थान के मेरवाडा प्रान्त का एक शहर है 'टाटगढ'। उसके पास एक छोटा सा गाँव है 'डासरियाँ' इसी गाव मे वि० स० १९४३ की वसत पचमी को पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज का जन्म हुआ था।

श्रीयुत मोतीलालजी मुणोत पूज्य गुरुदेव के पूज्य पिताजी थे। महिमामयी नदूबाई के वे अगज थे।

जिस प्रकार स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज की पूजनीय माताजी मगनकुवरवाई पर सतीजी श्री चोथाजी महाराज के प्रतिभा पूर्ण प्रवचनो का प्रभाव पडा था इसी प्रकार नन्दूवाई के मानस पट पर भी इन्ही सतीजी श्री चोथाजी महाराज के प्रवचनो का भी वैसा ही प्रभाव पड़ा।

सतीजी के उपदेशो से प्रभावित नदूवाई का हृदय भी वैराग्य की ओर वढ गया। उनकी भावना भी यही वनी कि मैं भी सयम ग्रहण करू और अपने प्रिय पुत्र 'हजारी' को भी दीक्षित करूँ।

आखिर एक दिन नदूवाई ने अपने प्रिय पुत्र हजारी को स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज के चरणो मे समर्पित कर दिया।

पूज्यगुरुदेव की दीक्षा 'नागौर' मे हुई। वि० स० १९५४ की ज्येष्ठ कृष्णा दशमी पूज्य गुरुदेव का दीक्षा दिवस है।

अन्तरग जीवन

पूज्य गुरुदेव का हृदय अतीव कोमल था—दयार्द्र था। किसी भी व्यक्ति के दुखदर्द को देखकर वे स्वय विकम्पित हो जाते थे और उसके दुख-दर्द को दूर करने का इरादा भी उनका रहता था।

पूज्य गुरुदेव का अन्तस्तल वच्चो जैसा निश्छल था। वे जैसे अन्दर थे वैसे ही वे वाहिर भी थे।

अपनी सम्प्रदाय के वे प्रवर्तक पद पर भी लम्बे समय तक रहे और वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ मे मरुधरा प्रान्त के मन्त्री पद पर भी रहे, पर उनके हृदय को कभी भी इस पद के अभिमान ने स्पर्श नही किया।

पूजीपतियो के सम्पर्क मे वे प्राय दूर रहते थे। दीन-हीन जनता के प्रति उनका हृदय सदा स्नेहिल रहता था।

पूज्य गुरुदेव विनोदप्रिय भी थे । वे बच्चो मे बच्चे, युवको मे युवक और बूढो मे बूढे बनकर भी रहना जानते थे ।

पूज्य गुरुदेव की वाणी मे बडी मधुरता थी । उनका सगीत जन-जन को बहुत प्रिय लगता था ।

पूज्य गुरुदेव की सयम-निष्ठा भी बडी सजग थी ।

उपप्रवर्तक स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज व पडितरत्नश्री मिश्रीमलजी महाराज मधुकर' पूज्य गुरु देव के योग्यतम गुरु-भ्राता है, जिनका अभिनन्दन समारोह ब्यावर मे मनाया जा रहा है ।

पूज्य गुरुदेव के दो शिष्य हुए । प्रथम शिष्य मेरे पूज्य पिताजी मागीलालजी और द्वितीय शिष्य श्री मोहनमुनिजी ।

वि० स० २०१८ की चैत्र कृष्णा दशमी पूज्य गुरुदेव का स्वर्गवास दिवस है । चादावतो के नोखे मे उनका स्वर्गवास हुआ ।

जयतु जयतु लोके श्री हजारी गुरु स ।



मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ

विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा
साधु धरती के जंगम कल्पवृक्ष हैं।



मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ

MUNI DWAY ABHINANDAN GRANTH

मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ



❀ देवता बान्धवा सन्तः ❀
संत - सबसे बड़े देवता व जगद् बंधु हैं